संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ९

आचार्य पद्मनन्दि विरचित

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका

अनुवादक

पं० गजाधरलाल जैन

सम्पादक

पं० जवाहरलाल शास्त्री, भीण्डर

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका

कृतिकार	:	आचार्य पद्मनन्दि
अनुवादक	:	पं॰ गजाधरलाल जैन
सम्पादक	:	पं॰ जवाहरलाल शास्त्री, भीण्डर
संस्करण	:	२८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति	:	११००
वेबसाइट	:	www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम

लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य पद्मनन्दि विरचित पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ २५ विशेष विषयों पर बहुत ही सरल विधि से विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत में भी स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं। श्रावकों के लिए इस एक ग्रन्थ में ही जीवनोपयोगी सभी विषय मिल जाते हैं इसलिए इस ग्रन्थ के पठन-पाठन में प्रत्येक श्रावक की अभिरुचि बढ़े तथा यह ग्रन्थ प्रत्येक घर में अवश्य पढ़ा जाये, चाहे इसे विवाहोत्सव, विवाह वर्षगाँठ, जन्मदिवस आदि में ही क्यों न वितरित करना पड़े, इसलिए इस ग्रन्थ को संयम स्वर्ण महोत्सव में प्रकाशित किया जा रहा है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक संस्था, अनुवादक, सम्पादक का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आचार्य पद्मनन्दि और पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका

आचार्य पद्मनन्दि, पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका के रचयिता हैं। इन्होंने अपने गुरु वीरनन्दि को नमस्कार किया है। अतः 'जंबूदीवपण्णत्ति' के कर्ता से ये भिन्न हैं, क्योंकि जंबूदीवपण्णत्ति के कर्ता के गुरु का नाम बलनन्दि और प्रगुरु का नाम वीरनन्दि है। अतएव इन दोनों का ऐक्य संभव नहीं है। पर यह निश्चित है कि ये पद्मनन्दि वि॰ सं॰ की १० वीं शती के पश्चात् हुए हैं, क्योंकि अमृतचन्द्राचार्य का प्रभाव 'निश्चयपञ्चाशत्' प्रकरण की अनेक गाथाओं पर दिखलाई पड़ता है। अतः इनकी पूर्वावधि ई॰ सन् दशम शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। जयसेनाचार्य ने अपनी पंचास्तिकायटीका में एकत्वसप्तति-प्रकरण का निम्नलिखित पद्य पृ॰ २३५ पर उद्धृत किया है–

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चरितमिति योगः शिवाश्रयः[१]**॥**

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी यही पद्य नियमसार की टीका पृ॰ ४७ पर उद्धृत किया है। अतः यह स्पष्ट है कि पञ्चविंशतिका के कर्ता पद्मनन्दि जयसेनाचार्य और नियमसार टीका के कर्ता पद्मप्रभमलधारिदेव के पूर्ववर्ती हैं। जयसेनाचार्य का समय डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये के मतानुसार ई॰ सन् की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। अतः यह पद्मनन्दि के समय की उत्तर सीमा मानी जा सकती है।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी नियमसारटीका के आरम्भ में अपने गुरु वीरनन्दि को नमस्कार किया है। श्री प्रेमीजी ने इस पर से अनुमान लगाया है कि पद्मप्रभ और पद्मनन्दि एक ही गुरु के शिष्य रहे होंगे तथा एक अभिलेख के आधार पर पद्मप्रभ और उनके गुरु वीरनन्दि को वि॰सं॰ १२४२ में विद्यमान बतलाया[२] है। पर पद्मप्रभ से पूर्व जयसेनाचार्य ने पद्मनन्दि की एकत्वसप्तती से पद्य उद्धृत किया है और पद्मप्रभ ने जयसेन की टीकाओं का अवलोकन किया था। यह उनकी टीकाओं के अध्ययन से स्पष्ट है। अतः पद्मनन्दि और पद्मप्रभ के मध्य में जयसेनाचार्य हुए हैं, यह निश्चित है।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका की प्रस्तावना में बताया गया है कि पद्मनन्दि पर गुणभद्राचार्य के आत्मानुशासन का प्रभाव है। तुलना के लिए एक पद्य दिया जाता है, जिसमें आचार्य गुणभद्र ने मनुष्य पर्याय का स्वरूप दिखलाते हुए उसे ही तप का साधन कहा है–

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्प परमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम्[३]**॥**

अर्थात् दुर्लभ, अशुद्ध, अपसुख, अविदित मृति-समय और अल्प परमायु ये पाँच विशेषण मनुष्य पर्याय के लिए दिये गये हैं। इसी अभिप्राय को सूचित करने वाला 'पञ्चविंशतिका' का

---

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, ४/१४, २. जैन साहित्य और इतिहास, पृ॰ ४०७, ३. आत्मानुशासन, पद्य १११

निम्नलिखित पद्य है–

दुष्प्रापं बहुदुःखराशिरशुचिस्तोकायुरल्पज्ञता-
ज्ञातप्रान्तदिनं जराहतमतिः प्रायो नरत्वं भवे।
अस्मिन्नेव तपस्ततः शिवपदं तत्रैव साक्षात्सुखं
सौख्यार्थीति विचिन्त्य चेतसि तपः कुर्यान्नरो निर्मलम्[1]॥

अर्थात् दुष्प्राप, अशुचि, बहुदुःखराशि, अल्पज्ञताज्ञात, प्रान्तदिन और स्तोकायु मनुष्यपर्याय में है। अतएव शाश्वतसुख–मुक्ति की प्राप्ति के लिए तप करना आवश्यक है और यह तप मनुष्य पर्याय में ही सम्भव है।

इस पद्य के अतिरिक्त पद्मनन्दि–पञ्चविंशति के ९/१८, १/४९, १/७६, १/११८, ३/४४ और ३/ ५१ क्रमशः आत्मानुशासन के पद्य २३९, २४०, १२५, १५, १३०, ३४ और ७९ पद्यों से प्रभावित हैं। अतएव 'पञ्चविंशति' के रचयिता वि० की १०वीं शती के पूर्व नहीं हो सकते।

पद्मनन्दि–पंञ्चविंशति पर सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलक' का भी प्रभाव पाया जाता है। पद्मनन्दि का श्लोक निम्न प्रकार है–

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छति।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्रमातः कृतचित्तचेष्टिता[2]॥

ठीक इससे मिलता–जुलता यह 'यशस्तिलक' का भी श्लोक है–

एकं पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम्।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैष दीपः[3]॥

उक्त दोनों पद्यों में सरस्वती की स्तुति की गयी है। स्तुति करने की एक ही प्रणाली है। इसी प्रकार चतुर्विध दान के फल सूचक पद्य भी समानरूप में उपलब्ध होते हैं। पद्मनन्दि–पञ्चवंशतिका में गृहस्थ के षडावश्यकों का निर्देश 'देवपूजागुरुपास्ती' (६/ ७) आदि रूप में किया गया है। यह श्लोक यशस्तिलक (उत्तरार्द्ध पृ० ४१४) में प्राप्त होता है। यशस्तिलक में पूजा के स्थान पर सेवापाठ प्राप्त होता है। पद्मनन्दि–पञ्चविंशति (२/१०) में मुनि के लिए शाकपिण्ड मात्र के दाता को अनन्तपुण्यभाग बतलाया है। यही भाव यशस्तिलक (उत्तरार्द्ध पृ० ४०८) में व्यक्त किया है। इसी प्रकार आत्मसिद्धि के लिए 'भूतानन्वयनात्' पद्य का आशय भी दोनों ग्रन्थों में तुल्य हैं। इससे यह निश्चय होता है कि पद्मनन्दि ने अपनी इस कृति में यशस्तिलक के उपासकाध्ययन का पर्याप्त उपयोग किया है। यशस्तिलक का समाप्तिकाल शक संवत् ८८१ (ई० ९५९) है। अतएव आचार्य पद्मनन्दि द्वितीय का

---

१. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका, पद्य १२/२१, २. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका, श्लोक १५/१३, ३. यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्द्ध, पृ० ४०१

समय ई० सन् ९५९ के बाद होना चाहिये। यह निश्चय है कि पद्मनन्दि पर अमृतचन्द्रसूरि और अमितगति इन दोनों का पूर्ण प्रभाव है। पद्मनन्दि ने 'निश्चयपञ्चाशत' प्रकरण में व्यवहार और शुद्ध नयों की उपयोगिता को दिखलाते हुए शुद्धनय के आश्रय से आत्मतत्त्व के वर्णन करने की इच्छा प्रकट की है–

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रितं किंचित्[१]॥

पद्मनन्दि ने व्यवहार को अबोधजनों को प्रतिबोधित करने का साधन मात्र बतलाया है। इसका आधार अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का निम्नलिखित पद्य है–

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति[२]॥

अमृतचन्द्र के शब्द और अर्थ का प्रभाव उपर्युक्त पद्य पर है। अमृतचन्द्रसूरि का समय वि० सं० ११वीं शती है। अतएव पद्मनन्दि का समय इसके पश्चात् ही होना चाहिए।

पद्मनन्दि की पञ्चविंशति पर अमितगति के श्रावकाचार का भी प्रभाव है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं–

विनयश्च यथाथोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति।
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते[३]॥

श्रावकों को जिनागम के आश्रित होकर अर्हदादि पञ्चपरमेष्ठियों, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा इन सम्यग्दर्शनादि को धारण करने वाले जीवों की भी यथायोग्य विनय करनी चाहिए। उस विनय के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप आदि की सिद्धि होती है, अतएव इसे मोक्ष का द्वार कहा गया है।

यही भाव अमितगति-श्रावकाचार में निम्न पद्यों में व्यक्त किया गया है–

संघे चतुर्विधे भक्त्या रत्नत्रयविराजिते।
विधातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदैः॥
सम्यग्दर्शन-चारित्र-तपोज्ञानानि देहिना।
अपाप्यन्ते विनीतेन यशांसीव विपश्चिता॥[४]

---

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, श्लोक ११/८, २. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य ६, ३. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ६/२९-३०
४. अमितगति-श्रवकाचार १३/४४, ४८।

पद्मनन्दि ने अमितगति-श्रावकाचार के चतुर्थ परिच्छेद के कई पद्यों का अनुसरण किया है। अमितगति के 'द्वात्रिंशतिका' के निम्नलिखित पद्य का प्रभाव भी पद्मनन्दि पर प्रतीत होता है।

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः
प्रमादतः संचारता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता
स्तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥[१]

पद्मनन्दि ने लिखा है-हे जिन! प्रमाद या अभिमान से जो मैंने मन, वचन एवं शरीर द्वारा प्राणियों का पीड़न स्वयं किया है, दूसरों से कराया है अथवा प्राणिपीड़न करते हुए जीव को देखकर हर्ष प्रकट किया है, उसके आश्रय से होने वाला मेरा पाप मिथ्या हो। यथा-

मनोवचोऽङ्गैः कृतमङ्गिपीडनं प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम[२]**॥**

अतएव अमितगति से उत्तरवर्ती होने के कारण पद्मनन्दि द्वितीय का समय ई॰ सन् की ११ वीं शती है, यतः अमितगति ने वि॰ सं॰ १०७३ में अपना पञ्चसंग्रह रचा है।

रचना का परिचय

'पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका' अत्यन्त लोकप्रिय रचना रही है। इस पर किसी अज्ञात विद्वान् की संस्कृत-टीका है। 'एकत्वसप्तति' प्रकरण पर कन्नड़-टीका भी प्राप्त होती है। कन्नड़-टीकाकार का नाम भी पद्मनन्दि है। इनके नाम के साथ पण्डितदेव, व्रती एवं मुनि उपाधियाँ पायी जातीं हैं। ये शुभचन्द्र राद्धान्तदेव के अग्रशिष्य थे और इनके विद्यागुरु कनकनन्दी पण्डित थे, इन्होंने अमृतचन्द्र की वचनचन्द्रिका से आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त किया था और निम्बराज के सम्बोधनार्थ एकत्व-सप्ततिवृत्ति की रचना की थी। निम्बराज शिलाहारवंशीय गण्डरादित्यनरेश के सामन्त थे, इन्होंने कोल्हापुर में अपने अधिपति के नाम से 'रूपनारायणवसदि' नामक जैनमन्दिर का निर्माण कराया था तथा कार्तिक कृष्णा ५ शक संवत् १०५८ (वि॰ सं॰ ११९३) में कोल्हापुर और मिरज के आस-पास के ग्रामों की आय का भी दान दिया था। अतः मूलग्रन्थकार और टीकाकार के नाम में साम्य होने से तथा दीक्षा और शिक्षा गुरुओं के नाम भी एक होने से उनमें अभिन्नत्व की कल्पना की जा सकती है।

इस रचना में २६ विषय हैं-१. धर्मोपदेशामृत, २. दानोपदेशन, ३. अनित्यपञ्चाशत, ४. एकत्वसप्तति, ५. यतिभावनाष्टक, ६. उपासकसंस्कार, ७. देशव्रतोद्योतन, ८ सिद्धस्तुति, ९. आलोचना, १०. सद्बोधचन्द्रोदय, ११. निश्चयपञ्चाशत, १२. ब्रह्मचर्यरक्षावति, १३. ऋषभस्तोत्र, १४.

---

१. भावनाद्वात्रिंशतिका, पद्य ५, २. पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका २१/११

जिनदर्शनस्तवन, १५. श्रुतदेवतास्तुति, १६. स्वयंभूस्तुति, १७. सुप्रभाताष्टक, १८, शान्तिनाथस्तोत्र, १९. जिनपूजाष्टक, २०. करुणाष्टक, २१. क्रियाकाण्डचूलिका, २२. एकत्वभावनादशक, २३. परमार्थविंशति, २४. शरीराष्टक, २५, स्नानाष्टक, २६. ब्रह्मचर्याष्टक।

१. धर्मोपदेशामृत—इस अधिकार में १९८ पद्य हैं। धर्मोपदेश का अधिकारी सर्वज्ञ और वीतरागी ही हो सकता है। इस जगत् में असत्य भाषण के दो ही कारण हैं–१. अज्ञानता और २. कषाय। परलोकयात्रा के लिए धर्म ही पाथेय है, पाथेय से यह यात्रा सकुशल सम्पन्न होती है। धर्म का स्वरूप व्यवहार और निश्चयनय दोनों ही दृष्टियों से बतलाया गया है। व्यवहार की दृष्टि से जीवदया, अशरण को शरण देना और सहानुभूति रखना धर्म है। गृहस्थ और मुनिधर्म की अपेक्षा धर्म के दो भेद, रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की अपेक्षा तीन भेद और उत्तम क्षमा, मार्दव आदि की अपेक्षा दस भेद धर्म के बतलाये हैं। यह सब धर्म व्यवहारोपयोगी है और इसे शुभोपयोग के नाम से अभिहित किया गया है। यह जीव को नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों से छुड़ाकर मनुष्य और देवगति का सुख प्रदान करता है। निश्चयधर्म जीव को चतुर्गति के दुःखों से छुड़ाकर उसे अजर-अमर बना देता है और जीव शाश्वत-निर्बाध सुख का अनुभव करता है। निश्चय धर्म को शुद्धोपयोग के नाम से पुकारते हैं।

बताया है कि प्राणी सांसारिक सुख को–अभीष्ट, विषयोपभोगजनित, क्षणिक और सबाध इन्द्रियतृप्ति को ही अन्तिम सुख मानकर व्यवहार धर्म को उसी का साधन समझते हैं और यथार्थ धर्म से विमुख रहते हैं। अतः निश्चय-अध्यात्म धर्म का सेवन करना आवश्यक है, इसी से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

गृहस्थ और मुनिधर्म में अधिक श्रेष्ठ मुनिधर्म है, क्योंकि मोक्षमार्गी–रत्नत्रय के धारक साधु ही होते हैं। साधु की स्थिति गृहस्थों द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये भोजन के आश्रित होती है, अतएव गृहस्थधर्म की भी आवश्यकता है। जो धर्मवत्सल गृहस्थ अपने षट् आवश्यकों का पालन करता हुआ मुनिधर्म को स्थिर रखते हुए मुनियों को निरन्तर आहारादि दिया करता है उसी का गृहस्थ-जीवन प्रशंसनीय है।

श्रावकधर्म की दर्शन, व्रत आदि एकादश प्रतिमाओं का भी वर्णन किया गया है। श्रावक को द्यूतक्रीड़ा, मांसादिभक्षणरूप सप्तव्यसन का त्याग करना आवश्यक है। आचार्य ने द्यूतादि व्यसनों का सेवन कर कष्ट उठाने वाले युधिष्ठिर आदि का उदाहरण भी दिया है। हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रहरूप पापों का त्याग गृहस्थ एकदेश करता है और मुनि सर्वदेश, अतः मुनि का आचरण सकलचरित्र और गृहस्थ का आचरण देशचरित्र कहलाता है। सकलचारित्र को धारण करने वाले मुनि को रत्नत्रय, मूलगुण, उत्तरगुण, पाँच आचार और दस धर्मों को धारण करना चाहिए। मुनि के अट्ठाइस

मूलगुणों में पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियों का निरोध, समता आदि षडावश्यक, केशलुञ्च, वस्त्रपरित्याग, स्नानपरित्याग, भूमिशयन, दन्तघर्षण का त्याग, स्थितिभोजन और एकभक्त की गणना की गयी है। इन २८ मूलगुणों में पद्मनन्दि ने अचेलकत्व, लोंच, स्थितिभोजन और समता का ही मुख्यता से वर्णन किया है। दिगम्बरत्व की सिद्धि अनेक प्रमाणों द्वारा की गयी है।

साधुजीवन के वर्णन के पश्चात् आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठियों का स्वरूप प्रतिपादित किया है। व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप अंकित करने के साथ निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है–आत्मा नामक निर्मल ज्योति के निर्णय का नाम सम्यग्दर्शन, तद्विषयक बोध का नाम सम्यग्ज्ञान और उसी में स्थित होने का नाम सम्यक्चारित्र है।

यह निश्चयरत्नत्रय ही कर्मबन्ध को नष्ट करने वाला है। उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दस धर्मों का सेवन संवर का कारण है।

संसार के समस्त प्राणी दुःख से भयभीत होकर सुख चाहते हैं और निरन्तर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। पर सभी को सुख का लाभ हो नहीं पाता। इसका कारण उनका सुख–दुःख विषयक विवेक है। उन्हें सातावेदनीय के उदय से क्षणिक सुख का आभास होता है, उसे वे यथार्थ सुख मान लेते हैं, जो वस्तुतः स्थायी यथार्थ सुख नहीं है, यतः जिस इष्ट सामग्री के संयोग में सुख की कल्पना करते हैं, वह संयोग ही स्थायी नहीं है। अतः जब अभीष्ट सामग्री का वियोग हो जाता है तो सन्ताप उत्पन्न होता है। वास्तविक सुख आकुलता के अभाव में है, जो मोक्ष में ही उपलब्ध होता है।

इसके पश्चात् विभिन्न दार्शनिकों द्वारा मान्य आत्मस्वरूप की मीमांसा की गयी है। बताया है–

नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो
नैको न क्षणिको न विश्वविततो नित्यो न चैकान्ततः।
आत्मा कायमितश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं
संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकक्षणे॥[1]

यह आत्मा एकान्तरूप से न तो शून्य है, न जड़ है, न पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न हुआ है, न कर्ता है, न एक है, न क्षणिक है, न विश्वव्यापक है और न नित्य है। किन्तु चैतन्यगुण का आश्रयभूत वह आत्मा प्राप्त हुए शरीर के प्रमाण होता हुआ स्वयं ही कर्ता और भोक्ता भी है। यह आत्मा प्रत्येक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है।

तात्पर्य यह है शून्यैकान्तवादी माध्यमिक, मुक्ति अवस्था में बुद्ध्यादि नवविशेषगुणोच्छेदवादी वैशेषिक, भूतचैतन्यवादी चार्वाक, पुरुषाद्वैतवादी वेदान्ती, सर्वथाक्षणिकवादी सौत्रान्तिक एवं

---
१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका १/१३४

सर्वथानित्यवादी सांख्य के सिद्धान्त का निरसन करने के लिए उक्त पद्य कहा गया है। जो व्यक्ति आत्मा, कर्म और संसार की अवस्था का अनुभव कर धर्माचरण करता है, वह धर्माचरण द्वारा शाश्वतिक सुख को प्राप्त कर लेता है।

२. दानोपदेशन अधिकार—इस अधिकार में ५४ पद्य हैं। दान की आवश्यकता और महत्त्व प्रकट करते हुए बतलाया है कि श्रावक गृह में रहता हुआ अपने और अपने आश्रित कुटुम्ब के भरण-पोषण के हेतु धनार्जन करता है, इसमें हिंसादि का प्रयोग होने से पाप का संचय होता है। इस पाप को नष्ट करने का साधन दान ही है। यह दान श्रावक के षट् आवश्यकों में प्रधान है। जिस प्रकार जल वस्त्र में लगे हुए रक्तादि को दूर कर देता है, उसी प्रकार सत्पात्रदान श्रावक के कृषि और वाणिज्य आदि से उत्पन्न पापमल को धोकर उसे निष्पाप कर देता है। दान के प्रभाव से दाता को भविष्य में कई गुनी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। गृहस्थ के लिए पात्रदान ही कल्याण का साधन है, जो दान नहीं देता, वह धन से सम्पन्न होने पर भी रंक के समान है। इस प्रकरण में आचार्य ने उत्तम, मध्यम, जघन्य, कुपात्र और अपात्र के अनुसार दान का फल बतलाया है।

३. अनित्यपञ्चाशत्—इस अधिकार में ५५ पद्य हैं। शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, वैभव आदि की स्वाभाविक अस्थिरता दिखलाकर उनके संयोग और वियोग में हर्ष और विषाद के परित्याग के लिए प्रेरणा की गयी है। आयुकर्म का अन्त होने पर प्राणान्त होना अनिवार्य है, कोई किसी की आयु को एक क्षण भी नहीं बढ़ा सकता है, अतः वस्तु स्थिति का विचार कर हर्ष-विषाद से पृथक् रहने की चेष्टा करनी चाहिए। कुटुम्बी प्राणी उसी प्रकार साथ में रहते हैं, जिस प्रकार रात्रि होने पर पक्षी इधर-उधर से आकर एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं, प्रभात होने पर पुनः अनेक दिशाओं में चले जाते हैं। इसी प्रकार प्राणी अनेक योनियों से आकर विभिन्न कुलों में जन्म ग्रहण करते हैं और पुनः आयु के समाप्त होने पर अन्य कुलों में चले जाते हैं।

४. एकत्वसप्तति—इसमें ८० पद्य हैं। चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को नमस्कार करने के अनन्तर चित्स्वरूप यद्यपि प्रत्येक प्राणी के भीतर अवस्थित है, पर अज्ञानता के कारण अधिकतर प्राणी उसे पहचानते नहीं हैं, अतएव उसे बाह्य पदार्थों में ढूँढ़ते हैं। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में अव्यक्तरूप से व्याप्त है, उसी प्रकार चैतन्य-आत्मा भी अपने भीतर व्याप्त है। राग-द्वेष के अनुसार जिस किसी भी पदार्थ से सम्बन्ध होता है, वह बन्ध का कारण है तथा समस्त बाह्य पदार्थों से भिन्न एकमात्र आत्मस्वरूप में जो अवस्थान होता है, वह मुक्ति का कारण है। बन्ध-मोक्ष, राग-द्वेष, कर्म-आत्मा और शुभ-अशुभ इत्यादि प्रकार से जो द्वैत बुद्धि होती है, उससे संसार में परिभ्रमण होता है और इसके विपरीत अद्वैत एकत्वबुद्धि से जीव मुक्ति के सन्मुख होता है। शुद्ध निश्चय नय के अनुसार एक अखण्डचैतन्य आत्मा की ही प्रतीति होती है, इसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र तथा क्रिया-कारक आदि का कुछ भी भेद प्रतिभासित नहीं होता। "जो शुद्ध चैतन्य है, वही निश्चय से मैं हूँ" की प्रतीति होती है।

परमात्मतत्त्व की उपासना का एकमात्र उपाय साम्य है। स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सभी साम्य के नामान्तर हैं। शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त आकृति, अक्षर, वर्ण एवं अन्य किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं करना ही साम्य है। कर्म और रागादिक को हेय समझकर छोड़ देना और उपयोगस्वरूप परंज्योति को उपादेय समझकर ग्रहण करना साम्यस्थिति है।

५. यतिभावनाष्टक—इस प्रकरण में ९ पद्य हैं। इन पद्यों में उन मुनियों की स्तुति की गयी है, जो पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके विषयभोगों से विरक्त होते हुए नानाप्रकार के तपश्चरण करते हैं तथा सभी प्रकार के उपसर्गों को सहन करते हैं।

६. उपासकसंस्कार—इस अधिकार में १२ पद्य हैं। सर्वप्रथम व्रत और दान के प्रथम प्रवर्तक आदिजिनेन्द्र और राजा श्रेयांस के द्वारा कर्म की स्थिति दिखलाकर उसका स्वरूप बतलाया है। धर्म के मुनिधर्म और श्रावकधर्म भेद बतलाकर श्रावकाचार का निरूपण करते हुए गृहस्थ के देवपूजा, निर्ग्रन्थ गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट् आवश्यकों का कथन किया है। सात व्यसन के त्याग पर जोर देते हुए सामायिक व्रत का स्वरूप प्रतिप्रादित किया है।

७. देशव्रतोद्योतन—इस अधिकार में २७ पद्य हैं। यहाँ सम्यग्दृष्टि को प्रशंस्य बतलाते हुए सम्यग्दर्शन के साथ मनुष्य भव के प्राप्त हो जाने पर तप को ग्रहण करने की प्रेरणा की है। यदि मोह या अशक्ति के कारण दिगम्बरी दीक्षा लेकर तपाचरण करना सम्भव न हो, तो सम्यग्दर्शन के साथ षट्आवश्यक, अष्टमूलगुण और द्वादशगुणों को धारण करना चाहिए। रात्रिभोजनत्याग और छने हुए जल का व्यवहार गृहस्थ को करना चाहिए। श्रावक आरम्भजन्य पाप क्रियाएँ करता है, अतएव उसे आहार, औषध अभय आदि दान कार्यों द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करना चाहिए।

श्रावक के षडावश्यकों में देवदर्शन और देवपूजन प्रथम कर्तव्य है। देवदर्शनादि के बिना, गृहस्थाश्रम को पत्थर की नाव समझना चाहिए। इसके लिए चैत्यालय निर्माण अतिशय पुण्यवर्धक है। अत: चैत्यालय के आधार से ही मुनि और श्रावक दोनों का धर्म अवस्थित रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में सर्वश्रेष्ठ मोक्ष ही है। यदि धर्म पुरुषार्थ मोक्ष के साधनरूप में अनुष्ठित होता है तो वह उपादेय है। इसके विपरीत भोगादिक की अभिलाषा से किया गया धर्मपुरुषार्थ पापरूप है। अत: अणुव्रत या महाव्रत दोनों के पालन करने का उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।

८. सिद्धस्तुति—इस अधिकार में २९ पद्यों में कर्मक्षय करने वाले सिद्धों की स्तुति की गयी है। ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के नाश करने से कौन-कौन गुण उत्पन्न होते हैं, इसका भी कथन आया है।

९. आलोचना—इस अधिकार में ३३ पद्य हैं। जिनेन्द्र के गुणों का वर्णन करते हुए यह बतलाया है कि मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन, इनको परस्पर गुणित करने

पर जो नौ स्थान प्राप्त होते हैं, उनके द्वारा प्राणी के पाप उत्पन्न होता है। इसके लिए प्रभु के समक्ष आत्मनिन्दा करना आलोचना है। अज्ञानता और प्रमादवश होकर जो पाप उत्पन्न हुआ है, उसे निष्कपट भाव से जिनेन्द्र और गुरु के समक्ष प्रकट करना आलोचना है। आलोचना करने से आत्मशुद्धि होती है और लगे हुए पापों से छुटकारा प्राप्त होता है अर्थात् अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। पाप का कारण विकल्प है और संकल्पविकल्प असंख्यात होते हैं, अतः पापास्त्रव भी नाना प्रकार से होता है। अतएव इन समस्त पापों को दूर करने का उपाय है मन और इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों की ओर से हटा कर उनका परमात्मस्वरूप के साथ एकीकरण करना। इसके लिए मन के ऊपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। कारण मन की अवस्था ऐसी है कि वह समस्त परिग्रह को छोड़कर वन का आश्रय ले लेने पर भी बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ता है। अतएव मन को जीतने के लिए उसे परमात्मस्वरूप के चिन्तन में लगाना श्रेयस्कर है। कलिकाल के प्रभाव के कारण जो दुष्कर तपश्चरण नहीं कर सकता है, वह सर्वज्ञ वीतरागी प्रभु की केवल भक्ति करने से ही आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त कर लेता है।

१०. सद्बोधचन्द्रोदयअधिकार—इस अधिकार में ५० पद्य हैं। इस अधिकार में भी चित्स्वरूप परमात्मा की महिमा दिखलाकर यह निर्दिष्ट किया है कि जिसका मन चित्स्वरूप आत्मा में लीन हो जाता है, वह योगी समस्त जीवराशि को आत्मसदृश देखता है। मोहनिद्रा के छोड़ने पर ही प्राणी सद्बोध को प्राप्त करता है।

११. निश्चयपञ्चाशतअधिकार—इस अधिकार में ६२ पद्य हैं। इसमें आत्मतत्त्व का निरूपण किया गया है। समयसार की अनेक गाथाओं का भाव अक्षुण्णरूप में प्राप्त होता है। समयसार की निम्नलिखित गाथाओं का प्रभाव इस प्रकरण के पद्यों पर है। यथा—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥[1]
श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम्।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः॥[2]
ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥[3]
व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्॥[4]

१. समयसार, जीवाजीवाधिकार, गाथा ४, २. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ११/६, ३. समयसार, जीवाजीवाधिकार, गाथा ११, ४. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ११/९

नय दो प्रकार का है–१. शुद्धनय और २. व्यवहारनय। व्यवहारनय द्वारा अज्ञानी व्यक्तियों को प्रबोधित किया जाता है। यह नय यथावस्थित वस्तु को विषय न करने के कारण अभूतार्थ कहलाता है। शुद्ध नय यथावस्थित वस्तु को विषय करने के कारण भूतार्थ कहा गया है और यही कर्मक्षय का हेतु है। वस्तु का यथार्थस्वरूप अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन जो वचनों द्वारा किया जाता है, वह व्यवहार के आश्रय से ही है। मुख्य और उपचार के आश्रय से किया जाने वाला सब विवरण व्यवहार के ऊपर ही आश्रित है। इस दृष्टि से व्यवहार उपादेय माना गया है। आगे शुद्धनय के आधार पर रत्नत्रय का स्वरूप बतलाया गया है। समस्त परिग्रह का त्यागी मुनि भी यदि सम्यग्ज्ञान से रहित है, तो वह स्थावर के तुल्य है। सम्यग्ज्ञान द्वारा ही समस्त वस्तुओं की यथार्थ प्रतीति होती है, जो जीवात्मा अपने को निरन्तर कर्म से बद्ध देखता है, वह कर्मबद्ध ही रहता है, किन्तु जो उसे मुक्त देखता है, वह मुक्त हो जाता है। हे समतारूप अमृत के पान से वृद्धिंगत आनन्द को प्राप्त आत्मन्! तू बाह्यतत्त्व में मत जा, अन्तस्तत्व में जा।

जब तक चेतन्यस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है, तभी तक बुद्धि आगम के अभ्यास में प्रवृत्त होती है, पर जैसे ही उक्त चैतन्यस्वरूप का अनुभव प्राप्त होता है, वैसे ही वह बुद्धि आगम की ओर से विमुख होकर उस चैतन्यस्वरूप में ही रम जाती है। अतएव जीव को शाश्वतिक सुख की प्राप्ति होती है। जिस आत्मज्योति में तीनों काल और तीनों लोकों के सब ही पदार्थ प्रतिभासित होते हैं तथा जिसके प्रकट होने पर समस्त वचनप्रवृत्ति सहसा नष्ट हो जाती है, जो चैतन्यरूप तेज नय, निक्षेप और प्रमाण आदि विकल्पों से रहित, उत्कृष्ट, शान्त एवं शुद्ध अनुभव का विषय है, वही मैं हूँ। इस प्रकार आत्मानुभूति का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है।

१२. ब्रह्मचर्य रक्षावति–इस अधिकार में २२ पद्य हैं। आरम्भ में ब्रह्मचर्य का अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि ब्रह्म का अर्थ विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा है। उस आत्मा में चर्य अर्थात् रमण करना ब्रह्मचर्य है। यह निश्चयब्रह्मचर्य की परिभाषा है। इस प्रकार का ब्रह्मचर्य मुनियों को प्राप्त होता है जो शरीर से निर्ममत्व रखते हैं तथा सभी प्रकार से जितेन्द्रिय होते हैं। ब्रह्मचर्य के विषय में यदि कदाचित् स्वप्न में भी कोई दोष उत्पन्न होता है तो वे रात्रिविभाग के अनुसार आगमोक्त विधि से उसका प्रायश्चित करते हैं। संयमी मन ही इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का आचरण कर सकता है। इस अधिकार में ब्रह्मचर्य पालन की विधि, ब्रह्मचर्य का महत्त्व एवं ब्रह्मचर्य में विघ्न करने वाले कारणों का विवेचन किया है।

१३. ऋषभ-स्तोत्र–इस स्तोत्र में तीर्थंकर ऋषभदेव के इतिवृत्त का निर्देश भी किया है। जब ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर माता मरुदेवी के गर्भ में आने वाले थे, उसके छह महीने पूर्व से ही नाभिराय के घर पर रत्नवृष्टि आरम्भ हो गयी थी। देवों ने आकर मरुदेवी के चरणों में नमस्कार किया। जब भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, तो देवों ने पाण्डुकशिला पर ले जाकर

उनका अभिषेक किया। भोगभूमि का अन्त होकर कर्मभूमि की रचना आरम्भ होने लगी थी। कल्पवृक्ष धीरे-धीरे नष्ट होते जा रहे थे। अतः प्रजाजन भूख से पीड़ित हो ऋषभदेव के पास गये और उन्होंने कृषि आदि कार्यों के करने की शिक्षा दी। ८४ लाख वर्ष पूर्व की आयु में से ८३ लाख पूर्व बीत जाने पर वे एक दिन सभाभवन में सुन्दर सिंहासन के ऊपर स्थित होकर इन्द्र के द्वारा आयोजित नीलाञ्जना अप्सरा के नृत्य को देख रहे थे। इसी बीच नीलाञ्जना की आयु क्षीण हो जाने से वह क्षणभर में अदृश्य हो गयी। इन्द्र के आदेश से उसके स्थान पर दूसरी देवांगना नृत्य करने लगी, पर ऋषभदेव की दिव्यदृष्टि से यह बात ओझल न रह सकी और उन्होंने उस नीलाञ्जना की क्षणनश्वरता को देखकर राजलक्ष्मी की क्षणनश्वरता को अवगत किया। अतएव उन्होंने समस्त राज्यपरिग्रह का त्याग कर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार तपश्चरण करते हुए एक हजार वर्ष बीत गये और अनुपम समाधि द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। समवसरण में अष्ट प्रातिहार्यों से सुशोभित तीर्थंकर ऋषभदेव ने विश्वहितकारी मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। यह स्तोत्र प्राकृत-भाषा में रचित है।

१४. जिन-दर्शन-स्तवन—इस स्तवन में ३४ गाथाएँ हैं और यह भी प्राकृत भाषा में लिखा गया है। आरम्भ में बताया है कि हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मेरे नेत्र सफल हो गये तथा मन और शरीर शीघ्र ही अमृत से सींचे गये के समान शान्त हो गये। हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर दर्शन में बाधा पहुँचाने वाले समस्त मोहरूप अन्धकार नष्ट हो गये, जिससे मैंने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। रागादिविकारों से रहित आप के दर्शन से मेरे समस्त पाप नष्ट हो गये। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि का अन्धकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार आप के दर्शन से पुण्योदय हो गया है और पापान्धकार नष्ट हो चुका है। आचार्य ने जिनदर्शन से प्राप्त होने वाले सन्तोष, सुख, वैभव आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। दर्शन के प्रभाव से मोक्षमार्ग की उपलब्धि होती है।

१५. श्रुतदेवता-स्तुति— इस अधिकार में ३१ पद्य हैं। इन पद्यों में सरस्वती की स्तुति की गयी है। बताया है, हे सरस्वती! जो तेरे दोनों चरण-कमल हृदय में धारण करता है, उसकी समस्त अज्ञानता और कर्मसंस्कार नष्ट हो जाते हैं। सरस्वती का तेज न दिन की अपेक्षा करता है, न रात की, न अभ्यन्तर की अपेक्षा करता है न बाह्य की, न सन्ताप उत्पन्न करता है और न जड़ता ही। समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला यह तेज अपूर्व है। संसार में ज्ञानमय दीपक ही सबसे उत्तम है। यह नेत्रवालों को तो वस्तुदर्शन कराता ही है, पर नेत्रहीनों को भी वस्तुप्रतीति कराता है। सरस्वती के प्रसाद से ही शास्त्रों का अध्ययन होता है और वस्तुतत्त्व की प्रतीति। आचार्य ने लिखा है—

अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि द्युधेनुचिन्तामणिकल्पपादपाः।
फलन्ति हि त्वं पुनरत्र चापरे भवे कथं तैरुपमीयसे बुधैः[१]॥

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, पद्य १५/१९

त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत्समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम्।
त्वमेव चानन्दसमुद्रवर्धने मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम्[1]॥

१६. स्वयंम्भूस्तुति—इस प्रकरण में २४ पद्य हैं और इनमें क्रमशः २४ तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है।

१७. सुप्रभाताष्टक—इसमें आठ पद्य हैं। प्रभातकाल के होने पर रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है और सूर्य का प्रकाश चारों ओर व्याप्त हो जाता है। उस समय जनसमुदाय की निद्रा भंग हो जाती है और नेत्र खुल जाते हैं। ठीक इसी प्रकार से मोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से मोहनिर्मित जड़ता नष्ट हो जाती है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के निर्मूल नष्ट हो जाने से अनन्तज्ञान, दर्शन का प्रकाश व्याप्त हो जाता है।

१८. शान्तिनाथस्तोत्र—इसमें ९ पद्यों में तीर्थंकर शान्तिनाथ की स्तुति की गयी है। प्रसंगवश अष्टप्रातिहार्यों का भी उल्लेख आया है।

१९. जिनपूजाष्टक—इस प्रकरण में दस श्लोक हैं और जलचन्दनादि आठ द्रव्यों के द्वारा जिन-भगवान की पूजा किये जाने का वर्णन आया है।

२०. करुणाष्टक—इस प्रकरण में ८ पद्य हैं और दीनता दिखलाकर जिनेन्द्रदेव से दया की याचना करते हुए संसार से अपने उद्धार की प्रार्थना की गयी है।

२०. क्रियाकाण्डचूलिका—इस प्रकरण में १८ श्लोक हैं। आरम्भ में बताया है कि जब-तक मोक्ष के कारणभूत सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र प्राप्त नहीं होते तब तक भगवान की भक्ति प्राप्त होती रहे। इस भक्ति के प्रसाद से ही रत्नत्रय की प्राप्ति सम्भव है। रत्नत्रय, मूलगुण और उत्तरगुणों के सम्बन्ध में जो अपराध हुआ है तथा मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना से जो प्राणिपीडन हुआ है। तज्जन्य आस्रव आप के चरण-कमल के स्मरण से मिथ्या हो।

चिंतादुष्परिणामसंततिवशादुन्मार्गगाया गिरः ।
कायात्संवृतिवर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया।
तन्नाशं व्रजतु प्रभो जिनपते त्वत्पादपद्मस्मृते-
रेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं नास्मिन् समर्था भवेत्[2]॥

२२. एकत्वभावनादशक—इस प्रकरण में ११ पद्य हैं। यह परमज्योतिस्वरूप से प्रसिद्ध और एकत्वरूप अद्वितीय पद को प्राप्त आत्मतत्त्व का विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि जो इस आत्मतत्त्व को जानता है वह दूसरों के द्वारा पूजा जाता है, उसका आराध्य फिर अन्य कोई नहीं होता। उस एकत्व का ज्ञान दुर्लभ अवश्य है, पर मुक्ति को वही प्रदान करता है। मुक्तिसुख ही संसार में

---
१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, पद्य १५/२४, २. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, २१/१२

सर्वश्रेष्ठ है।

२३. परमार्थविंशति—इस प्रकरण में २० श्लोक हैं। इसमें भी शुद्ध चैतन्य निर्विकल्पक आत्मातत्त्व को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। निश्चयतः यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुखस्वरूप है। न यह परवस्तुओं का भोक्ता है और न कर्ता ही। यह तो स्वयं अपने परिणामों का कर्ता और भोक्ता है। जब अन्तरंग में रत्नत्रय का प्रकाश व्याप्त हो जाता है। तो संसार के सारे परपदार्थ निःसार प्रतीत होने लगते हैं। आत्मा कर्मफलरूप सुख–दुःख से पृथक् है।

२४. शरीराष्टक—इस प्रकरण में ८ पद्य हैं। शरीर की स्वाभाविक अपवित्रता और अस्थिरता को दिखलाते हुए उसे नाड़ीव्रण के समान भयानक और कड़वी तुम्बी के समान उपयोग के अयोग्य बतलाया है। साथ ही यह भी कहा है कि एक ओर मनुष्य जहाँ अनेक पोषक तत्त्वों द्वारा उसका संरक्षण करके उसे स्थिर रखने का प्रयास करते हैं वहीं दूसरी ओर वृद्धत्व उन्हें क्रमशः जर्जरित करने में उद्यत रहता है और अन्त में वही सफल होता है। इस प्रकार शरीर की अशुचिता और अनित्यता का वर्णन आया है।

२५. स्नानाष्टक—इसमें ८ पद्य हैं। स्वभावतः अपवित्र, मलमूत्र आदि से परिपूर्ण यह शरीर स्नान करने से कभी पवित्र नहीं हो सकता। इसका यथार्थ स्नान तो विवेक है जो जीव के चिरसंचित मिथ्यात्व आदि अन्तरंग मल को धो देता है। इसके विपरीत उस जल के स्नान से तो प्राणिहिंसाजनित केवल पापमल का ही संचय होता है। जो शरीर प्रतिदिन स्नान करने से भी अपवित्र रहता है तथा अनेक सुगन्धित लेपनों से लेपित होने पर भी दुर्गन्धित बना रहता है, उस शरीर की शुद्धि जल द्वारा नहीं की जा सकती और न कोई ऐसा तीर्थ ही है जिसमें स्नान करने से वह पवित्र हो सके।

२६. ब्रह्मचर्याष्टक—इस प्रकरण में ९ पद्य हैं और ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। विषयसेवन की ओर प्रवृत्ति पशुओं की रहती है, अतः यह पशु कर्म है। जब अपनी स्त्री के साथ भी विषयसेवन करना निंद्य है तब परस्त्री या वेश्या के सम्बन्ध में कहना ही क्या ? वस्तुतः यह विषयोपभोग तीक्ष्ण कुठार है, जिसके सेवन से संयमरूप वृक्ष निर्मूल हो जाता है। आचार्य ने बताया है–

रतिनिषेधविधौ यततां भवेच्चपलतां प्रविहाय मनः सदा।
विषयसौख्यमिदं विषसन्निभं कुशलमस्ति न भुक्तवतस्तवः[१]॥

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, २६/८

अनुक्रमणिका

ॐ

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका

(भाषानुवाद सहित)

१.

धर्मोपदेशामृत

मंगलाचरण

(स्रग्धरा)

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा
मध्यान्हे यस्य भास्वानुपरि परिगतो [१]राजतेस्मोग्रमूर्तिः
चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहुदहतो दूरमौदास्यवात-
[२]स्फूर्यत्सद्ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्‌गतो विस्फुलिङ्गः॥१॥

अर्थ—दोपहर के समय जिस आदीश्वर भगवान् के ऊपर रहा हुआ तेजस्वी सूर्य ज्ञानावरणादि कर्मरूपी ईंधन को पल भर में भस्म करने वाली तथा वैराग्यरूपी पवन से जलायी हुई, ध्यानरूपी अग्नि से उत्पन्न हुए मनोहर फुलिंगा के समान जान पड़ता है ऐसे कायोत्सर्ग सहित विस्तीर्ण शरीर के धारी तथा अष्टकर्मों के जीतने वाले उत्तम पुरुषों के स्वामी महात्मा श्रीनाभिराजा के पुत्र श्रीऋषभदेव भगवान् सदा जयवन्त हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जिस प्रकार पवन से चेताई हुई अग्नि जिस समय काष्ठ के समूह को जलाती है उस समय जैसे उसके फुलिंगे आकाश में उड़कर जाते हैं। उसी प्रकार श्रीऋषभदेव भगवान् ने भी अपनी वैराग्यरूपी अग्नि से ज्ञानावरणादि कर्मों के समूह को जलाया था तथा उसके भी फुलिंगे आकाश में उड़कर गये थे उन फुलिंगाओं में से ही यह सूर्य भी एक फुलिंगा है।

१. राजति, २. स्फूर्जत्।

सारार्थ—भगवान् की ध्यानरूपी अग्नि सूर्य से भी अधिक तेजवाली थी।

हाथों को नीचे किये तथा निश्चल और नासाग्रदृष्टि तथा एकान्तस्थान में ध्यानी भगवान् को अपने मन में ध्यान कर ग्रन्थकार फिर भी उत्प्रेक्षा करते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

नो किञ्चित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किञ्चिद्दृशो-
दृश्यं [1]यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न।
तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टी रहः -
संप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः॥२॥

अर्थ—भगवान् को हाथ से करने योग्य कोई कार्य नहीं रहा है इसलिए तो उन्होंने हाथों को नीचे लटका दिया है तथा जाने के लायक कोई स्थान नहीं रहा है इसलिए वे निश्चल खड़े हुए हैं और देखने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहा है इसलिए भगवान् ने नाक के ऊपर अपनी दृष्टि दे रखी है तथा एकान्तवास इसलिए किया है कि भगवान् को पास में रहकर कोई बात सुनने के लिए नहीं रही है इसलिए इस प्रकार अत्यन्त निराकुल तथा ध्यानरस में लीन भगवान् सदा लोक में जयवन्त हैं।

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तमोहग्रहा[2]-
दस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि सम्भाव्यते।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा-
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन् सदा पातु वः॥३॥

अर्थ—मोह तथा परिग्रह के नाश हो जाने के कारण न तो किसी पदार्थ में जिस अर्हंत का राग ही प्रतीत होता है तथा अर्हंत भगवान् ने समस्त शस्त्र आदि को छोड़ दिया है इसलिए विद्वानों को किसी में जिस अर्हंत का द्वेष भी देखने में नहीं आता तथा द्वेष के न रहने के कारण जो शान्तस्वभावी है तथा शान्तस्वभावी होने के ही कारण जिस अर्हंत ने अपनी आत्मा को जान लिया है तथा आत्मा का ज्ञाता होने के कारण जो अर्हंत कर्मों से रहित है तथा कर्मों से रहित होने के ही कारण जो आनन्द आदि गुणों का आश्रय है ऐसे अर्हंत भगवान् मेरी सदा रक्षा करें अर्थात् ऐसे अर्हंत भगवान् का मैं सदा सेवक हूँ।

भावार्थ—जो रागी तथा द्वेषी है और जो निरन्तर स्त्रियों में रमण करता है तथा जो मोही है और शत्रु से भयभीत होकर जो निरन्तर शस्त्र को अपने पास रखता है तथा कर्मों का मारा नाना प्रकार की गतियों में भ्रमण करता रहता है ऐसा स्वयं दुखी दूसरे की क्या रक्षा कर सकता है? किन्तु जो वीतराग हैं तथा काम-मोह आदि जिसके पास भी नहीं फटकने पाते, जो जन्म-मरणादि से रहित है और कर्मों का जीतने वाला है वही दूसरे की रक्षा कर सकता है इसलिए ऐसे ही अर्हन्त के में शरण हूँ।

---

१. कस्य, २. संग

इन्द्रस्य प्रणतस्य शेखरशिखारत्नार्कभासानख-
श्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृद्दूरोल्लसत्पाटलम् ।
श्रीसद्माङ्घ्रियुगं जिनस्य दधदप्यम्भोजसाम्यं रज-
स्त्यक्तं जाड्यहरं परं भवतु नश्चेतोऽर्पितं शर्मणे ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार कमलों पर भ्रमर गुंजार करते हैं उसी प्रकार भगवान् के चरण कमलों को बड़े-बड़े इन्द्र आकर नमस्कार करते हैं तथा उनके मुकुट के अग्रभाग में लगे हुए जो रत्न उनकी प्रभा सहित भगवान् के चरणों के नखों में उन इन्द्रों के नेत्रों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं इसलिए भगवान् के चरणों पर भी इन्द्रों के नेत्ररूपी भौंरे निवास करते हैं तथा जिस प्रकार कमल कुछ सफेदी लिए लाल होते हैं उस ही प्रकार भगवान् के चरण कमल भी कुछ सफेदी लिए हुए लालवर्ण हैं तथा जिस प्रकार कमलों में लक्ष्मी रहती है उस ही प्रकार भगवान् के चरण कमल भी लक्ष्मी के स्थान हैं अर्थात् चरण कमलों के आराधन करने से भव्य जीवों को उत्तम मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसलिए यद्यपि कमल तथा भगवान् के चरणकमल इन गुणों से समान हैं तथापि कमल धूलि सहित है तथा जड़ हैं और भगवान् के चरणकमल धूलि (पाप) रहित हैं तथा जड़ता के दूर करने वाले हैं अतः कमलों से भी उत्कृष्ट भगवान् के चरणकमल सदा मेरे मन में स्थित रहें तथा कल्याण करें।

भावार्थ—रज का अर्थ धूलि भी होता है तथा पाप भी होता है इसलिए कमल तो धूलि सहित है किन्तु भगवान् के चरणकमल धूलि रहित हैं अर्थात् चरण कमलों की सेवा करने से समस्त पापों का नाश हो जाता है तथा कमल सर्वथा जड़ हैं किन्तु भगवान् के चरणकमलों में अंशमात्र भी जड़ता नहीं है अर्थात् चरणकमलों की आराधना करने से समस्त प्रकार की जड़ता नष्ट हो जाती है।

(मालिनी)

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं स्मृतमपि हि जानानां पापतापोपशान्त्यै।
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्न द्युतिचलमधुपालीचुम्बितं पादपद्मम् ॥५॥

अर्थ—नाना प्रकार के देवताओं के मुकुट, उनमें लगी हुईं नीलमणि उनकी जो प्रभा वही चलती हुई भ्रमरों की पंक्ति से सहित जिस शान्तिनाथ भगवान् के चरणकमल स्मरण किए हुए समस्त जनों के पाप तथा संताप को दूर कर देते हैं ऐसे वे तीनलोक के स्वामी श्रीशांतिनाथ भगवान् सदा जयवंत रहें।

स जयति जिनदेवो सर्वविद्विश्वनाथोऽवितथवचनहेतुक्रोधलोभादिमुक्तः।
शिवपुरपथपांथप्राणिपाथेयमुच्चैर्जनितपरमशर्मा येन धर्मोऽभ्यधायि ॥६॥

अर्थ—सबके जानने वाले तथा तीनलोक के स्वामी और क्रोध-लोभादि से रहित इसीलिए सत्य वचन के बोलने वाले श्रीजिनदेव सदा जयवंत हैं, जिन श्रीजिनदेव ने मोक्षमार्ग को गमन करने वाले प्राणियों को पाथेय (टोसा) स्वरूप तथा उत्तम कल्याण के करने वाले उत्कृष्ट धर्म का निरूपण किया

है।

प्रथम ही धर्म कितने प्रकार का है इस बात को बतलाते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनो,र्भेदाद्द्विधा च त्रयं,
रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः।
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता, वागङ्गसङ्गोज्झिता,
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥७॥

अर्थ–समस्त जीवों पर दया करना इसी का नाम धर्म है अथवा एकदेश गृहस्थ का धर्म तथा सर्वदेश मुनियों का धर्म इस प्रकार उस धर्म के दो ही भेद हैं अथवा उत्कृष्ट रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) ही धर्म है अथवा उत्तमक्षमा-मार्दव-आर्जव आदिक दश प्रकार भी धर्म है अथवा मोह से उत्पन्न हुए समस्त विकल्पों से रहित तथा जिसको वचन से निरूपण नहीं कर सकते ऐसी जो शुद्ध तथा आनन्दमय आत्मा की परिणति उसी का नाम उत्कृष्ट धर्म है इस प्रकार सामान्यतया धर्म का लक्षण तथा भेद इस श्लोक में बतलाये गये हैं।

अब आचार्य चार श्लोकों में दयाधर्म का वर्णन करते हैं–

आद्या सद्व्रतसञ्चयस्य जननी, सौख्यस्य सत्सम्पदां,
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदा, रोहैकनिःश्रेणिका।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो, नित्यं दया धार्मिकैः
धिङ्नामाऽप्यदयस्य तस्य च परं, सर्वत्र शून्या दिशः ॥८॥

अर्थ–जो समस्त उत्तम व्रतों के समूह में मुख्य है तथा सच्चे सुख और श्रेष्ठ संपदाओं को उत्पन्न करने वाली है और जो धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है (अर्थात् जिस प्रकार जड़ बिना वृक्ष नहीं ठहरता उसी प्रकार दया, बिना धर्म के भी नहीं ठहर सकती) तथा जो मोक्षरूपी महल के अग्रभाग में चढ़ने के लिए सीढ़ी के समान है ऐसे धर्मात्मा पुरुषों को समस्त प्राणियों पर दया अवश्य करनी चाहिए किन्तु जिस पुरुष के चित्त में लेशमात्र भी दया नहीं है उस पुरुष के लिए धिक्कार है तथा समस्त दिशा उसके लिए शून्य है अर्थात् जो निर्दयी है उसका कोई भी मित्र नहीं होता।

संसारे भ्रमतश्चिरं तनुभृतः, के के न पित्रादयो,
जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु[१] ते, सर्वे भवन्त्याहताः।
[२]नन्वात्मापि हतो यदत्र निहतो, जन्मान्तरेषु ध्रुवं,
हन्तारं प्रतिहन्ति हन्त बहुशः, संस्कारतो नु क्रुधः ॥९॥

---

१. ननु, २. पुंसात्मापि

अर्थ—चिरकाल से संसार में भ्रमण करते हुए इस दीन प्राणी के कौन-कौन माता पिता भाई आदिक नहीं हुए? अर्थात् सर्व हो चुके इसलिए यदि कोई प्राणी किसी जीव को मारे तो समझना चाहिए कि उसने अपने कुटुम्बी को ही मारा तथा अपनी आत्मा का भी उसने घात किया क्योंकि यह नियम है जो मनुष्य किसी दीन प्राणी को एकबार मारता है उस समय उस मरे हुए जीव के क्रोधादि की उत्पत्ति होती है तथा जन्मान्तर में उसका संस्कार बैठा रहता है इसलिए जिस समय कारण पाकर उस मृत प्राणी का संस्कार प्रकट हो जाता है उस समय वह हिंसक को (अर्थात् पूर्वभव में अपने मारने वाले जीव को) अनेक बार मारता है इसलिए ऐसे दुष्ट हिंसक के लिए धिक्कार हो।

त्रैलोक्यप्रभुभावतोऽपि सरुजोऽप्येकं निजं जीवितं,
प्रेयस्तेन विना स कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः।
निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं,
जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानं लघु ॥१०॥

अर्थ—यदि किसी दरिद्री से भी यह बात कही जावे कि भाई तू अपने प्राण दे दे तथा तीन लोक की संपदा ले ले तब वह यही कहता है कि मैं ही मर जाऊँगा तो उस संपदा को कौन भोगेगा। अतः तीन लोक की संपदा से भी प्राणियों को अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए समस्त व्रत तथा शीलादि निर्मल गुणों का स्थानभूत जो यह प्राणी का जीवित दान है उसकी अपेक्षा संसार में सर्व दान छोटे हैं यह बात भलीभाँति निश्चित है।

भावार्थ—आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्र इस प्रकार दान के चार भेद हैं उन सब में अभयदान सबसे उत्कृष्ट दान माना गया है तथा अभयदान उसी समय पल सकता है जब किसी जीव के प्राण न दुखाये जायें इसलिए इस उत्तम अभय दान के आकांक्षी मनुष्यों को किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

स्वर्गायाऽव्रतिनोऽपि सार्द्रमनसः, श्रेयस्करी केवला,
सर्वप्राणिदया तया तु रहितः, पापस्तपस्थोऽपि च[१]।
तद्दानं बहु दीयतां तपसि वा, चेतः स्थिरं धीयतां,
ध्यानञ्च[२] क्रियतां जना न सफलं, किञ्चिद्दयावर्जितम् ॥११॥

अर्थ—चाहे मनुष्य अव्रती व्रतरहित क्यों न होवे यदि उसका चित्त समस्त प्राणियों के प्राणों को किसी प्रकार दुख न पहुँचाना रूप दया से भीगा हुआ है तो समझना चाहिए कि उस पुरुष को वह दया स्वर्ग तथा मोक्ष रूप कल्याण को देने वाली है किन्तु यदि किसी पुरुष के हृदय में दया का अंश न हो तो चाहे वह कैसा भी तपस्वी क्यों न होवे तथा वह चाहे इच्छानुसार ही दान क्यों न देता हो अथवा

१. वा, २. वा।

वह कितना भी तप में चित्त को क्यों न स्थिर करता हो तथा वह कैसा भी ध्यानी क्यों न हो पापी ही समझा जाता है क्योंकि दया रहित कोई भी कार्य सफल नहीं होता।

अब आचार्य श्रावक धर्म का वर्णन करते हैं—

सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं, मुक्तेः परं कारणं,
रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवन, प्रद्योति काये सति।
वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया, भक्त्यार्पिताज्जायते
तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां, धर्मो न कस्य प्रियः॥१२॥

अर्थ—जिस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय की समस्त सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्र भक्ति से पूजन करते हैं तथा जो मोक्ष का उत्कृष्ट कारण है अर्थात् जिसके बिना कदापि मुक्ति नहीं हो सकती तथा जो तीन लोक का प्रकाश करने वाला है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को देह की स्थिरता रहते हुए ही मुनिगण धारण करते हैं तथा श्रद्धा-तुष्टि आदि गुणों से संयुक्त गृहस्थियों के द्वारा भक्ति से दिये हुए दान से उन उत्तम मुनियों के शरीर की स्थिति रहती है इसलिए ऐसे गृहस्थों का धर्म किसको प्रिय नहीं है अर्थात् सब ही उसको प्रिय मानते हैं।

(स्त्रग्धरा)

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः,
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्चकारुण्यबुद्ध्या।
तत्त्वाभ्यासःस्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः॥१३॥

अर्थ—तथा जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा उपासना की जाती है तथा निर्ग्रन्थ गुरुओं की भक्ति, सेवा आदि की जाती है और जिस गृहस्थाश्रम में धर्मात्मा पुरुषों का परस्पर में स्नेह से बर्ताव होता है तथा मुनि आदि उत्तमादि पात्रों को दान दिया जाता है तथा दुखी दरिद्रियों को जिस गृहस्थाश्रम में करुणा से दान दिया जाता है और जहाँ पर निरन्तर जीवादि तत्त्वों का अभ्यास होता रहता है तथा अपने-अपने व्रतों में प्रीति रहती है और जिस गृहस्थाश्रम में निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के द्वारा पूजनीय होता है किन्तु उससे विपरीत इस संसार में केवल दुख का देने वाला है तथा मोह का जाल है।

अब आचार्य श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम बताते हैं—

आदौ दर्शनमुन्नतं व्रतमितः सामायिकं प्रोषध-
स्त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवाभुक्तं[1] तथा ब्रह्म च।

---

१. भक्तं

नारम्भो न परिग्रहोऽननुमतिर्नोद्दिष्टमेकादश
स्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः ॥१४॥

अर्थ—सबसे पहले १. जीवादि पदार्थों में शंकादि दोष रहित श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का जिसमें धारण होवे उसको दर्शन प्रतिमा कहते हैं। २. अहिंसादि पाँच अणुव्रत तथा दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत और देशावकाशिकादि चार शिक्षाव्रत इस प्रकार जिसमें बारह व्रत धारण किये जावे वह दूसरी व्रत प्रतिमा कहलाती है। ३. तीनों कालों में समता धारण करना सामायिक प्रतिमा है और ४. अष्टमी आदि चारों पर्वों में आरम्भ रहित उपवास करना चौथी प्रोषध प्रतिमा है। ५. जिस प्रतिमा में सचित्त वस्तुओं का भोग न किया जाये उसको सचित्तत्याग नामक पाँचवीं प्रतिमा कहते हैं। ६. जिस प्रतिमा के धारण करने में रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध किया गया है उसको रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा कहते हैं। ७. जिस प्रतिमा के धारण करने से आजन्म स्वस्त्री तथा परस्त्री दोनों का त्याग करना पड़ता है वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमा है। ८. किसी प्रकार धनादि का उपार्जन न करना आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमा है। ९. जिस प्रतिमा के धारण करते समय धन-धान्य, दासी-दासादि का त्याग किया जाता है वह नवमी परिग्रहत्याग नामक प्रतिमा है। १०. घर के कामों में और व्यापार में (ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए) इत्यादि अनुमति का न देना अनुमतित्याग नामक दशमी प्रतिमा है। ११. ग्यारहवीं प्रतिमा उसको कहते हैं कि जहाँ पर अपने उद्देश्य से भोजन न किया गया हो ऐसे गृहस्थों के घर में मौन सहित भिक्षापूर्वक आहार करना इस प्रकार ये ग्यारह व्रत (प्रतिमा) श्रावकों के हैं, इन सब व्रतों में भी प्रथम सप्त व्यसनों का त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि व्यसनों के त्याग किये बिना एक भी प्रतिमा धारण नहीं की जा सकती।

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्प्रोक्तं प्रतिमाभिराभिरभितो विस्तारिभिःसूरिभिः
ज्ञातव्यं तदुपासकाध्ययनतो गेहिव्रतं विस्तरात्।
तत्रापि व्यसनोज्झनं यदि तदप्यासूत्र्यतेऽत्रैव यत्
तन्मूलः सकलः सतां व्रतविधिर्याति प्रतिष्ठां पराम्॥१५॥

अर्थ—समन्तभद्र आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमा तथा और भी गृहस्थों के व्रत अत्यन्त विस्तार के साथ अपने-अपने ग्रन्थों में वर्णन किये हैं इसलिए उपासकाध्ययन से इनका स्वरूप विस्तार से जानना चाहिए और उन्हीं आचार्यों ने जुआ खेलना, मद्य पीना, मांस खाना आदि सातों व्यसनों का भलीभाँति स्वरूप दिखाकर उनके त्याग की अच्छी तरह विधि बतलायी है तथा इस ग्रन्थ में भी उन सप्त व्यसनों के त्याग का वर्णन किया जायेगा क्योंकि सप्त व्यसनों के त्याग से ही सज्जनों की व्रत विधि अत्यन्त प्रतिष्ठा को प्राप्त करती है बिना व्यसनों के त्याग के नहीं।

(अनुष्टुप्)

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गना:।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुध:॥१६॥

अर्थ— १. जुआ खेलना, २. मांस खाना, ३. मद्य पीना, ४. वेश्या के साथ उपभोग करना, ५. शिकार खेलना, ६. चोरी करना, ७. परस्त्री का सेवन करना–ये सात व्यसनों के नाम हैं तथा विद्वानों को इन व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिए।

आचार्य सप्त व्यसनों से उत्पन्न हुई हानि तथा सप्त व्यसनों के स्वरूप को पृथक्–पृथक् वर्णन करते हैं। प्रथम ही दो श्लोकों में द्यूत नामक व्यसन का निषेध करते हैं।

(मालिनी)

भुवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादिसर्वव्यसनपतिरशेषापन्निधि: पापबीजम्।
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा क [१]इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति ॥१७॥

अर्थ—जो समस्त अपकीर्तियों का घर है अर्थात् जिसके खेलने से संसार में अपकीर्ति ही फैलती है तथा जो चोरी वेश्यागमन आदि बचे हुए व्यसनों का स्वामी है (अर्थात् जिस प्रकार राजा के आधीन मंत्री आदि हुआ करते हैं उसी प्रकार जुआ के आधीन समस्त बचे हुए व्यसन हैं) और जो समस्त आपत्तियों का घर है तथा जिसके सम्बन्ध से निरंतर पाप की ही उत्पत्ति होती रहती है तथा जो समस्त नरकादि खोटी गतियों का मार्ग बतलाने वाला है ऐसे सर्वथा निकृष्ट जुआ नामक व्यसन को कौन बुद्धिमान् अंगीकार कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

(शार्दूलविक्रीडित)

क्वाकीर्ति: क्व दरिद्रता क्व विपद: क्व क्रोधलोभादय:
चौर्यादिव्यसनं क्व च क्व नरके दु:खं मृतानां नृणाम्।
चेतश्चेद्गुरुमोहतो न रमते द्यूते वदन्त्युन्नत-
प्रज्ञा यद्भुवि दुर्नयेषु निखिलेष्वेतद्धुरि स्मर्यते॥१८॥

अर्थ—इस जुआ के विषय में बड़े–बड़े गणधरादिकों का यह कथन है कि मोह के उदय में मनुष्य की जुआ में प्रवृत्ति होती है यदि मनुष्य के मोह के उपशम होने से जुआ में प्रवृत्ति न होवे तो कदापि संसार में इसकी अपकीर्ति नहीं फैल सकती है और न यह दरिद्री बन सकता है तथा न इसको किसी प्रकार की विपत्ति घेर सकती है और इस मनुष्य के क्रोध–लोभादि की भी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती तथा चोरी आदि व्यसन भी इसका कुछ नहीं कर सकते और मरने पर यह नरकादि गतियों की वेदना का भी अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि समस्त व्यसनों में जुआ ही मुख्य कहा गया है इसलिए सज्जनों को इस जुआ से अपनी प्रवृत्ति को अवश्य हटा लेना चाहिए।

---
१. इति

आगे दो श्लोकों में मांस व्यसन का निषेध किया जाता है–

(स्रग्धरा)

बीभत्सु प्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूलं
हस्तेनाक्ष्णापि शक्यं यदिह न महतां स्पृष्टुमालोकितुं च।
तन्मांसं भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं यस्य साक्षात्
पापं तस्यात्र पुंसो भुवि भवति कियत् का गतिर्वा न विद्मः॥१९॥

अर्थ–देखते ही जो मनुष्यों को प्रबल घृणा का उत्पन्न करने वाला है तथा जिसकी उत्पत्ति दीन प्राणियों के मारने पर होती है और जो अपवित्र है तथा नाना प्रकार के दृष्टिगोचर जीवों का जो स्थान है और जिसकी समस्त सज्जन पुरुष निन्दा करते हैं तथा जिसको इस संसार में सज्जन पुरुष न हाथ से ही छू सकते हैं और न आँख से ही देख सकते हैं और ''मांस खाने योग्य होता है'' यह वचन भी सज्जनों को प्रबल घृणा का उत्पन्न करने वाला है ऐसे सर्वथा अपावन मांस को जो साक्षात् खाता है आचार्य कहते हैं हम नहीं जान सकते उस मनुष्य के कितने पापों का संसार में संचय होता है! तथा उसकी कौन-सी गति होती है!।

(शिखरिणी)

गतो [१]ज्ञातेः कश्चिद्बहिरपि न यद्येति सहसा
शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः।
परेषामुत्कृत्य प्रकटितमुखं खादति पलं
कले रे निर्विण्णा वयमिहभवच्चित्रचरितैः ॥२०॥

अर्थ–यदि कोई अपना भाई, पिता, पुत्र आदि दैव योग से (मरना तो दूर रहे) बाहर भी चला जावे तथा वह जल्दी लौट कर न आवे तो मनुष्य शिर कूट-कूट कर रोता है तथा मन में नाना प्रकार के बुरे भावों का चिंतन करता है किन्तु अपने कुटुम्बियों से भिन्न दूसरे जीवों के मांस को उपाट-उपाट कर खाता है तथा लेशमात्र भी लज्जा नहीं करता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि अरे कलिकाल! तेरे नाना प्रकार के चरित्रों से हम सर्वथा विरक्त हैं अर्थात् तेरे चरित्रों का हमको पता नहीं लग सकता।

अब आचार्य दो श्लोकों में मदिरा का निषेध करते हैं–

(मालिनी)

सकलपुरुषधर्मभ्रंशकार्यत्र जन्मन्यधिकमधिकमग्रे यत्परं दुःख हेतुः।
तदपि यदि न मद्यं त्यज्यते बुद्धिमद्भिः स्वहितमिह किमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम् ॥२१॥

---

१. ज्ञातिः

अर्थ—यह मदिरा इस जन्म में समस्त पीने वाले प्राणियों के धर्म को मूल से खोने वाली है तथा परलोक में अत्यन्त तीव्र नाना प्रकार के नरकों के दुखों की देने वाली है ऐसा होने पर भी यदि विद्वान् मद पीना न छोड़ें तो समझ लेना चाहिए कि उन मनुष्यों के द्वारा अपने हितकारी धर्म के लिए कोई भी उत्कृष्ट कार्य नहीं बन सका क्योंकि व्यसनी कुछ भी उत्तम कार्य नहीं कर सकते।

(मन्दाक्रान्ता)

आस्तामेतद्यदिह जननीं बल्लभां मन्यमाना
निन्द्याश्चेष्ठा विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः।
तत्राधिक्यं पथि निपतिता यत्किरत्सारमेयाद्-
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति ॥२२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मदिरा के पीने वाले मनुष्य यदि निर्लज्ज होकर अपनी माता को स्त्री मानें तथा उसके साथ नाना प्रकार की खोटी चेष्टा करें तो यह बात तो कुछ बात नहीं किन्तु सब से अधिक बात यह है कि मद्य के नशे में आकर जब मार्ग में गिर जाते हैं तथा जिस समय उनके मुख में कुत्ते मूतते हैं उसको मिष्ट-मिष्ट कहते हुए तत्काल गटक जाते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य मद्यपान करते हैं वे समस्त खोटी चेष्टा करते हैं तथा उनकी बुरी हालत होती है और उनको किसी प्रकार हित का मार्ग भी नहीं सूझता इसलिए विद्वानों को इस निकृष्ट मद्य से जुदा ही रहना चाहिए।

अब आचार्य दो श्लोकों में वेश्या व्यसन का निषेध करते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥२३॥

अर्थ—जो सदा मांस खाती हैं तथा जो निरन्तर मद्यपान करती हैं और जिनको झूठ बोलने में अंशमात्र भी संकोच नहीं होता तथा जिनका स्नेह विषयी मनुष्यों के साथ केवल धन के लिए है और जो द्रव्य तथा प्रतिष्ठा को मूल से उड़ाने वाली हैं अर्थात् वेश्या के साथ संयोग करने से धन तथा प्रतिष्ठा दोनों किनारा कर जाते हैं तथा जिनके चित्त में सदा छल-कपट दगाबाजी ही रहती है और जो अत्यन्त पापिनी हैं तथा जो धन के लोभ से अत्यन्त नीच धीवर, चाण्डाल आदि की लार का भी निरन्तर पान करती हैं ऐसी वेश्याओं से दूसरा नरक संसार में है! यह बात सर्वथा झूठ है।

भावार्थ—वेश्या ही नरक है।

(आर्या)

रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः।
गणिकाभिर्यदि सङ्गः कृतमिह परलोकवार्ताभिः॥२४॥

अर्थ—जो वेश्या धोबी की कपड़े पछीटने की शिला के समान है अर्थात् जिस प्रकार शिला पर समस्त प्रकार के कपड़े लाकर पछीटे जाते हैं उसी प्रकार इस वेश्या के साथ भी समस्त निकृष्ट से निकृष्ट जाति के मनुष्य आकर रमण करते हैं अथवा दूसरा इसका आशय यह भी है कि जिस प्रकार शिला पर समस्त प्रकार के कपड़ों के मैल का संचय होता है उसी प्रकार वेश्यारूपी शिला पर भी नाना जातियों के मनुष्य के वीर्यरूपी मैल का समूह इकट्ठा होता है तथा जो वेश्या कुत्तों के लिए कपाल के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार मरे हुए मनुष्य के कपाल पर लड़ते लड़ाते नानाप्रकार के कुत्ते इकट्ठे होते हैं उसी प्रकार इस वेश्या पर भी नाना जातियों के मनुष्य आकर टूटते हैं तथा नाना प्रकार के परस्पर में कलह करते हैं इसलिए ऐसी निकृष्ट वेश्याओं के साथ यदि कोई पुरुष सम्बन्ध करे तो समझ लेना चाहिए कि उसका परलोक नष्ट हो चुका।

भावार्थ—जो मनुष्य वेश्याओं के साथ सम्बन्ध करते हैं उनके इहलोक तथा परलोक दोनों सर्वथा बिगड़ जाते हैं।

अब आचार्य दो श्लोकों में शिकार व्यसन का निषेध करते हैं।

(स्रग्धरा)

या दुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति त्रातृसम्बन्धहीना
भीतिर्यस्याः[१] स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराधं करोति।
वध्यालं सापि यस्मिन्ननुमृगवनितामांसपिण्डस्य लोभात्
आखेटेऽस्मिन्रतानामिह किमु न किमन्यत्र नो यद्विरूपम्॥२५॥

अर्थ—जिस बेचारी मृगी के सिवाय देह के दूसरा कोई धन नहीं है तथा जो सदा वन में ही भ्रमण करती रहती है और जिसका कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है तथा जिसको स्वभाव से ही भय लगता है तथा जो केवल तृण को ही खाने वाली है और किसी का जो लेशमात्र भी अपराध नहीं करती ऐसी भी दीन मृगी को केवल मांस टुकड़े के लोभी तथा शिकार के प्रेमी, जो दुष्ट पुरुष बिना कारण मारते हैं उनको इस लोक में तथा परलोक में नाना प्रकार के विरुद्ध कार्यों का सामना करना पड़ता है अर्थात् इसलोक में तो वे दुष्ट पुरुष रोग शोक आदि दुखों का अनुभव करते हैं तथा परलोक में उनको नरक जाना पड़ता है।

---

१. यस्यां

(मालिनी)

तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे
भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोकः।
कथमिह मृगयाप्तानन्दमुत्खातशस्त्रो
मृगमकृतविकारं ज्ञातदुःखोऽपि हन्ति ॥२६॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मनुष्य शरीर से किसी प्रकार कीड़ी आदि के सम्बन्ध हो जाने से ही अधीर होकर जहाँ तहाँ देखने लग जाता है (अर्थात् उसको वह चींटी आदि का सम्बन्ध ही पीड़ा का पैदा करने वाला हो जाता है) तथा जो दुख का भलीभाँति जानने वाला है वह मनुष्य भी शिकार में आनन्द मानकर निरपराध दीन मृग को हथियार उठाकर मारता है? यह बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ—बिना जाने किसी कार्य करने में आश्चर्य नहीं किन्तु जो भलीभाँति अपने तथा पर के दुख को जानता है फिर ऐसा दुष्ट काम करता है उसके लिए आश्चर्य है।

(शार्दूलविक्रीडित)

यो येनैव हतः स तं हि बहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चितो
नूनं वञ्चयते स तानपि भृशं जन्मान्तरेऽप्यत्र च।
स्त्रीबालादिजनादपि स्फुटमिदं शास्त्रादपि श्रूयते
नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोकाः कुतो मुह्यत ॥२७॥

अर्थ—स्त्री बालक आदि से तथा शास्त्र से जब यह बात भलीभाँति मालूम है कि जो प्राणी इस जन्म में एकबार भी दूसरे प्राणी को मारता है वह दूसरे जन्म में उस मरे हुए प्राणी से अनन्त बार मारा जाता है तथा जो मनुष्य इस जन्म में एक बार भी दूसरे प्राणी को ठगता है वह दूसरे जन्म में अनन्त बार उसी पूर्वभव में ठगे हुए प्राणी से ठगाया जाता है फिर भी हे लोक! तू दूसरे के ठगने में तथा मारने में, रात-दिन लगा रहता है यह बड़े आश्चर्य की बात है इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे ऐसे अनर्थ के करने वाले दूसरे के मारने, ठगने में अपने चित्त को न लगावें।

और भी आचार्य चोरी कपट करने का दोष दिखाते हैं—

अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरचनैर्ये वञ्चयन्ते परान्
नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापव्रजादन्यतः।
प्राणाः प्राणिषु तन्निबन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने
यावान् दुःखभरो नरे न मरणे तावानिह प्रायशः ॥२८॥

अर्थ—जो दुष्ट मनुष्य नाना प्रकार के छल कपट दगाबाजी से दूसरे मनुष्यों को धन आदि के लिए ठगते हैं उनको दूसरे पापी जनों से पहले ही नरक जाना पड़ता है क्योंकि (धनं वै प्राणाः) इस नीति के अनुसार मनुष्यों के धन ही प्राण हैं, यदि किसी रीति से उनका धन नष्ट हो जावे तो उनको

इतना प्रबल दुख होता है कि जितना उनको मरते समय भी नहीं होता इसलिए प्राणियों को चाहिए कि वे प्राणस्वरूप दूसरे के धन को कदापि हरण न करे तथा न हरण करने का प्रयत्न ही करे।

परस्त्रीसेवन में क्या-क्या हानि है इस बात को आचार्य दो श्लोकों में दिखाते हैं-

चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशोऽतिदाहभ्रम -
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम्।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहितमतेस्तद्भूरिदुःखं चिरं
श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात्॥२९॥

अर्थ—जो मनुष्य परस्त्री के सेवन करने वाले हैं उनको इसी लोक में जो चिंता, व्याकुलता, भय, द्वेष, बुद्धि का भ्रष्टपना, शरीर का दाह, भूख, प्यास, रोग, जन्म-मरण आदिक दुख होते हैं, वे कोई अधिक दुख नहीं किन्तु जिस समय उन परस्त्री सेवी मनुष्यों को नरक में जाना पड़ता है तथा वहाँ पर जब उनको परस्त्री की जगह लोहे की पुतली से आलिंगन करना पड़ता है उस समय उनको अधिक दुख होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य परस्त्री के सेवी हैं उनको निरंतर अनेक प्रकार की चिंता लगी रहती है, तथा उस स्त्री से मैं कैसे मिलूँ, कैसे उसको प्रसन्न करूँ इस प्रकार उनको निरंतर आकुलता भी रहती है, और कोई हमें संभोग करते देख न लेवे तथा कोई मार न देवे इस प्रकार का उनको सदा भय भी लगा रहता है तथा परस्त्री सेवन करने वाले मनुष्य की किसी के साथ प्रीति भी नहीं होती सबके साथ द्वेष ही रहता है तथा परस्त्री सेवन करने वाले मनुष्य की बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है क्योंकि उसको माता, बहिन, पुत्री आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रहता तथा जो मनुष्य परस्त्री के विलासी हैं उनका शरीर सदा काम ज्वर से संतप्त रहता है तथा परस्त्री सेवी पुरुषों को भूख प्यास आदि नाना प्रकार के दुख भी आकर सताते हैं और उनको अनेक प्रकार के गर्मी आदि प्राणघातक रोगों का भी सामना करना पड़ता है तथा अनेक प्रकार के दुख भी उन्हें भोगने पड़ते हैं और अंत में वे मर भी जाते हैं। ये तो इस भव के दुख हैं किन्तु जिस समय वे परभव में नरक जाते हैं तथा जिस समय उनको गरम की हुई लोहे की पुतली से चिपका दिया जाता है तथा कहा जाता है कि जिस प्रकार तुमने पूर्वभव में परस्त्री के साथ संभोग किया था वैसा ही यह स्त्री है। इसके साथ भी वैसा ही संभोग करो तब उनको और भी अधिक दुख होता है इसलिए उत्तम पुरुषों को चाहिए कि वे किसी भी परस्त्री के साथ सम्बन्ध न करें।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

धिक् तत्पौरुषमासतामनुचितास्ता बुद्धयस्तेगुणाः
माभून्मित्रसहायसम्पदपि सा तज्जन्म यातु क्षयम्।

लोकानामिह येषु सत्सु भवति व्यामोहमुद्राङ्कितं
स्वप्नेऽपि स्थितिलङ्घनात्परधनस्त्रीषु प्रसक्तं मन:॥३०॥

अर्थ—जिन पौरुष आदि के होते हुए अपनी स्थिति को उल्लंघन कर मोह से स्वप्न में भी परस्त्री तथा पर धन में मनुष्यों का मन आसक्त हो जाये, ऐसे उस पौरुष के लिए धिक्कार हो तथा वह अनुचित बुद्धि से भी दूर रहो तथा वे गुण भी नहीं चाहिए और ऐसी मित्रों की सहायता तथा संपत्ति की भी आवश्यकता नहीं।

भावार्थ—जागृत अवस्था की तो क्या बात! जिन पौरुष आदि के होते हुए मनुष्यों का चित्त स्वप्न में भी यदि परस्त्री में आसक्त हो जावे तो, ऐसे पौरुष आदि की कोई आवश्यकता नहीं इसलिए भव्य जीवों को कदापि परस्त्री में चित्त नहीं लगाना चाहिए।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि किन-किन को क्या-क्या जुआ आदि खेलने से हानि उठानी पड़ी—

द्यूताद्धर्मसुत: पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दना:,
चारु: कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृप:।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठात्,
एकैकव्यसनाहता इति जना: सर्वैर्न को नश्यति ॥३१॥

अर्थ—जुआ से तो युधिष्ठिर नामक राजा राज्य से भ्रष्ट हुए, उनको नाना प्रकार के दुख उठाने पड़े, मांसभक्षण से बक नाम का राजा राज्य से भ्रष्ट हुआ, अंत में नरक गया और मद्य पीने से यदुवंशी राजा के पुत्र नष्ट हुए, वेश्या व्यसन के सेवन से चारुदत्त सेठ दरिद्रावस्था को प्राप्त हुए, और भी नाना प्रकार के दुखों का उनको सामना करना पड़ा और शिकार की लोलुपता से ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज्य से भ्रष्ट हुआ, उसे नरक जाना पड़ा, चोरी व्यसन से सत्यघोष नामक पुरोहित को गोबर खाना, सर्व धनहरण हो जाना आदि नाना प्रकार के दुखों को सहनकर अंत में मल्ल की मुष्टि से मरकर नरक को गया, परस्त्री सेवन से रावण को अनेक दुख भोगने पड़े तथा मरकर नरक गया। आचार्य कहते हैं कि एक-एक व्यसन के सेवन से जब इन मनुष्यों की ऐसी बुरी दशा हुई, ये नष्ट हुए तब जो मनुष्य सातों व्यसनों का सेवन करने वाला है वह क्यों नहीं नष्ट होगा? इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे किसी भी व्यसन के फंदे में न पड़े।

न परमियति[1] भवति[2] व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि।
त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तय: क्षुद्रबुद्धीनाम् ॥३२॥

अर्थ—आचार्य महाराज और भी उपदेश देते हैं कि जिन व्यसनों का ऊपर कथन किया गया है

१. मियंति, २. भवंति

वे ही व्यसन हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए किन्तु और भी व्यसन हैं वे यही हैं अल्पबुद्धि मिथ्यादृष्टियों की श्रेष्ठ मार्ग को छोड़कर निकृष्ट मार्ग में प्रवृत्ति हो जाना इसलिए जीवों को चाहिए कि वे व्यसनों की रक्षा के लिए निकृष्ट मार्गों में प्रवृत्ति न करें।

और भी आचार्य व्यसनों का दोष दिखाकर निषेध करते हैं—

सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथाः स्वर्गापवर्गार्गलाः
वज्राणि व्रतपर्वतेषु विषमाः संसारिणां शत्रवः।
प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेष्वेतेषु सद्धीधनैः
कर्तव्या न मतिर्मनागपि हितं वाञ्छद्भिरत्रात्मनः॥३३॥

अर्थ—जिन मनुष्यों की बुद्धि निर्मल है तथा जो अपनी आत्मा का हित चाहते हैं उनको कदापि व्यसनों की ओर नहीं झुकना चाहिए क्योंकि ये समस्त व्यसन दुर्गति को ले जाने वाले हैं तथा स्वर्ग मोक्ष के प्रतिबंधक हैं और समस्त व्रतों के नाश करने वाले हैं। प्राणियों के ये परम शत्रु हैं। प्रारम्भ में मधुर होने पर भी अंत में कटुक हैं इसलिए इनसे स्वप्न में भी हित की आशा नहीं होती।

आचार्य और भी उपदेश देते हैं—

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथच्युतानां मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
सङ्गं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥३४॥

अर्थ—हे भव्य जीवो! यदि तुम उत्तम मार्ग में जाना चाहते हो तो तुम कदापि मिथ्यादृष्टि, विपरीत बुद्धि, मार्ग भ्रष्ट, छली, व्यसनी और दुष्ट जीवों के साथ सम्बन्ध मत करो यदि तुमको सम्बन्ध ही करना है तो उत्तम मनुष्यों के साथ ही सम्बन्ध करो।

भावार्थ—जैसी संगति की जाती है उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है यदि तुम मिथ्यादृष्टि आदि दुष्ट पुरुषों के साथ संगति करोगे तो तुमको कदापि उत्तम मार्ग आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि तुम उत्तम मनुष्यों की संगति करोगे तो तुमको नाना प्रकार के गुणों की तथा उत्तम मार्ग की प्राप्ति होगी इसलिए यदि तुम उत्तम मार्ग की प्राप्ति करना चाहते हो तो तुमको उत्तम मनुष्यों की ही संगति करना चाहिए।

स्निग्धैरपि व्रजत मा सह सङ्गमेभिः क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम्।
स्नेहोऽपि सङ्गतिकृतः खलताश्रितानां लोकस्य पातयति निश्चितमश्रु नेत्रात् ॥३५॥

अर्थ—यह नियम है कि दुष्ट पुरुष जब अपना काम निकालना चाहते हैं तब मीठे वचनों से ही निकालते हैं किन्तु आचार्य इस बात का उपदेश देते हैं कि दुष्ट पुरुष चाहे जैसे सरल तथा मिष्टवादी क्यों न हो तो भी उनके साथ कदापि सज्जनों को सम्बन्ध नहीं करना चाहिए क्योंकि इस बात को प्रत्यक्ष देखो कि जब सरसों खलरूप में परिणत हो जाती है उस समय उससे निकला हुआ तेल आँखों

में लगाते ही मनुष्यों को अश्रुपात करा देता है।

भावार्थ—खल का अर्थ खल भी होता है तथा दुष्ट भी होता है। उसी प्रकार स्नेह का अर्थ प्रीति भी होता है तथा तेल भी होता है। जब तक सरसों अपने रूप में रहती है तब तक वह किसी का कुछ भी बिगाड़ नहीं करती किन्तु जिस समय उसकी खलरूप पर्याय पलट जाती है उस समय उससे उत्पन्न हुआ तेल आँखों में लगाते ही मनुष्यों को अश्रुपात करा देता है। उसी प्रकार जब तक मनुष्य सज्जन रहते हैं तब तक तो वे किसी का कुछ भी बिगाड़ नहीं करते किन्तु जिस समय वे दुष्ट हो जाते हैं उस समय उनसे उत्पन्न हुई प्रीति मनुष्यों को नाना प्रकार के दुखों का अनुभव कराती है इसलिए सज्जनों को चाहिए कि वे किसी भी दुष्ट के साथ सम्बन्ध न करें।

कलावेकः साधुर्भवति कथमप्यत्र भवने[1]
स चाघातः क्षुद्रैः कथमकरुणैर्जीवति चिरम्।
अतिग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चञ्चुचरतां
वकोटानामग्रे तरलशफरी गच्छति कियत् ॥३६॥

अर्थ—जिस समय ग्रीष्म ऋतु में तालाबों का पानी सूख जाता है उस समय पानी के अभाव से ही बेचारी मछलियाँ मर जाती हैं, यदि दैवयोग से दश पाँच बची भी रहें तो लंबी चोंचों के धारी बगुले उनको बात ही बात में गटक जाते हैं इसलिए ग्रीष्मऋतु में मछलियों का नाम निशान दृष्टिगोचर नहीं होता उसी प्रकार प्रथम तो इस कलिकाल में सज्जन उत्पन्न ही नहीं होते यदि दैवयोग से एक दो उत्पन्न भी होते हैं तो दया रहित दुष्ट पुरुषों के फंदे में फँसकर अधिक समय तक जी नहीं पाते इसलिए इस कलिकाल में प्रायः सज्जनों का अभाव सा ही है।

इह वरमनुभूतं भूरि दारिद्र्य दुःखं वरमतिविकराले कालवक्त्रे प्रवेशः।
भवतु वरमितोऽपि क्लेशजालं विशालं न च खलजनयोगाज्जीवितं वा धनं वा ॥३७॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि संसार में दरिद्रता का दुख भोगना अच्छा है अथवा मर जाना अच्छा है वा और भी सांसारिक नाना प्रकार की पीड़ाओं का सहन करना उत्तम है किन्तु दुष्टजन के सम्बन्ध से जीना तथा दुष्टजन के साथ धन कमाना उत्तम नहीं।

मुनिधर्म का कथन

आचारो दशधर्मसंयमतपोमूलोत्तराख्या गुणाः
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः।
वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं,
पर्य्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतेः॥३८॥

---
१. भुवने

अर्थ—जिस धर्म में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इस प्रकार पाँच प्रकार के आचार तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य इस प्रकार का दश धर्म तथा बारह प्रकार का संयम तथा बारह प्रकार का तप और आठ प्रकार के मूलगुण तथा चौरासी लाख उत्तरगुण तथा मिथ्यात्व, मोह, मद का त्याग और शम-दम, ध्यान तथा प्रमाद रहित स्थिति और वैराग्य तथा जिनशासन की महिमा के बढ़ाने वाले अनेक गुण और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप निर्मल रत्नत्रय तथा अंत में समाधि विद्यमान है ऐसा मुनियों का धर्म अक्षयपद आनन्द के लिए है।

स्वं शुद्धं प्रविहाय चिद्गुणमयंभ्रान्त्याणुमात्रेऽपि यत्,
सम्बन्धाय मतिः परे भवति तद् बंधाय मूढात्मनः।
तस्मात्त्याज्यमशेषमेव महतामेतच्छरीरादिकं,
तत्कालादि विनादियुक्तित इदं तत्त्यागकर्मव्रतम् ॥३९॥

अर्थ—अपने शुद्ध चैतन्य को छोड़कर परमाणुमात्र पर पदार्थों में भी चैतन्य गुण के भ्रम से यदि मूढ़ पुरुषों की बुद्धि लग जावे तो उस बुद्धि से केवल कर्मबंध ही होता है इसलिए सज्जन पुरुषों को शरीर आदि के समस्त पदार्थों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए। यदि आयु कर्म के प्रबल होने से शरीरादि का त्याग न हो सके तो शरीरादि के त्याग करने के लिए मुनिव्रत ही धारण करने योग्य है क्योंकि मुनिव्रत धारण करना ही शरीर आदि के त्याग की क्रिया है।

मुक्त्वा मूलगुणान्यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं,
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं,
रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान् ॥४०॥

अर्थ—युद्ध करते समय अनेक प्रकार के प्रहार होते हैं उनमें कई एक तो शिर के छेदने वाले होते हैं तथा कई एक अंगुलि के अग्रभाग के छेदने वाले होते हैं उनमें यदि कोई पुरुष शिर के छेदने वाले प्रहार को छोड़कर अंगुली के अग्रभाग को छेदन करने वाले प्रहार से रक्षा करे तो उसका जिस प्रकार उससे रक्षा करना व्यर्थ है उसी प्रकार जो यति मूलगुणों को छोड़कर शेष उत्तर गुणों के पालन करने के लिए प्रयत्न करते हैं तथा निरंतर पूजा आदि को चाहते हैं उनको आचार्य मूलछेदक दण्ड देते हैं इसलिए मुनियों को प्रथम मूलगुणव्रत पालना चाहिए पीछे उत्तरगुणों का पालन करना चाहिए।

आचेलक्य मूलगुण किसलिए पाला जाता है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो,
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।

कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचि रागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥४१॥

अर्थ—यदि संयमी वस्त्र रक्खे तो उसके मलिन होने पर धोने के लिए जल आदि का उनको आरम्भ करना पड़ेगा और यदि जल आदि का आरम्भ करना पड़ा तो उनका संयम ही कहाँ रहा तथा यदि वह वस्त्र नष्ट हो गया तब उनके चित्त में व्याकुलता होगी तथा उसके लिए यदि वे किसी से प्रार्थना करेंगे तो उनकी अयाचक वृत्ति छूट जायेगी और वस्त्रों को छोड़कर यदि वे कौपीन (लंगोट) ही रखे तो भी उसके खो जाने पर उनको क्रोध पैदा होगा इसलिए समस्त वस्त्रों का त्यागकर मुनिगणों के नित्य पवित्र राग का नाशक दिशा का मंडल ही वस्त्र है, ऐसा समझना चाहिए।

आचार्यवर लोच नामक मूलगुण को दिखाते हैं—

काकिन्या[१] अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते,
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम्।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैः,
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः॥४२॥

अर्थ—मुनिगण अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते जिससे कि वे दूसरे से मुंडन करा सकें तथा मुंडन के लिए छुरा, कैंची आदि अस्त्र भी नहीं रखते क्योंकि उनके रखने से क्रोधादि की उत्पत्ति से चित्त बिगड़ता है तथा वे जटा भी नहीं रख सकते क्योंकि जटाओं में अनेक जूं आदि जीवों की उत्पत्ति होती है इसलिए जटा रखने से हिंसा होती है तथा मुंडन कराने के लिए वे दूसरे से द्रव्य भी नहीं माँग सकते क्योंकि उनकी अयाचक वृत्ति का परिहार होता है इसलिए वैराग्य की अतिशय वृद्धि के लिए ही मुनिगण अपने हाथों से केशों को उपाटते हैं, इसमें अन्य कोई मानादि कारण नहीं है।

अब आचार्य स्थिति भोजन नामक मूलगुण को बताते हैं—

यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने,
भुञ्जे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनःसन्मतेः,
न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके सम्पद्यते तद्विना ॥४३॥

अर्थ—जो मुनिगण अपने शरीर में भी ममत्व कर रहित हैं तथा समाधिमरण करने में उत्साही हैं तथा श्रेष्ठ ज्ञान के धारक हैं उनकी विधि में यह कड़ी प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक हमारी खड़े होकर आहार लेने में तथा दोनों हाथों को जोड़ने में शक्ति मौजूद है तब तक हम भोजन करेंगे, नहीं तो कदापि न करेंगे जिससे उनको स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा उनको नरक नहीं जाना पड़ता किन्तु जो इस प्रतिज्ञा से रहित हैं उनको अवश्य नरक जाना पड़ता है।

१. ण्या

और भी आचार्य मुनिधर्म का वर्णन करते हैं—

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेः कारणं,
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमानेऽपि च।
तद्वास्यां हरिचंदनेऽपि च समःसंश्लिष्टतोऽप्यङ्गतो,
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुनिः ॥४४॥

अर्थ—विस्तीर्ण तप के आराधन करने पर भी यदि एक अपने शरीर में भी "यह मेरा है" ऐसा ममत्व हो जावे तो वह ममत्व ही संसार में परिभ्रमण का कारण हो जाता है तब यदि शरीर से अतिरिक्त धन-धान्य में ममता की जावेगी तो वह ममता क्या न करेगी? ऐसा जानकर तथा चाहे कोई उनके शरीर में कुल्हाड़ी मारे, चाहे उनके शरीर में चन्दन का लेप करे तो भी कुल्हाड़ी और चंदन में सम होकर मुनिगण क्षीर-नीर के समान आत्मा, शरीर का सम्बन्ध होने पर भी अपने में, अपने से, अपने को निरंतर भिन्न ही देखते हैं।

(शिखरिणी)

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा,
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमदो[1] सौधमथवा।
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ,
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् ॥४५॥

अर्थ—तथा उन शान्त रस के लोलुपी मुनियों के तृण तथा रत्न, मित्र और शत्रु, सुख तथा दुख, श्मशान भूमि और राजमन्दिर, स्तुति तथा निन्दा, मरण और जीवित दोनों समान है।

भावार्थ—जो मुनि परिग्रह से रहित हैं तथा शान्त स्वरूप हैं वे तृण से घृणा भी नहीं करते हैं तथा रत्न को अच्छा भी नहीं समझते हैं और अपने हित के करने वाले को मित्र नहीं समझते हैं तथा अहित के करने वाले को बैरी नहीं समझते हैं तथा सुख होने पर सुख नहीं मानते हैं दुख होने पर दुख नहीं मानते हैं और श्मशान भूमि को बुरी नहीं कहते हैं तथा राजमन्दिर को अच्छा नहीं कहते हैं तथा स्तुति होने पर संतुष्ट नहीं होते हैं तथा निन्दा होने पर रुष्ट नहीं होते हैं तथा जीवित मरण को समान मानते हैं।

वीतरागी इस प्रकार का विचार करते हैं—

(मालिनी)

वयमिह निजयूथभ्रष्टसारङ्गकल्पाः परपरिचयभीताः क्वापि किंचिच्चरामः।
विजन[2]मधिवसामो न व्रजामः प्रमादं [3]सुकृतमनुभवामो यत्र तत्रोपविष्टाः ॥४६॥

---

१. महो, २. मिह, ३. स्वकृत।

अर्थ—जिस प्रकार मृग अपने समूह से जुदा होकर तथा दूसरों से भयभीत होकर जहाँ तहाँ विचरता फिरता है तथा एकान्त में रहता है तथा प्रतिसमय प्रतिबुद्ध रहता है और जहाँ तहाँ बैठकर आनन्द भोगता है उसी प्रकार हमारे लिए भी वह कौन-सा दिन आयेगा जिस दिन हम अपने कुटुम्बियों से जुदे होकर तथा फिर उन से परिचय न हो जाये इससे भयभीत होकर हम भी यहाँ वहाँ विचरेंगे तथा एकान्तवास में रहेंगे और प्रमादी न बनेंगे तथा जहाँ-तहाँ बैठकर अपने आत्मानंद का अनुभव करेंगे।

और भी वीतरागी इस प्रकार की भावना करते रहते हैं—

कति न कति न वारान् भूपतिर्भूरिभूतिः,
कति न कति न वारानत्र जातोऽस्मि कीटः।
नियतमिति न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दुःखं,
जगति तरलरूपे किं मुदा किं शुचा वा ॥४७॥

अर्थ—इस संसार में कितनी-कितनी बार तो हम बड़ी-बड़ी संपत्ति के धारी राजा न हो गये तथा कितनी-कितनी बार इसी संसार में हम क्षुद्र कीड़े न हो चुके इसलिए यही मालूम होता है कि चंचलरूप इस संसार में किसी का सुख तथा दुख निश्चित नहीं है अतः सुख और दुख के होने पर हर्ष और विषाद कदापि नहीं करना चाहिए।

(पृथ्वी)

प्रतिक्षणमिदं हृदि स्थितमतिप्रशान्तात्मनो,
मुनेर्भवति संवरः परमशुद्धिहेतुर्ध्रुवम्।
रजःखलु पुरातनं गलति नो नवं ढौकते,
ततोऽपि निकटं भवेदमृतधाम दुःखोज्झितम् ॥४८॥

अर्थ—परम शांत मुद्रा के धारी मुनियों के इस प्रकार उपर्युक्त भावना करने से परम शुद्धि का करने वाला संवर होता है तथा उसके होते हुए जो कुछ प्राचीन कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं तब गल जाते हैं तथा नवीन कर्मों का आगमन भी बंद हो जाता है तथा उन मुनियों के लिए समस्त प्रकार के दुखों से रहित मुक्ति भी सर्वथा समीप हो जाती है।

और भी आचार्य मुनिधर्म की महिमा का वर्णन करते हैं—

(शिखरिणी)

प्रबोधो नीरन्ध्रं प्रवहणममन्दं पृथुतपः,
सुवायुर्यैः प्राप्तो गुरुगणसहायाः प्रणयिनः।
कियन्मात्रस्तेषां भवजलधिरेषोऽस्य च परः,
कियद्दूरे पारः स्फुरति महतामुद्यमयुताम् ॥४९॥

अर्थ—जिन मुनियों के पास छिद्ररहित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाज मौजूद है तथा अमन्द विस्तीर्ण तपरूपी पवन भी जिनके पास है तथा स्नेही बड़े-बड़े गुरु भी जिनके सहायी हैं उन उद्यमी महात्मा मुनियों के लिए यह संसाररूपी समुद्र कुछ भी नहीं है तथा इस संसाररूपी समुद्र का पार भी उनके समीप में ही है।

भावार्थ—जिस मनुष्य के पास छिद्ररहित जहाज तथा जहाज के लिए योग्य पवन तथा चतुर खेवटिया होते हैं वह मनुष्य बात ही बात में समुद्र की चौरस को तय कर लेता है उसी प्रकार जो मुनि सम्यग्ज्ञान के धारक हैं तथा विस्तीर्ण तप के करने वाले हैं और जिनके बड़े-बड़े गुरु भी सहायी हैं वे मुनि शीघ्र ही संसार समुद्र से तर जाते हैं तथा मोक्ष उनके सर्वथा समीप में आ जाता है।

आचार्य मुनियों को शिक्षा देते हैं—

(वसंततिलका)

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या,
मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन।
एतद्द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः,
क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ॥५०॥

अर्थ—भो मुनिगण! आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करो, लोक के रिझाने के लिए प्रयत्न मत करो तथा मोह को कृश करो, शरीर के कृश करने में कुछ भी नहीं रखा है क्योंकि जब तक तुम इन दो बातों को न करोगे तब तक तुम्हारा यम, नियम करना भी व्यर्थ है तथा तुम्हारा क्लेश सहना भी बिना प्रयोजन का है और तुम्हारे, नाना प्रकार के, किये हुए तप भी व्यर्थ हैं।

भावार्थ—जब तक ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव न किया जायेगा तथा मोह को कृश न किया जायेगा तब तक बाह्य में तुम चाहे जितना यम, नियम, उपवास, तप आदि करो सर्व तुम्हारे व्यर्थ हैं इसलिए सबसे प्रथम तुमको ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिए पीछे इन बातों पर ध्यान देना चाहिए।

और भी आचार्य मुनिधर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

(वंशस्था)

जुगुप्सते संसृतिमत्र मायया तितिक्षते प्राप्तपरीषहानपि।
न चेन्मुनिर्दुष्टकषायनिग्रहाच्चिकित्सति स्वान्तमघप्रशान्तये ॥५१॥

अर्थ—जो मुनि सर्वथा आत्मा के अहित करने वाले दुष्ट कषायों को जीतकर पापों के नाश के लिए अपने चित्त को स्वस्थ बनाना नहीं चाहता वह मुनि समस्त लोक के सामने कपट से संसार की निन्दा करता है तथा कपट से ही वह क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों को सहन करता है।

भावार्थ—संसार का त्याग तथा परीषहों को जीतना उसी समय कार्यकारी माना जाता है जबकि कषायों का नाश होवे तथा चित्त स्वस्थ रहे किन्तु जिन मुनियों का चित्त कषाय के नाश होने से शुद्ध ही नहीं हुआ है वे मुनि क्या संसार का त्याग कर सकते हैं? तथा क्या वे परीषहों को ही सहन कर सकते हैं; यदि ये संसार की निन्दा करें तथा परीषहों का सहन भी करें तो उनका वह सर्व कार्य ढोंग से किया हुआ ही समझना चाहिए। इसलिए मुनियों को चाहिए कि वे प्रथम कषाय आदि को नाशकर चित्त को शुद्ध बना लेवे पीछे संसार की निन्दा तथा परीषहों को सहन करे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हिंसा प्राणिषु कल्मषं भवति सा प्रारम्भतः सोऽर्थतः,
तस्मादेव भयादयोऽपि नितरां दीर्घा ततः संसृतिः।
तत्रासातमशेषमर्थत इदं मत्वेति यस्त्यक्तवान्,
मुक्त्यर्थी पुनरर्थमाश्रितवता तेनाहतः सत्पथः ॥५२॥

अर्थ—प्राणियों को मारने से पाप होता है तथा वह पाप आरंभ से होता है और वह आरंभ धन से होता है तथा धन के होते ही लोभ आदि की उत्पत्ति होती है और लोभ आदि के होने से दीर्घ संसार होता है तथा संसार से अनन्त दुख होते हैं इस प्रकार से सब बातें द्रव्य से होती हैं इस बात को जानकर मोक्ष के अभिलाषी मुनियों ने द्रव्य का त्याग कर दिया है किन्तु जिसने धन को आश्रयण किया है उसने सच्चे मार्ग का नाश ही कर दिया है ऐसा समझना चाहिए।

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये,
शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम्।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतं,
निर्ग्रन्थेष्वपि चैत्तदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः ॥५३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं निर्ग्रन्थ मुनि शय्या के कारण यदि घास आदि को भी स्वीकार कर लें तो वह स्वीकार भी उनके खोटे ध्यान के लिए होता है तथा निन्दा का करने वाला और निर्ग्रंथता में हानि पहुँचाने वाला होता है तथा लज्जा को करने वाला भी होता है तब वे निर्ग्रंथ यतीश्वर गृहस्थ के योग्य सुवर्ण आदि को कब रख सकते हैं? यदि इस काल में निर्ग्रंथ सुवर्ण आदि को रखें तो समझना चाहिए कि यह कलिकाल का ही माहात्म्य है।

(आर्या)

कादाचित्को बंधः क्रोधादेः कर्मणः सदा सङ्गात्।
नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहग्रहवतां सिद्धिः ॥५४॥

अर्थ—और भी आचार्य कहते हैं कि क्रोधादि कर्मों के द्वारा तो प्राणियों के कर्मों का बंध कभी-कभी ही होता है किन्तु परिग्रह से प्रतिक्षण बंध होता रहता है अतएव परिग्रहधारियों को किसी काल

में तथा किसी प्रदेश में भी सिद्धि नहीं होती। इसलिए भव्य जीवों को कदापि धनधान्य से ममता नहीं रखनी चाहिए।

(इंद्रवज्रा)

मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमत्र कृताभिलाषः ॥५५॥

अर्थ—स्त्री–पुत्र आदि की अभिलाषा का करना तो दूर रहा यदि मोक्ष के लिए भी अभिलाषा की जावे तो वह दोषस्वरूप समझी जाती है इसलिए वह मोक्ष की निषेध करने वाली होती है। इसीलिए जो मुनि अपनी आत्मा के रस में लीन हैं तथा मोक्ष के अभिलाषी हैं वे स्त्री पुत्र आदि में कब अभिलाषा कर सकते हैं।

भावार्थ—मोह के उदय से ही पदार्थों में इच्छा होती है तथा जब–तक मोह रहता है तब तक मोक्ष कदापि नहीं हो सकता इसलिए मोक्ष के लिए भी अभिलाषा करना दोष है अतः मोक्षाभिलाषी मुनियों को आत्मरस में ही लीन रहना चाहिए।

(पृथ्वी)

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो,
यदीन्द्रियसुखं सुखं तदिह कालकूटः सुधा।
स्थिरा[१] यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिच्चाम्बरे[२],
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदिन्द्रजालेऽपि च ॥५६॥

अर्थ—यदि परिग्रहधारियों को भी मुक्ति कही जावेगी तो अग्नि को भी शीतल कहना पड़ेगा तथा यदि इन्द्रियों से पैदा हुए सुख को भी सुख कहोगे तो विष को भी अमृत मानना पड़ेगा और यदि शरीर को स्थिर कहोगे तो आकाश में बिजली को भी स्थिर कहना पड़ेगा तथा संसार में रमणीयता कहोगे तो इन्द्रजाल में भी रमणीयता कहनी पड़ेगी। इसलिए इस बात को मानो कि जिस प्रकार अग्नि शीतल नहीं होती उसी प्रकार परिग्रहधारियों को कदापि मुक्ति नहीं हो सकती और जिस प्रकार विष अमृत नहीं होता उसी प्रकार इन्द्रिय सुख भी कदापि सुख नहीं हो सकता तथा जिस प्रकार बिजली स्थिर नहीं होती उसी प्रकार यह शरीर भी स्थिर नहीं हो सकता तथा जिस प्रकार इन्द्रजाल में रमणीयता नहीं होती उसी प्रकार संसार में भी रमणीयता नहीं हो सकती।

(मालिनी)

स्मरमपि हृदि येषां ध्यानवन्हिप्रदीप्ते,
सकलभुवनमल्लं दह्यमानं विलोक्य।

---

१. स्थिरो, २. तडिदम्बरं

कृतभिय इव नष्टास्ते कषाया न तस्मिन्,
पुनरपि हि समीयुः साधवस्ते जयन्ति ॥५७॥

अर्थ—वे यतीश्वर सदा इस लोक में जयवंत हैं जिन यतीश्वरों के हृदय में ध्यानरूपी अग्नि के जाज्वल्यमान होने पर तीनों लोक के जीतने वाले कामदेवरूपी प्रबल योद्धा को जलते हुए देखकर भय से ही मानों भाग गये तथा ऐसे भागे कि फिर न आ सके।

भावार्थ—जिन मुनियों के सामने कामदेव का प्रभाव हत हो गया है तथा जो अत्यन्त ध्यानी हैं और कषायों से रहित हैं उन मुनियों के लिए सदा मैं नमस्कार करता हूँ।

अब आचार्य गुरुओं की स्तुति करते हैं—

(उपेन्द्रवज्रा)

अनर्घ्यरत्नत्रयसम्पदोऽपि निर्ग्रंथतायाः पदमद्वितीयम्।
अपि प्रशान्ताः स्मरवैरिवध्वाः वैधव्यदास्ते गुरवो नमस्याः ॥५८॥

अर्थ—अमूल्य रत्नत्रयरूपी संपत्ति के धारी होकर भी जो निर्ग्रंथ पद के धारक हैं तथा शान्त मुद्रा के धारी होने पर भी जो कामदेव रूपी बैरी की स्त्री को विधवा करने वाले हैं ऐसे वे उत्तम गुरु सदा नमस्कार करने योग्य हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिए आचार्य विरोधाभास को दिखाते हैं कि जिसके अमूल्य रत्नत्रय मौजूद है वह परिग्रह से रहित कैसे हो सकते हैं तथा जो शान्त है वह कामदेव की स्त्री को विधवा कैसे बना सकता है इसलिए ऐसे चमत्कारी गुरु सदा वंदनीय ही है।

सारांश–जो रत्नत्रय के धारी हैं तथा निर्ग्रंथ हैं और शान्त मुद्रा के धारक हैं तथा कामदेव को जीतने वाले हैं उन मुनियों को सदा मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

आचार्य परमेष्ठी की स्तुति

(शार्दूलविक्रीडित)

ये स्वाचारमपारसौख्यसुतरोर्बीजं परं पञ्चधा
सद्बोधाः स्वयमाचरन्ति च परानाचारयन्त्येव च।
ग्रंथग्रंथिविमुक्तमुक्तिपदवीं प्राप्ताश्च यैः प्रापिताः
ते रत्नत्रयधारिणः शिवसुखं कुर्वन्तु नः सूरयः ॥५९॥

अर्थ—जो सद्ज्ञान के धारक आचार्य अपार सौख्यरूपी वृक्ष उसको उत्पन्न करने वाले पाँच प्रकार के आचार को स्वयं आचरण करते हैं तथा दूसरों को आचरण कराते हैं तथा जहाँ पर किसी प्रकार के परिग्रह का लेश नहीं ऐसी मुक्ति को स्वयं जाते हैं और दूसरों को पहुँचाते हैं इसलिए इस प्रकार

निर्मल रत्नत्रय के धारी आचार्यवर हमारे लिए मोक्षसुख को प्रदान करें।

(वसंततिलका)

भ्रान्तिप्रदेषु बहुवर्त्मसु जन्मकक्षे पन्थानमेकममृतस्य परं नयन्ति।
ये लोकमुन्नतधियः प्रणमामि तेभ्यस्तेनाप्यहं जिगमिषुर्गुरुनायकेभ्यः ॥६०॥

अर्थ—इस संसार में भ्रम को उत्पन्न करने वाले अनेक मार्गों में से जो गुरु लोक को सुख के देने वाले एक मोक्षमार्ग को ले जाते हैं तथा स्वयं उच्च ज्ञान के धारक हैं ऐसे उन श्रेष्ठ गुरुओं को उसी मार्ग में जाने की इच्छा करने वाला मैं भी मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

उपाध्याय परमेष्ठी की स्तुति

(शार्दूलविक्रीडित)

शिष्याणामपहाय मोहपटलं कालेन दीर्घेण य-
ज्जातं स्यात्पदलाञ्छितोज्ज्वलवचो-दिव्याञ्जनेन स्फुटम्।
ये कुर्वन्ति दृशं परामतितरां सर्वावलोके क्षमां
लोके कारणमन्तरेण [१]भिषजास्ते पान्तुनोऽध्यापकाः॥६१॥

अर्थ—जो उपाध्याय परमेष्ठी अनादिकाल से लगे हुए मोह के परदे को स्याद्वाद से अविरोधी ऐसे अपने उपदेशरूपी दिव्य अंजन से हटाकर शिष्यों की दृष्टि को अत्यन्त निर्मल तथा समस्त पदार्थों के देखने में समर्थ बनाते हैं ऐसे बिना कारण के ही वैद्य वे उपाध्याय मेरी इस संसार में रक्षा करें।

साधु परमेष्ठी की स्तुति

उन्मुच्यालयबंधनादपि दृढात्कायेऽपि वीतस्पृहा
श्चित्ते मोहविकल्पजालमपि यद्दुर्भेद्यमन्तस्तमः।
भेदायास्य हि साधयन्ति तदहो ज्योतिर्जितार्कप्रभं
ये सद्बोधमयं भवन्तु भवतां ते साधवः श्रेयसे॥६२॥

अर्थ—जो साधु परमेष्ठी अत्यन्त कठिन भी गृहरूपी बंधन से अपने को छुड़ाकर तथा अपने शरीर में भी इच्छारहित होकर कठिनता से भेदने योग्य ऐसे मोह से पैदा हुए विकल्पों के समूहरूप भीतरी अंधकार के नाश करने के लिए सूर्य की प्रभा को भी नीची करने वाली सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति को निरन्तर सिद्ध करते रहते हैं, ऐसे उन साधु परमेष्ठी के लिए नमस्कार है अर्थात् वे मेरे कल्याण के लिए होवे।

---
१. भिषजस्ते

वीतराग की महिमा का वर्णन

(वसंततिलका)

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोक,मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात्।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः, सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥६३॥

अर्थ—जिस वज्र के शब्द के भय से चकित होकर समस्त लोकमार्ग को छोड़ देते हैं ऐसे वज्र के गिरने पर भी जो शान्तात्मा मुनि, ध्यान से कुछ भी विचलित नहीं होते तथा जिन्होंने सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक से समस्त मोहान्धकार को नाश कर दिया है और जो सम्यग्दर्शन के धारी हैं वे मुनि परीषहों के जीतने में कब चलायमान हो सकते हैं? अर्थात् परीषह उनका कुछ भी नहीं कर सकते।

ग्रीष्मऋतु में पर्वत के शिखर पर ध्यानी मुनीश्वरों की स्तुति—

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि लसच्चण्डानिलोद्यद्दिशि
स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि प्रक्षीणनद्यम्भसि।
ग्रीष्मे ये गुरुमेदिनीध्रशिरसि ज्योतिर्निधायोरसि
ध्वान्तध्वंसकरं वसन्ति मुनयस्ते सन्तु नः श्रेयसे ॥६४॥

अर्थ—जिस ग्रीष्मऋतु में अत्यन्त तीक्ष्ण धूप पड़ती है तथा चारों दिशाओं में भयंकर लू चलती है तथा जिस ऋतु में अत्यन्त संताप को देने वाला गरम रेत फैला हुआ है तथा नदियों का पानी सूख जाता है ऐसी भयंकर ग्रीष्मऋतु में जो मुनि समस्त अन्धकार को नाश करने वाली सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति को अपने मन में रखकर अत्यन्त ऊँची पहाड़ी की चोटी पर निवास करते हैं उन मुनियों के लिए मेरा नमस्कार हो अर्थात् वे मुनि मेरे कल्याण के लिए होवे।

वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे स्थित मुनियों की स्तुति—

(शार्दूलविक्रीडित)

ते वः पान्तु मुमुक्षवः कृतरवैरब्दै रतिश्यामलैः
शश्वद्वारि वमद्भिरब्धिविषयक्षारत्वदोषादिव।
काले मज्जदिले पतद्गिरिकुले धावद्धुनीसंकुले
झंझावातविसंस्थुले तरुतले तिष्ठन्ति ये साधवः॥६५॥

अर्थ—जिस वर्षाकाल में काले-काले मेघ भयंकर शब्द करते हैं, समुद्र के क्षार दोष से ही मानो जो जहाँ तहाँ जल वर्षाते हैं, जिस काल में जमीन नीचे को धसक जाती है तथा पर्वतों से बड़े-बड़े पत्थर गिरते हैं तथा जल की भरी हुई नदियाँ सब जगह दौड़ती फिरती हैं तथा जो वर्षाकाल वृष्टि सहित पवन से भयंकर हो रहा है ऐसे भयंकर वर्षाकाल में जो मोक्षाभिलाषी मुनि वृक्षों के नीचे बैठ कर तप

करते हैं उन मुनियों के लिए नमस्कार है अर्थात् वे मुनि मेरी रक्षा करे।

शीतकाल में खुले हुए मैदान में तप करने वाले यतीश्वरों की स्तुति —

म्लायत्कोकनदे गलत्पिकमदे भ्रश्यद् द्रुमौघच्छदे,
हर्षद्रोमदरिद्रके हिमऋतावत्यन्तदुःखप्रदे।
ये तिष्ठन्ति चतुष्पथे पृथुतपः सौधस्थिताः साधवो,
ध्यानोष्णप्रहितोग्रशीतविधुरास्ते मे विदध्युः श्रियम् ॥६६॥

अर्थ—जिस शीतकाल में कमल कुम्हला जाते हैं तथा बन्दरों का मद गल जाता है और वृक्षों के पत्ते जल जाते हैं तथा जिस शीतकाल में वस्त्र रहित दरिद्रों के शरीर पर रोमांच खड़े हो जाते हैं और भी जो नाना प्रकार के दुखों का देने वाला है ऐसे भयंकर शीतकाल में अत्यन्त तपस्वी तथा ध्यान रूपी अग्नि से समस्त शीत को नाश करने वाले जो यतीश्वर खुले मैदान में निर्भयता से निवास करते हैं वे यतीश्वर मुझे अविनाशी लक्ष्मी प्रदान करें।

और भी मुनिधर्म के स्वरूप को आचार्य दिखाते हैं—

कालत्रये बहिरवस्थितजातवर्षा[१] शीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदुःखे।
आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि कायक्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे ॥६७॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्मज्ञान की कुछ भी परवाह न कर बाहर में रहकर वर्षा, शीत, गर्मी तीनों कालों में उत्पन्न हुए दुखों को सहन करते हैं उनका उस प्रकार का दुख सहना वैसा ही निरर्थक मालूम होता है जैसा कि धान्य के कट जाने पर खेत की बाड़ लगाना निरर्थक होता है इसलिए मुनियों को आत्मज्ञान पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणिः,
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालंबनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥६८॥

अर्थ—यद्यपि इस समय इस कलिकाल में तीन लोक के पूजनीय केवली भगवान् विराजमान नहीं हैं तो भी इस भरतक्षेत्र में समस्त जगत् को प्रकाश करने वाली उन केवली भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार श्रेष्ठ रत्नत्रय के धारी मुनि हैं इसलिए उन मुनियों की पूजन तो सरस्वती की पूजन है तथा सरस्वती की पूजन साक्षात् केवली भगवान् की पूजन है ऐसा भव्य जीवों को समझना चाहिए।

---

१. वर्ष

(शार्दूलविक्रीडित)

स्पृष्टा यत्र मही तदंघ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थतां,
तेभ्यस्तेपि सुराः कृताञ्जलिपुटा नित्यं नमस्कुर्वते।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते,
ये जैना यतयश्चिदात्मनिरता [१]ध्यानं समातन्वते ॥६९॥

अर्थ—जो यतीश्वर आत्मा में लीन होकर ध्यान करते हैं उन जैन यतीश्वरों के चरण कमलों से स्पृष्ट भूमि उत्तमतीर्थ बन जाती है तथा उन यतीश्वरों को हाथ जोड़ मस्तक नवाकर बड़े-बड़े देव आकर नमस्कार करते हैं तथा उनके स्मरण मात्र से ही जीवों के समस्त पाप गल जाते हैं इसलिए यतीश्वरों को सदा ध्यान में लीन रहना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दर्शनवृत्त[२]बोधनिचितः शान्तः शिवैषी मुनि-
र्मन्दैः स्यादवधीरितोऽपि विशदः साम्यं यदालम्ब्यते।
आत्मा तैर्विहतो यदत्र विषमध्वान्तश्रिते निश्चितं,
सम्पातो भवितोग्रदुःखनरके तेषामकल्याणिनाम् ॥७०॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का धारी तथा शांत और मोक्षाभिलाषी जो मुनि दुष्टों से अपमानित होकर भी स्वच्छ अंतःकरण से समता को धारण करता है उसकी तो आत्मा शुद्ध ही होती है किन्तु जो उनकी निन्दा करने वाले हैं उन्होंने अपनी आत्मा का घात कर लिया क्योंकि वे दुष्ट कल्याण रहित पुरुष ऐसे नरक में गिरेंगे जो नरक भयंकर अंधकार से व्याप्त है तथा कठिन दुःखों का स्थान है इसलिए मुनियों को चाहिए कि दुष्ट कैसी भी निंदा करें तो भी उनको समता ही धारण करनी योग्य है।

(स्रग्धरा)

मानुष्यं प्राप्य पुण्यात्प्रशममुपगता रोगवद्भोगजालं[३],
मत्वा गत्वा वनांतं दृशि विदिचरणे ये स्थिताःसंगमुक्ताः।
कः स्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैराश्रितानां मुनीनां,
स्तोतव्यास्तेमहद्भिर्भुवि य इह तदंघ्रिद्वयेभक्ति भाजः ॥७१॥

अर्थ—पुण्ययोग से मनुष्य भव को पाकर तथा शान्ति को प्राप्त होकर और भोगों को रोग तुल्य जानकर तथा वन में जाकर समस्त परिग्रह से रहित होकर जो यतीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में स्थित होते हैं, वचनागोचर गुणों से सहित उन मुनियों की प्रथम तो कोई स्तुति का करने वाला ही नहीं, यदि कोई स्तुति कर सके भी तो वे ही पुरुष उनकी स्तुति कर सकते हैं जो उन

---
१. स्नेहं, २. वृत्ति, ३. जातं।

मुनियों के चरण कमलों की आराधन करने वाले महात्मा पुरुष हैं।

इस प्रकार धर्मोपदेशामृताधिकार में मुनिधर्म का वर्णन समाप्त हुआ।

रत्नत्रयधर्म का कथन

(शार्दूलविक्रीडित)

तत्त्वार्थाप्ततपोभृतां यतिवराः श्रद्धानमाहुर्दृशं
ज्ञानं जानदनूनमप्रतिहतं स्वार्थावसन्देहवत्।
चारित्रं विरतिः प्रमादविलसत्कर्मास्त्रवाद्योगिनां
एतन्मुक्ति पथस्त्रयं च परमोधर्मो भवच्छेदकः ॥७२॥

अर्थ—गणधरादिदेव जीवादि पदार्थ तथा आप्त और गुरुओं पर श्रद्धान रखने को सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है तथा जो संशयरहित तथा पूर्ण है ऐसे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा प्रमाद सहित कर्मों के आगमन के रुक जाने को सम्यक्चारित्र कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही मुक्ति का मार्ग है तथा संसार को नाश करने वाला परमधर्म है।

(मालिनी)

हृदयभुवि दृगेकं बीजमुप्तं त्वशङ्काप्रभृतिगुणसदम्भः[१]सारिणीसिक्तमुच्चैः।
भवदवगमशाखश्चारुचारित्रपुष्पस्तरुरमृतफलेन प्रीणयत्याशु भव्यम् ॥७३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि अंतःकरणरूपी पृथ्वी में बोया हुआ तथा निःशंकित आदि आठ गुणरूपी उत्तम जल की भरी हुई नलियों से सींचा हुआ सम्यग्दर्शनरूपीबीज, सम्यग्ज्ञानरूपी शाखाओं का धारी तथा चारित्ररूपी पुष्प से सहित वृक्षरूप में परिणत होकर शीघ्र ही भव्य जीवों को मोक्षरूपी फल से संतुष्ट करता है।

और भी आचार्य रत्नत्रय की महिमा दिखाते हैं—

दृगवगमचरित्रालंकृतः सिद्धिपात्रं लघुरपि न गुरुः स्यादन्यथात्वे कदाचित्।
स्फुटमवगतमार्गो याति मन्दोऽपि गच्छन्नभिमतपदमन्यो नैव तूर्णोऽपि जन्तुः ॥७४॥

अर्थ—जिसको मार्ग मालूम है ऐसा मनुष्य यदि धीरे-धीरे चले तो भी जिस प्रकार अभिमत स्थान पर पहुँच जाता है किन्तु जिसको मार्ग कुछ भी नहीं मालूम है वह चाहे कितनी भी जल्दी चले तो भी वह अपने अभिमत स्थान पर नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार जो मुनि तप आदि का तो बहुत थोड़ा करने वाला है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का धारी है वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है किन्तु जो तप आदि का तो बहुत करने वाला है परन्तु सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय का धारी नहीं है, वह कितना भी प्रयत्न करे तो भी मोक्ष को नहीं पा सकता इसलिए मोक्षाभिलाषियों को

सम्यग्दर्शनादि की सबसे अधिक महिमा समझनी चाहिए।

वनशिखिनि मृतोऽन्धः सञ्चरन्बाढमंघ्रिद्वितयविकलमूर्ति वीक्षमाणोऽपि खञ्जः।
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥७५॥

अर्थ—वन में अग्नि लगने पर उस वन में रहने वाला अंधा तो देख न सका इसलिए दौड़ता हुआ भी मर गया तथा दोनों चरणों का लूला लगी हुई अग्नि को देखता हुआ दौड़ न सकने के कारण तत्काल भस्म हो गया और आँख तथा पैर सहित भी आलसी इसलिए मर गया कि उसको अग्नि लगने का श्रद्धान ही नहीं हुआ। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि केवल सम्यग्दर्शन तथा केवल सम्यग्ज्ञान और केवल सम्यक्चारित्र मोक्ष के लिए कारण नहीं हैं किन्तु तीनों मिले हुए ही हैं।

भावार्थ—यद्यपि अंधे को अग्नि का श्रद्धान तथा आचरण था तो भी देखना रूप ज्ञान न होने के कारण वह मर गया तथा पंगु को ज्ञान, श्रद्धान होने पर दौड़ना रूप आचरण नहीं था इसलिए भस्म हो गया। आलसी को ज्ञान भी था और आचरण भी था किन्तु श्रद्धान नहीं था इसलिए वह जलकर मर गया। यदि इन तीनों के पास तीनों चीजें होती तो उनमें से एक भी नहीं मरता इसलिए जुदे-जुदे सम्यग्दर्शन आदि केवल दुख ही देने वाले हैं किन्तु तीनों मिले हुए ही कल्याण के देने वाले हैं इसलिए भव्यजीवों को तीनों का ही आराधन करना चाहिए।

बहुभिरपि किमन्यैः प्रस्तरैः रत्नसंज्ञैर्वपुषिजनितखेदैर्भारकारित्वयोगात्।
हतदुरिततमोभिश्चारुरत्नैरनर्घ्यै स्त्रिभिरपि कुरुतात्मालंकृतिं दर्शनाद्यैः ॥७६॥

अर्थ—संसार में यद्यपि रत्न संज्ञा बहुत से पत्थरों की भी है किन्तु उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि वे केवल भारकारी होने के कारण शरीर को खिन्न करने वाले ही हैं इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे मुनीश्वरों! जो समस्त अंधकार के नाश करने वाले हैं तथा अमूल्य और मनोहर हैं ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी तीन रत्नों से ही अपनी आत्मा को शोभित करो ये ही वास्तविक रत्न है।

जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं, सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्विना स्यात्।
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥७७॥

अर्थ—जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है, चरित्र मिथ्याचरित्र कहलाता है प्राप्त हुआ भी मनुष्य जन्म न पाया हुआ सा कहलाता है। ऐसा सुखस्वरूप तथा मोक्ष रूपी सुख का देने वाला और निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी रत्न सदा इस लोक में जयवंत है।

---

१. सारणी

(आर्या)

भवभुजगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः।
मुक्ति - सुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥७८॥

अर्थ—संसाररूपी सर्प को नाश करने में नागदमनी तथा दुखरूपी दावानल के बुझाने के लिए जलवृष्टि और मोक्षरूपी सुखामृत की सरोवरी (तालाब) ऐसी समीचीन रत्नत्रयी सदा इस लोक में जयवंत है।

अब आचार्य निश्चय रत्नत्रय का वर्णन करते हैं—

(मालिनी)

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम्।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं व्रजति विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ॥७९॥

अर्थ—व्यवहारनय की अपेक्षा से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र जुदे-जुदे मालूम पड़ते हैं, निश्चयनय की अपेक्षा से इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है किन्तु ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं तथा समस्त लोकालोक को देखने वाले केवली भगवान् वास्तविक रीति से इन तीनों को चैतन्य से अभिन्न स्वरूप ही देखते हैं।

(उपेन्द्रवज्रा)

निरूप्य तत्त्वं स्थिरतामुपागता मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी।
अखण्डमेकं विशदं चिदात्मकं निरन्तरं पश्यति तत्परं महः ॥८०॥

अर्थ—जीवाजीवादि समस्त तत्त्वों को देखकर जिन सज्जनों की मति स्थिर हो गई है तथा शुद्धनय को आश्रयण करने वाली हो गई है वे ही मनुष्य निर्मल तथा उत्कृष्ट चित्स्वरूप ज्योति को देखते हैं।

(स्रग्धरा)

दृष्टिर्निर्णीतिरात्माह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः
शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्बंधविध्वंसकारि[1]।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि तथा स्याच्छुभोवाऽशुभोवा
बंधः संसारमेवं श्रुतनिपुणधियः साधवस्तं वदन्ति॥८१॥

अर्थ—आत्मारूपी निर्मल तेज में निश्चय (विश्वास) करना तो निश्चयसम्यग्दर्शन है तथा उसी तेज में जानपना निश्चयज्ञान है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानस्वरूप में स्थित रहना सम्यक्चारित्र है और इन तीनों की एकता कर्मबंध के नाश करने वाली है तथा इस निश्चयरत्नत्रय से जो बाह्य है

१. कारी।

सो बाह्य ही है और चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो बंध का ही कारण है तथा बंध का कारण होने से संसार का भी कारण है ऐसा श्रुतज्ञान के पारंगत आचार्य कहते हैं। इसलिये भव्यजीवों को निश्चयरत्नत्रय के ही लिये प्रयत्न करना चाहिए तथा व्यवहाररत्नत्रय को भी सर्वथा न छोड़कर निश्चयरत्नत्रय का साधक समझना चाहिए।

॥ इस प्रकार रत्नत्रय का वर्णन समाप्त हुआ॥

दशलक्षणधर्म का कथन

उत्तमक्षमाधर्म का स्वरूप

(मालिनी)

जडजनकृतबाधाक्रोधहासाप्रियादावपि सति न विकारं यन्मनो याति साधोः।
अमलविपुल[1]चित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ शिवपथपथिकानां सत्सहायत्वमेति ॥८२॥

अर्थ—मूर्खजनों से किए हुए बंधन हास्य आदि के होने पर तथा कठोर वचनों के बोलने पर जो साधु अपने निर्मल धीर-वीर चित्त से विकृत नहीं होता उसी का नाम उत्तमक्षमा है तथा वह उत्तमक्षमा मोक्षमार्ग को जाने वाले मुनियों को सबसे प्रथम सहायता करने वाली है।

(वसंततिलका)

श्रामण्यपुण्यतरुरत्र[2] गुणौघशाखापत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्त्वा।
याति क्षयं क्षणत एव घनोग्रकोपदावानलात् त्यजत तं यतयोऽतिदूरम् ॥८३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि गुणरूपी जो शाखा पत्र-फूल से सहित ऐसा यह यतिरूपी वृक्ष है यदि इसमें भयंकर क्रोधरूपी दावानल प्रवेश कर जावे तो यह किसी प्रकार फल न देकर बात ही बात में नष्ट हो जाता है इसलिए यतीश्वरों को चाहिए कि क्रोध आदि को वे दूर से ही छोड़ देवें।

भावार्थ—जिस वृक्ष पर नानाप्रकार की मनोहर शाखा मौजूद हैं तथा पत्र फूलों से भी जो शोभित हो रहा है और अल्पकाल में ही जिस पर फल आने वाले हैं ऐसे वृक्ष में यदि अग्नि प्रवेश कर जावे तो वह शीघ्र ही जल जाता है तथा उस पर किसी प्रकार का फल नहीं आता। उसी प्रकार जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि गुणों से सहित है किन्तु अभी तक उसके क्रोध, मानादिक शान्त नहीं हुए हैं ऐसे मुनि को कदापि स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए मुनियों को चाहिए कि वे क्रोधादि को अपने पास भी न फटकने देवें।

॥ उत्तमक्षमाधारी इसप्रकार विचार करते हैं॥

(शार्दूलविक्रीडित)

---

१. वित्ते, २. रुच्च

तिष्ठामो वयमुज्वलेन मनसा रागादिदोषोज्झिता,
लोकः किञ्चिदपि स्वकीयहृदये स्वच्छाचरो मन्यताम्।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा,
मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वयं लप्स्यते ॥८४॥

अर्थ–रागद्वेषादि से रहित होकर हम तो अपने उज्ज्वल चित्त से रहेंगे। स्वेच्छाचारी यह लोक अपने हृदय में चाहे हमको भला बुरा कैसा भी मानो क्योंकि सभी पुरुषों को अपने आत्मा की शुद्धि करनी चाहिए और इस लोक में बैरी अथवा मित्रों से हमको क्या है? अर्थात् वे हमारा कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि जो हमारे साथ द्वेषरूप तथा प्रीतिरूप परिणाम करेगा उसका फल उसको अपने आप मिल जायेगा।

और भी उत्तमक्षमा वाला क्या चिन्तन करता है इस बात को आचार्य दिखाते हैं–

(स्रग्धरा)

दोषानाघुष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी
[१]मत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्यराशि-
र्मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि ॥८५॥

अर्थ–मेरे दोषों को सबके सामने प्रकट कर संसार में दुर्जन सुखी होवे तथा धन का अर्थी मेरे समस्त धन आदि को ग्रहण कर सुखी होवे तथा बैरी मेरे जीवन को लेकर सुखी होवे और जिनको मेरे स्थान के लेने की अभिलाषा है, वे स्थान लेकर आनन्द से रहें तथा जो रागद्वेष रहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें वे मध्यस्थ रहकर ही सुख से रहें। इस प्रकार समस्त जगत् सुख से रहो किन्तु किसी भी संसारी को मुझसे दुख न पहुँचे ऐसा मैं सबके सामने पुकार-पुकार कर कहता हूँ।

(शार्दूलविक्रीडित)

किं जानासि न वीतरागमखिलं त्रैलोक्यचूडामणिं
किं तद्धर्ममुपाश्रितं न भवता किं वा न लोको जडः।
मिथ्यादृग्भिरसज्जनैरपटुभिः किञ्चित्कृतोपद्रवात्-
यत् कमार्जनहेतुमस्थिरतया बाधां मनो मन्यसे ॥८६॥

अर्थ–मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्ख जनों से किए हुए उपद्रव से चंचल होकर कर्मों के पैदा करने में कारणभूत ऐसी वेदना का तू अनुभव करता है सो क्या? हे मन तीन लोक के पूजनीक वीतरागपने को तू नहीं जानता है अथवा जिस धर्म का तूने आश्रय किया है उस धर्म को तू नहीं जानता है अथवा यह

---

१. तत्

समस्त लोक अज्ञानी जड़ है इस बात का तुझे ज्ञान नहीं है।

भावार्थ-तीन लोक के पूजनीक वीतरागभाव को जानता हुआ भी तथा सच्चे धर्म का अनुयायी होकर भी तथा समस्त लोक को जड़ समझता हुआ भी 'हे मन' मिथ्यादृष्टियों से दिये हुए दुख से दु:खित होता है। यह बड़ा आश्चर्य है।

मार्दवधर्म का वर्णन

(वसंततिलका)

धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेयं जात्यादिगर्वपरिहारमुशन्ति सन्तः।
तद्धार्यते किमुत बोधदृशा समस्तं स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः ॥८७॥

अर्थ—उत्तम पुरुष जाति, बल, ज्ञान, कुल आदि गर्वों के त्याग को मार्दवधर्म कहते हैं तथा यह धर्मों का अंगभूत है। इसलिए जो मनुष्य अपनी सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से समस्त जगत् को स्वप्न तथा इन्द्रजाल के तुल्य देखते हैं वे अवश्य ही इस मार्दवनामक धर्म को धारण करते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दंदह्यमानेऽग्निभिः
कायादौ तु जरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम्।
इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिनः भास्वद्विवेकोज्वले[1]
गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ॥८८॥

अर्थ—अत्यन्त मनोहर भी है किन्तु जिसके चारों तरफ अग्नि जल रही है ऐसे घर के बचने में जिस प्रकार अंशमात्र भी आशा नहीं की जाती। उसी प्रकार जो शरीर वृद्धावस्था से सहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को धारण करता रहता है वह शरीर सदाकाल रहेगा यह कब विश्वास हो सकता है? इस प्रकार निरन्तर विवेक से अपने निर्मल हृदय में विचार करने वाले मुनि के समस्त पदार्थों में अभिमान करने के लिए अवसर ही नहीं मिल सकता इसलिए मुनियों को सदा ऐसा ही ध्यान करना चाहिए।

आर्जवधर्म का वर्णन

हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत्।
धर्मो निकृतिरधर्मो द्वाविह 'सुरसद्मनरकपथौ' ॥८९॥

अर्थ—मन में जो बात होवे उसी को वचन से प्रकट करना (न कि मन में कुछ दूसरा होवे तथा वचन से कुछ दूसरा ही बोले) इसको आचार्य आर्जवधर्म कहते हैं तथा मीठी बात लगाकर दूसरे को

१. श्श्वद्विवेकोज्ज्वले (लं)

ठगना इसको अधर्म कहते हैं और इसमें आर्जवधर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अधर्म नरक को ले जाने वाला होता है इसलिए आर्जवधर्म के पालन करने वाले भव्य जीवों को, किसी के साथ माया से बर्ताव नहीं करना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपिच्छायाविघातं गुणे-
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः शमादिष्वलम्।[1]
सर्वे तत्र यदासते विनिभृताः क्रोधादयस्तत्वत-
स्तत्पापं-बत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरं भ्राम्यति॥९०॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यदि एक बार भी किसी के साथ मायाचारी की जावे तो वह मायाचारी बड़ी कठिनता से संचय किए हुए अहिंसा, सत्यादि मुनियों के गुणों को फीका बना देती है अर्थात् वे गुण आदरणीय नहीं रहते और उस मायारूपी मकान में नाना प्रकार के क्रोधादि शत्रु छिपे बैठे रहते हैं और उस मायाचार से उत्पन्न हुए पाप से जीव नानाप्रकार के दुर्गति के पथ में भ्रमण करता रहता है इसलिए मुनियों को माया अपने पास नहीं फटकने देना चाहिए।

सत्यधर्म का वर्णन

(आर्या)

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च।
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥९१॥

अर्थ–उत्कृष्ट ज्ञान के धारण करने वाले मुनियों को प्रथम तो बोलना ही नहीं चाहिए। यदि बोले तो ऐसा वचन बोलना चाहिए जो समस्त प्राणियों के हित का करने वाला हो तथा परमित हो और अमृत के समान प्रिय हो तथा सर्वथा सत्य हो किन्तु जो वचन जीवों को पीड़ा देने वाला हो तथा कड़वा हो तो उस वचन की अपेक्षा मौन साधना ही अच्छा है।

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते।
भवत्याराधिता सद्भिर्जगत्पूज्या च भारती ॥९२॥

अर्थ—जो मनुष्य सत्य वचन बोलने वाला है अर्थात् सत्य व्रत का पालन करने वाला है उसके समस्त व्रत विद्यमान है। सज्जन पुरुष तीन लोक में पूजनीय सरस्वती को भी सिद्ध कर लेता है।

भावार्थ–सरस्वती भी उसके आधीन हो जाती है।

१. समाधिष्वलम् (ष्वपि)

(शार्दूलविक्रीडित)

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते
सद्भूपत्वसुरत्वसंसृतिसरित्पाराप्तिमुख्यं फलम्।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतां
यत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते ॥९३॥

अर्थ—तथा और भी आचार्य कहते हैं कि सत्यवादी मनुष्य परभव में जाकर श्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा बनते हैं तथा इन्द्रादि फल को प्राप्त कर लेते हैं और सबसे उत्कृष्ट मोक्षरूपी फल को भी प्राप्त कर लेते हैं यह बात तो दूर रही किन्तु इसी भव में वे चन्द्रमा के समान उत्तम कीर्ति को पा लेते हैं तथा शिष्ट मनुष्य उनको बड़ी प्रतिष्ठा से देखते हैं और वे सज्जन कहे जाते हैं इत्यादि नानाप्रकार के उत्तम फल उनको मिलते हैं जो कि सर्वथा अवर्णनीय है। इसलिए सज्जनों को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए।

शौचधर्म का वर्णन

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेतः।
[१]दुर्भेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ॥९४॥

अर्थ—जो परस्त्री तथा पराये धन में इच्छारहित है तथा किसी भी जीव के मारने की जिसकी भावना नहीं है और जो अत्यन्त दुर्भेद्य लोभ क्रोधादि मल का हरण करने वाला है ऐसा चित्त ही शौच धर्म है किन्तु उससे भिन्न कोई शौचधर्म नहीं है।

भावार्थ–गंगा आदि नदियों में स्नान भी किया तथा पुष्कर आदि तीर्थों में भी गये किन्तु मन लोभ आदि से ही संयुक्त बना रहा तो कदापि शौचधर्म नहीं पल सकता इसलिए मन को सबसे पहले शुद्ध करना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

गंगासागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि
स्नातस्यापि न जायते तनुभृतः प्रायो विशुद्धिः परा।
मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो बाह्येऽतिशुद्धोदकै
र्धौतं किं बहुशोऽपि शुद्ध्यति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ॥९५॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं जिस प्रकार अत्यन्त घृणित मद्य से भरा हुआ घड़ा यदि बहुत बार शुद्ध जल से धोया भी जावे तो भी वह शुद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार जो मनुष्य बाह्य में गंगा पुष्कर आदि तीर्थों में स्नान करने वाला है किन्तु उसका अंतःकरण नानाप्रकार के क्रोधादि कषायों से मलीमस है

---
[१]दुश्छेद्या

तो वह कदापि उत्कृष्ट शुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए मनुष्य को सबसे प्रथम अपने अंत:करण को शुद्ध करना चाहिए क्योंकि जब तक अंत:करण शुद्ध न होगा तब तक सर्व बाह्य क्रिया व्यर्थ है।

संयमधर्म का वर्णन

(आर्या)

जन्तुकृपार्दितमनस: समितिषु साधो: प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रियपरिहार:[1] संयममाहुर्महामुनय: ॥९६॥

अर्थ–जिसका चित्त जीवों की दया से भीगा हुआ है तथा जो ईर्या, भाषा, एषणा आदि पाँच समितियों का पालन करने वाला है ऐसे साधु के जो षट्काय के जीवों की हिंसा का तथा इन्द्रियों के विषयों का त्याग है उसी को गणधरादिदेव संयमधर्म कहते हैं।

भावार्थ—जब तक दया से चित्त भीगा न रहेगा तथा ईर्या, भाषा, एषणा आदि समितियों का पालन न किया जायेगा और समस्त जीवों की हिंसा का तथा इन्द्रियों के विषयों का त्याग न किया जायेगा, तब तक कदापि संयमधर्म नहीं पल सकता इसलिए संयमियों को उपर्युक्त बातों पर विशेषतया ध्यान देना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादय-
स्तेष्वेवाप्तवच:श्रुति:स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।
प्राप्ते ते अपि[2] निर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयम: ॥९७॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि प्रथम तो इस संसाररूपी गहन वन में भ्रमण करते हुए प्राणियों को मनुष्य होना ही अत्यन्त कठिन है किन्तु किसी कारण से मनुष्य जन्म प्राप्त भी हो जावे तो उत्तम ब्राह्मणादि जाति मिलना अति दु:साध्य है। यदि किसी प्रबल दैवयोग से उत्तम जाति भी मिल जावे तो अर्हन्त भगवान् के वचनों का सुनना बड़ा दुर्लभ है यदि उनके सुनने का भी सौभाग्य प्राप्त हो जावे तो संसार में अधिक जीवन नहीं मिलता यदि अधिक जीवन भी मिले तो सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होनी अतिकठिन है यदि किसी पुण्य के उदय से अखण्ड तथा निर्मल सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी हो जावे तो उस संयमधर्म के बिना वे स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फल के देने वाले नहीं हो सकते इसलिए सबकी अपेक्षा संयम अतिप्रशंसनीय है अत: ऐसे संयम की अवश्य ही रक्षा करना चाहिए।

---

१. परिहारं, २. अति।

तपधर्म का वर्णन

(आर्या)

कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद् द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥९८॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से भले प्रकार वस्तु के स्वरूप को जानकर ज्ञानावरणादि कर्ममल के नाश की बुद्धि से जो तप किया जाता है वही तप कहा गया है तथा वह तप मूल में बाह्य, अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार है और १. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५ विविक्तशय्यासन, ६. कायक्लेश, इस रीति से छह प्रकार का बाह्य तथा १.प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैय्यावृत्त्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग, ६. ध्यान; इस प्रकार छह प्रकार का अभ्यन्तर इस रीति से उस तप के बारह भी भेद हैं तथा वह तप संसाररूपी समुद्र से पार करने के लिए जहाज के समान है अर्थात् मोक्ष का देने वाला है।

(पृथ्वी)

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठात्
तपः सुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः।
अतो हि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥९९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं यद्यपि क्रोधादि कषायरूपी उद्धत तथा प्रबल चौरों का समूह दुर्जय है अर्थात् साधारण रीति से जीतने में नहीं आ सकता तो भी जिस समय तपरूपी प्रबल योद्धा उसके सामने आता है उस समय उसकी कुछ भी तीन-पाँच नहीं चलती अर्थात् बात ही बात में वह जीत लिया जाता है इसलिए जो योगीश्वर तपरूप सुभट के साथ धर्मरूपी लक्ष्मी से युक्त है वह मोक्षरूपी नगर के मार्ग में निरुपद्रव तथा सुख से चला जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य विदेश को निकले तथा उसके पास लक्ष्मी भी हो किन्तु उसके पास कोई सुभट न हो तो वह बात ही बात में भयंकर डाकुओं से लूट लिया जाता है परन्तु यदि उसके पास थोड़े से भी प्रबल योद्धा होवें तो उसका डाकू कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते अर्थात् उन डाकुओं को योद्धा तत्काल जीत लेते हैं उसी प्रकार संसार में कषाय तथा विषयरूपी योद्धा यद्यपि अत्यन्त दुर्जय हैं किन्तु जिस मुनि के पास तपरूपी प्रबल सुभट मौजूद हैं उसका वे कुछ भी नहीं कर सकते तथा वे मुनि उपद्रवरहित सुख से मोक्ष को चले जाते हैं इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनियों को तप सबसे प्रिय समझना चाहिए।

(मन्दाक्रान्ता)

मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्यो
जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात्।
स्तोकं तेन प्रसभमखिलं कृच्छ्रलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलति तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥१००॥

अर्थ–आचार्य कहते हैं कि हे जीव जिस प्रकार समस्त समुद्र की अपेक्षा जल का कण अत्यन्त छोटा होता है उसी प्रकार तप के करने से बहुत थोड़े दुख का तुझे अनुभव करना पड़ता है किन्तु जिस समय मिथ्यात्व के उदय से तू नरक जायेगा उस समय तुझको नाना प्रकार के छेदन भेदन आदि असह्य दुखों का सामना करना पड़ेगा तो भी तू न जाने तप से क्यों भयभीत होता है? तथा तेरी तप के करने में क्या हानि है?।

त्यागधर्म का वर्णन

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
स त्यागो वपुरादिनिर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
राकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः ॥१०१॥

अर्थ—शास्त्रों का भलीभाँति व्याख्यान करना तथा मुनियों को पुस्तकें तथा स्थान और संयम के साधन पिच्छिका कमण्डलु आदि का देना सदाचारियों का उत्कृष्ट त्याग धर्म है और मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा विचार कर अत्यन्त निकट शरीर में भी ममता छोड़ देना आकिंचन्य नामक धर्म है तथा वह यति के होता है और वह समस्त संसार का नाश करने वाला है तथा समस्त श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा वह आदरणीय है।

आकिंचन्यधर्म का स्वरूप वर्णन

(शिखरिणी)

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिताः
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः।
तपस्यन्तोन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतः
सहायाः स्युर्ये ते जगति यमिनो दुर्लभतराः ॥१०२॥

अर्थ—जिनका सर्वथा मोह गल गया है तथा अपने आत्मा के हित में ही निरन्तर लगे रहते हैं और सुन्दर चारित्र के धारण करने वाले हैं तथा घर, स्त्री, पुत्रादि को छोड़कर मोक्ष के लिए तप करते

हैं वे मुनि संसार में विरले ही हैं तथा जो स्वत: अपने हित के लिए तप करने वाले हैं तथा दूसरे तपस्वियों के लिए जो शास्त्रादि का दान करते हैं और उनके सहायी भी हैं ऐसे योगीश्वर तो संसार के बीच में अत्यन्त ही दुर्लभ हैं अर्थात् बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।

परं मत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा,
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते,
जिनेन्द्राज्ञाभंगो भवति च हठात् कल्मषमृषेः ॥१०३॥

अर्थ—समस्त शास्त्र के जानने वाले वीतरागी ने अपनी आत्मा से समस्त वस्तु को भिन्न जानकर सबका त्याग कर दिया है। यदि कहोगे कि सबको छोड़ते समय शरीर, पुस्तकादि का क्यों नहीं त्याग किया तो उसका समाधान यही है कि उनकी शरीरादि में भी किसी प्रकार की ममता नहीं रही है इसलिए वे मौजूद भी, नहीं मौजूद की तरह ही है अर्थात् मुनियों का शरीरादि, बिना आयुकर्म के नाश हुए छूट नहीं सकता यदि वे बीच में ही छोड़ देवे तो उनको प्राण घात करने के कारण हिंसा का भागी होना पड़ेगा। इसलिए शरीरादि तो रहता है किन्तु वे शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखते परन्तु यदि वे शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व करें तो उसको जिनेन्द्र की आज्ञाभंगरूप महान दोष का भागी होना पड़े अर्थात् जब तक ममत्व रहेगा तब तक वे मुनि ही नहीं कहलाये जा सकते।

ब्रह्मचर्यधर्म का वर्णन

(स्रग्धरा)

यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्णदुःखौघधारं
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृतिभ्रान्तिसंसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमतिः शान्तमोहः प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिवहरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम् ॥१०४॥

अर्थ—जिस प्रकार कुम्भकार का चाक जमीन के आधार से चलता है तथा उस चाक की तीक्ष्ण धारा रहती है और उसके ऊपर मिट्टी का पिण्ड भी रहता है तथा वह चाक नाना प्रकार के कुशूल, स्थास आदि घट के विकारों को करता है उसी प्रकार संसाररूपी चाक की आधार यह स्त्री है अर्थात् यह स्त्री न होती तो कदापि संसार में भटकता न फिरता तथा इस संसाररूपी चाक में अत्यन्त तीक्ष्ण दुखों का समूह ही धार है अर्थात् संसार में नाना प्रकार के नरकादि दुखों का सामना करना पड़ता है और इस संसाररूपी चाक के ऊपर नाना प्रकार के जीव जो हैं वे ही पिण्ड हैं तथा वह संसाररूपी चाक देव, मनुष्यादि नाना प्रकार के विकार कराकर जीवों को भ्रमण कराने वाला है अत: स्त्री ही संसार चक्र का कारण है इसलिए जो मोक्ष का अभिलाषी मनुष्य उन स्त्रियों को माता, बहिन, पुत्री के समान मानता है उसी के उत्कृष्ट धर्म का भलीभाँति पालन होता है अत: ब्रह्मचारी मनुष्यों को चाहिए कि वे कदापि

स्त्रियों के साथ सम्बन्ध न रखें।

(मालिनी)

अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्याः
हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदंघ्रीः
प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति ॥१०५॥

अर्थ—जो पुरुष निरन्तर स्त्रियों के हृदय में प्रीति उपजावने वाले हैं अर्थात् जिनको स्त्रियाँ चाहती हैं यद्यपि वे भी संसार में धन्य हैं परन्तु जिन मनुष्यों के हृदय में स्त्रियाँ स्वप्न में भी निवास नहीं करती वे उनसे भी अधिक धन्य हैं तथा उन वीतरागी पुरुषों के चरण कमलों को स्त्रियों के प्रिय पात्र बड़े-बड़े चक्रवर्ती आदि भी शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं इसलिए जिन पुरुषों को संसार में अपनी कीर्ति फैलाने की इच्छा है उनको कदापि स्त्रियों के जाल में नहीं फँसना चाहिए।

(स्रग्धरा)

वैराग्यत्यागदारुद्वयकृतरचना चारुनिश्रेणिका यैः
पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः।
योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमित्येषु केषां
नो धर्मेषु त्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयमानेषु हृष्टिः॥१०६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसके इधर-उधर वैराग्य तथा त्यागरूपी मनोहर दो काष्ट लगे हुए हैं तथा जिसमें बड़े-बड़े मजबूत दशधर्मरूपी पादस्थान (दण्डे) मौजूद हैं ऐसी सीढ़ी मोक्षरूपी महल को चढ़ने की इच्छा करने वाले मनुष्य के चढ़ने के लिए योग्य है क्योंकि जो तीन लोक के पति इन्द्रादिकों से वन्दनीक हैं उन दश धर्मों के धारण करने में किसको हर्ष नहीं हो सकता है ? अर्थात् समस्त मोक्षाभिलाषी उनको हर्ष के साथ धारण कर सकते हैं।

॥ इस प्रकार दशधर्म का निरूपण हो चुका॥

शुद्धात्मा की परणतिरूप धर्म का वर्णन

(शार्दूलविक्रीडित)

निःशेषामलशीलसद्गुणमयीमत्यन्तसाम्यस्थितां
वन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम्।
यत्रानन्तचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं
न प्राप्नोति जरादिदुःसहशिखः संसारदावानलः॥१०७॥

अर्थ—समस्त निर्मल शील गुणस्वरूप तथा सर्वथा समतारूप अवस्था में होने वाली और

उत्कृष्ट आत्मा से प्रीति कराने वाली तथा जिसके होने पर किसी प्रकार का कर्त्तव्य बाकी नहीं रहता ऐसी स्वस्थता को मैं नमस्कार करता हूँ जिस अनंत विज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप, स्वस्थतारूपी अमृत नदी के भीतर रहे हुए आत्मा को जरा आदि दु:सह शिखा को धारण करने वाला भी संसाररूपी बड़वानल प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई नदी के जल में प्रवेश कर जावे तो उसका भयंकर अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती उसी प्रकार जो अनन्तचतुष्टयस्वरूप स्वस्थतारूपी अमृत नदी में प्रविष्ट है उसको असह्य भी संसाररूपी बड़वाग्नि अंशमात्र भी नहीं सता सकती।

आयातेऽनुभवे भवारिमथने निर्मुक्तमूर्त्याश्रये
शुद्धेऽन्यादृशि सोमसूर्यहुतभुक्कान्तेरनन्तप्रभे।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरान्नि:शेषवस्त्वन्तरं
तद्वन्दे विपुलप्रमोदसदनं चिद्रूपमेकं मह: ॥१०८॥

अर्थ—समस्त कर्मादि बैरियों के नाश करने वाले तथा शरीरादि के आश्रय से रहित अर्थात् जिसको किसी प्रकार के शरीर आदि का आश्रय नहीं है और शुद्ध तथा दूसरे के प्रत्यक्ष के अगोचर तथा चन्द्रमा-सूर्य और अग्नि से भी अनन्तगुणी प्रभा को धारण करने वाले जिस चैतन्यस्वरूप उत्कृष्ट तेज के अनुभव होने पर बात ही बात में समस्त पर पदार्थ अस्त हो जाते हैं ऐसे अनेक प्रकार के प्रमोद को पैदा करने वाले उस चैतन्यस्वरूप तेज को मैं शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

जातिर्याति न यत्र यत्र च मृतो मृत्युर्जरा जर्जरा
जाता यत्र न कर्मकायघटना नो वाग्रुजो [1]व्याधय:।
यत्रात्मैव परं चकास्ति विशदज्ञानैकमूर्ति: विभु-
र्नित्यं तत्पदमाश्रिता निरुपमा: सिद्धा: सदा पान्तु व: ॥१०९॥

अर्थ—जहाँ पर न जन्म है, न मरण है, न जरा है, न कर्मों का तथा शरीर का सम्बन्ध है, न वाणी है और न रोग है तथा जहाँ पर निर्मलज्ञान को धारण करने वाला और प्रभु आत्मा सदा प्रकाशमान है ऐसे उस अविनाशी पद में रहने वाले उपमा रहित (अर्थात् जिनको किसी की उपमा ही नहीं दे सकते ऐसे) सिद्ध भगवान् मेरी रक्षा करें अर्थात् ऐसे सिद्धों की मैं शरण लेता हूँ।

दुर्लक्ष्येपि चिदात्मनि श्रुतबलात्किंचित्स्वसंवेदनात्
ब्रूम: किंचिदिह प्रबोधनिधिभिर्ग्राह्यं न किञ्चिच्छलम्।
मोहे राजनि कर्मणामतितरां प्रौढान्तराये रिपौ
दृग्बोधावरणद्वये सति मतिस्तादृक्कुतो मादृशाम् ॥११०॥

अर्थ—जिस प्रकार अमूर्तिक होने के कारण आकाश आदि किसी के देखने में नहीं आ सकते

१. न च व्याधय:

उसी प्रकार यद्यपि यह आत्मा किसी के दृष्टिगोचर नहीं है तो भी उस चैतन्यस्वरूप आत्मा के स्वरूप को शास्त्र के बल से अथवा अपने अनुभव से मैं वर्णन करता हूँ इसलिए बुद्धिमानों को इसमें किसी प्रकार की दगाबाजी नहीं समझनी चाहिए क्योंकि समस्त कर्मों का राजा मोहनीय और अत्यन्त प्रबल अंतरायरूपी शत्रु तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण अभी मेरी आत्मा के साथ लगे हुए हैं इसलिए वास्तविक स्वरूप के कहने में मेरी बुद्धि कैसे प्रवीण हो सकती है?

भावार्थ—वास्तविक रीति से आत्मा के स्वरूप का वर्णन अर्हन्त ही कर सकते हैं अल्पज्ञानी नहीं। तथा अभी मैं अल्पज्ञानी हूँ इसलिए मेरा कथन सर्वज्ञदेव प्रणीत शास्त्र के अनुसार होने के कारण तथा कुछ अनुभव से होने के कारण विद्वानों को अवश्य मानना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः
शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥१११॥

अर्थ—अपने को विद्वान् मानकर शृंगारादि रस सहित नाना प्रकार के प्रमोद जनक व्याख्यानों को कहने वाले तथा सभा में व्यर्थ वचनों के आडम्बर को धारण करने वाले और मनुष्यों को सन्मार्ग से भुलाने वाले पुरुष संसार में प्रतिग्रह बहुत से मिलेंगे परन्तु जो परमात्म तत्त्व के ज्ञान के देने वाले हैं ऐसे मनुष्य बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।

आपद्धेतुषु रागरोषनिकृतिप्रायेषु दोषेष्वलं
मोहात्सर्वजनस्य चेतसि सदा सत्सु स्वभावादपि।
तन्नाशाय च संविदे च फलवत्काव्यं कवेर्जायते
शृङ्गारादिरसं तु सर्वजगतो मोहाय दुःखाय च ॥११२॥

अर्थ—समस्त मनुष्यों के चित्तों में नाना प्रकार के दुख देने वाले ऐसे राग-द्वेष, माया, क्रोध, लोभ आदि दोष स्वभाव से ही रहते हैं इसलिए जो कवि का काव्य उनको मूल में उड़ा देता है तथा सम्यग्ज्ञान का उत्पन्न करने वाला होता है वास्तव में वही कार्यकारी समझना चाहिए अर्थात् जिसमें वीतरागपने का वर्णन होवे, वही काव्य फल को देने वाला है और शृंगारादि रस तो समस्त जगत् को मोह के उत्पन्न करने वाले तथा दुख के देने वाले हैं इसलिए भव्यों को चाहिए कि वे वीतराग भाव को दर्शाने वाले शास्त्रों का ही अभ्यास करें।

(वसंततिलका)

कालादपि प्रसृतमोहमहांधकारे मार्गं न पश्यति जनो जगति प्रशस्तं।
क्षुद्राः क्षिपन्ति दृशि दुःश्रुतिधूलिमस्य न स्यात्कथं गतिरनिश्चितदुष्पथेषु ॥११३॥

अर्थ—अनादिकाल से फैले हुए मोहरूपी महान् अन्धकार से व्याप्त इस जगत् में बिचारे मोही जीव एक तो स्वयमेव ही श्रेष्ठ मार्ग को नहीं देख सकते हैं। यदि किसी रीति से देख भी सकें तो दुष्ट पुरुष और भी उनकी आँखों में शृंगारादि शास्त्र सुनाकर धूली डालते हैं इसलिए कहाँ तक वे जीव खोटे मार्ग में गमन नहीं कर सकते?

भावार्थ-जिस प्रकार जात्यन्ध पुरुष को एक तो स्वयमेव ही मार्ग नहीं सूझता किन्तु उसकी आँखों में यदि धूलि डाल दी जावे तो और भी वह घबराकर खोटे मार्ग में गिर पड़ता है उसी प्रकार संसार में भ्रमण करते हुए प्राणियों को एक तो मोह के उदय से स्वयं मार्ग नहीं सूझता परन्तु शृंगारादि रसों के सुनने से वे और भी खोटे मार्गों में गिरते हैं इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे कदापि शृंगारादिरूप शास्त्रों को न सुनें जिससे उनको खोटे मार्ग में न गिरना पड़े।

(शार्दूलविक्रीडित)

विण्मूत्रकृमिसंकुले कृतघृणैरंत्रादिभिः पूरिते
शुक्रासृग्वरयोषितामपि तनुर्मातुः कुगर्भेऽजनि।
सापि क्लिष्टरसादिधातुघटिता पूर्णा मलाद्यैरहो
चित्रं चंद्रमुखीति जातमतिभिर्विद्वद्भिरावर्ण्यते॥११४॥

अर्थ—यह स्त्री का शरीर विष्टा, मूत्र तथा नाना प्रकार के कीड़ों से व्याप्त और प्रबल घृणा को पैदा करने वाले आत, मांस आदि से पूरित तथा वीर्य, रक्त आदि से पुष्ट ऐसे खोटे माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ है और स्वयं भी वह स्त्री नाना प्रकार के खोटे वीर्य रक्त आदि से बनी हुई है तथा मल आदि से युक्त है तो भी नीच विद्वान् कवि ऐसी स्त्री को चन्द्रमुखी कहते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है।

(शिखरिणी)

कचा यूकावासा मुखमजिनबद्धास्थिनिचयः
कुचौ मांसोच्छ्रयौ जठरमपि विष्ठादिघटिका।
मलोत्सर्गे यंत्रं जघनमबलायाः क्रमयुगं
तदाधारस्थूणे किमिह किल रागाय महताम् ॥११५॥

अर्थ—स्त्री के केश तो जुआँ के घर हैं, मुख चर्म से वेष्टित हाड़ों का समूह है, स्तन मांस के पिण्ड हैं, उदर विष्ठा आदि खराब चीजों का घर है, योनिस्थान, मूत्र आदि के बहने का नाला है और दोनों चरण उस योनि स्थान के ठहरने के लिए खम्भों के समान हैं इसलिए ऐसी खराब स्त्री में विद्वान् पुरुष कदापि राग नहीं कर सकते।

(द्रुतविलम्बित)

परमधर्मनदाज्जनमीनकान् शशिमुखीवडिशेनसमुद्धृतान्।
अतिसमुल्लसिते रतिमुर्मुरे पचति हा हतकः स्मरधीवरः ॥११६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह हिंसक कामदेवरूपी धीवर जीवरूप मछलियों को उत्कृष्ट धर्मरूपी तालाब से निकालकर स्त्रीरूपी मांस सहित कांटे पर लटकाकर अत्यन्त प्रज्वलित संभोगरूपी भाड़ में भूँजती है यह बड़े दुख की बात है।

भावार्थ–जिस प्रकार धीवर जिह्वा इन्द्रिय की लोभी मछलियों को मांस लिप्त कांटे से बाहर निकालकर भाड़ में भूँजता है उस ही प्रकार यह कामदेव भी जीवों को धर्म से हटाकर स्त्रियों के जाल में फँसा देता है इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे सर्वथा प्राणों के घात करने वाले इस कामदेव को अपने हृदय में फटकने तक न देवें।

(शार्दूलविक्रीडित)

येनेदं जगदापदम्बुधिगतं कुर्वीत मोहो हठात्
येनैते प्रतिजन्तु हन्तुमनसः क्रोधादयो दुर्जयाः।
येन भ्रातरियं च संसृतिसरित् संजायते दुस्तरा
तज्जानीहि समस्तदोषविषमं स्त्रीरूपमेतद्ध्रुवम्॥११७॥

अर्थ—जिस स्त्री के रूप की सहायता से मोह, जबर्दस्ती मनुष्य को नाना प्रकार के दुख देता है तथा उसी रूप की सहायता से समस्त जीवों के नाशक क्रोधादि कषाय दुर्जय हो जाते है और उसी रूप की सहायता से संसाररूपी नदी तैरी नहीं जा सकती अर्थात् अथाह हो जाती है इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्यो उस स्त्री के रूप को समस्त दोषों से भी भयंकर समझो।

भावार्थ—जितने भी संसार में दोष हैं वे किसी न किसी अहित को तो अवश्य ही करते हैं परन्तु स्त्री का रूप भयंकर अहित को करता है इसलिए हितैषियों को कदापि स्त्री के रूप में नहीं फँसना चाहिए।

मोहव्याधभटेन संसृतिवने मुग्धैणबंधापदे,
पाशाः पंकजलोचनादिविषयाः सर्वत्र सज्जीकृताः।
मुग्धास्तत्र पतन्ति तानपि वरानास्थाय वांछन्त्यहो,
हा कष्टं परजन्मनेऽपि न विदः क्वापीति धिङ्मूर्खताम् ॥११८॥

अर्थ—इस संसार वन में भोले जीवरूपी मृगों को बाँध कर दुख देने के लिए मोहरूपी सुभट ने चिड़िया मारने को सब जगह लोचनादि विषयरूपी जाल फैला रखे हैं और उन विषयरूपी जालों को श्रेष्ठ मानकर भोले जीव उनमें आकर फँस जाते हैं यह बड़े दुख की बात है किन्तु आत्मा के स्वरूप

को जानने वाले विद्वान् स्वप्न में भी उन जालों में नहीं फँसते और परलोक के लिए भी उन विषयों को हितकारी नहीं समझते इसलिए आचार्य कहते हैं कि मूर्खता के लिए धिक्कार है।

भावार्थ—जिस प्रकार चिड़ियामार कुछ चावल आदि डालकर वन में जाल बिछा देते हैं उसमें चावलों के लोलुपी नाना प्रकार के कबूतर आदि पक्षी फँस जाते हैं उसी प्रकार संसार में मोह के उदय से मुग्ध पुरुष विषयों में प्रवृत्त हो जाते हैं तथा नाना प्रकार के दुखों को भोगते हैं किन्तु बुद्धिमान् पुरुष विषयों के दुखों को जानकर विषयों में नहीं फँसते हैं तथा उन विषयों की आकांक्षा भी नहीं करते इसलिए सदा सुखी रहते हैं अतः विद्वानों की विषयों की तरफ कदापि रुचि नहीं होना चाहिए।

एतन्मोहठकप्रयोगविहितभ्रान्तिभ्रमच्चक्षुषा
पश्यत्येष जनोऽसमञ्जसमसद्बुद्धिर्ध्रुवं व्यापदे।
अप्येतान्विषयाननन्तनरकक्लेशप्रदानस्थिरान्
यच्छश्वत्सुखसागरानिव सतश्चेतः प्रियान्मन्यते ॥११९॥

अर्थ—यह कुबुद्धि मनुष्य, मोहरूपी ठग उसके प्रयोग से उत्पन्न हुए भ्रम से भ्रान्त जो नेत्र उससे विपरीत ही देखता है तथा विपरीत देखने से नाना प्रकार के दुखों का अनुभव करता है तो भी अनन्त नरकों के दुखों को देने वाले तथा बिजली के समान चंचल इन विषयों को स्थिर तथा निरन्तर सुख के देने वाले और चित्त को प्रिय मानता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई बैरी किसी मनुष्य पर मंत्रादि का प्रयोग करता है तो उससे उसके नेत्र घूमने लग जाते हैं तथा वह नाना प्रकार की आपत्तियों को भोगता है उसी प्रकार यह कुबुद्धि जन मोहरूपी बैरी के प्रयोग से विषयों में प्रवृत्त हो जाता है तथा समस्त चीजें उसको विपरीत ही सूझने लग जाती हैं तथा उसी विपरीतता के कारण वह नाना दुखों को भोगता है तो भी विषयों को अच्छा मानता है यह कितने दुख की बात है।

(शार्दूलविक्रीडित)

संसारेऽत्र घनाटवीपरिसरे मोहष्ठकः कामिनी-
क्रोधाद्याश्च तदीयपेटकमिदं तत्सन्निधौ जायते।
प्राणी तद्विहितप्रयोगविकलः तद्वश्यतामागतो
न स्वं चेतयते लभेत विपदं ज्ञातुः प्रभोः कथ्यताम् ॥१२०॥

अर्थ—इस संसाररूपी विस्तीर्ण वन में ठग तो मोह है और स्त्री तथा क्रोध, मान, माया आदि उसके पास प्राणियों को ठगने की सामग्री है (अर्थात् स्त्री, क्रोधादि कारणों से ही वह प्राणियों को ठगता है) तथा प्राणी उसके प्रयोग से विकल होकर उसके आधीन पड़े हुए हैं और अपने स्वरूप को भी नहीं जानते हैं तथा नाना प्रकार की आपत्तियों को सहते हैं इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि हे जीव तुझे उस

ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का अर्थात् श्रीसर्वज्ञदेव का ही आश्रय करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा के आश्रय करने पर प्रबल भी ठग मोह कुछ भी नहीं कर सकता है इसलिए भव्य जीवों को ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का ही आराधन करना चाहिए।

ऐश्वर्यादि गुणप्रकाशनतया मूढा हि ये कुर्वते
सर्वेषां टिरिटिल्लितानि पुरतः पश्यन्ति नो व्यापदः।
विद्युल्लोलमपि स्थिरं परमपि स्वं पुत्रदारादिकं
मन्यन्ते यदहो तदत्र विषमं मोहप्रभोः शासनम् ॥१२१॥

अर्थ—मूढ़ पुरुष मैं लक्ष्मीवान् हूँ तथा मैं ज्ञानवान हूँ इत्यादि अपने गुणों को प्रकाशित करते हैं तथा समस्त पुरुषों के सामने नाना प्रकार की गालियों को बकते हैं किन्तु आने वाली नरकादि विपत्तियों पर कुछ भी ध्यान नहीं देते तथा बिजली के समान चंचल भी पुत्र, स्त्री आदि को स्थिर मानते हैं और अपने से भिन्न भी उनको अपना मानते हैं इसलिए आचार्य कहते हैं कि मोह चक्रवर्ती की आज्ञा बड़ी कठोर है।

भावार्थ—पर को अपना मानना तथा चंचल को स्थिर मानना और मत्त होकर व्यर्थ नाना प्रकार की खराब चेष्टा करना मोह के उदय से ही होता है इसलिए उत्तम पुरुषों को मोह के नाश करने के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

(शिखरिणी)

क्व यामः किं कुर्मः कथमिह सुखं किं च[१] भविता
कुतो लभ्या लक्ष्मीः क इह नृपतिः सेव्यत इति।
विकल्पानां जालं जडयति मनः पश्यत सतां
अपि ज्ञातार्थानामिह महदहो मोहचरितम् ॥१२२॥

अर्थ—हम कहाँ जावें, क्या करें, कैसे सुख हो, किस रीति से लक्ष्मी मिले, किस राजा की सेवा टहल करें इत्यादि नाना प्रकार के विकल्पों के समूह संसार में प्राणियों के उत्पन्न होते रहते हैं तथा भले प्रकार वस्तु के स्वरूप को जानने वाले भी मनुष्यों के मन को जड़ बना देते हैं यह प्रत्यक्ष गोचर है इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि मोह का चरित्र बड़ा आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—मोह के उदय से मनुष्यों को नाना प्रकार के नहीं करने योग्य भी काम करने पड़ते हैं इसलिए सबसे पहले मोह से मोह अवश्य तोड़ना चाहिए।

विहाय व्यामोहं धनसदनतन्वादिविषये
कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यं बत बुधाः।

---
१. नु

न येनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना
पुनः स्यान्न स्याद्वा किमपरवचोऽडम्बरशतैः ॥१२३॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे बुद्धिमानों विशेष कहाँ तक कहें शीघ्र स्त्री, पुत्र, धन, घर आदि पदार्थों से मोह छोड़कर ऐसा कोई काम करो जिससे तुमको फिर जन्म न धारण करना पड़े क्योंकि नहीं मालूम फिर उत्तम कुल, जिनधर्म का शरण, निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश आदि मिले या नहीं मिले।

भावार्थ—जिस प्रकार चौराहे पर चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्य जन्म तथा जिनधर्म की शरण आदि मिलना दुर्लभ है इसलिए ऐसी अवस्था को पाकर ऐसा काम करना चाहिए जिससे तुमको इस पंच-परावर्तनरूप संसार में परिभ्रमण न करना पड़े, नहीं तो हाथ मलते रह जाओगे कुछ भी नहीं मिलेगा।

(स्रग्धरा)

वाचस्तस्य प्रमाणं य इह जिनपतिः सर्वविद्वीतरागो
रागद्वेषादिदोषैरुपहत[१]-मनसो नेतरस्यानृतत्वात्।
एतन्निश्चित्य चित्ते श्रयत बत बुधा विश्वतत्त्वोपलब्ध्यै[२]
मुक्तेर्मूलं तमेकंभ्रमति किमु बहुष्वंधवद् दुष्पथेषु ॥१२४॥

अर्थ—और भी आचार्य कहते हैं कि जो समस्त पदार्थों को अच्छी तरह जानने वाला है तथा वीतराग है और ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों से रहित है उसी का वाक्य प्रमाण है किन्तु उससे विपरीत जो अल्पज्ञानी, रागी आदि हैं उनका वचन असत्य होने से प्रमाण नहीं है ऐसा मन में ठानकर हे पंडितो केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए मुक्ति के देने वाले उस अर्हन्त का ही आश्रय करो, क्यों व्यर्थ अंधे के समान जहाँ-तहाँ खोटे मार्ग में गिरते-फिरते हो।

(वसन्ततिलका)

यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि सन्दिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्ध्या।
खे पत्रिणां विचरतां सुदृशेक्षितानां संख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमंधः ॥१२५॥

अर्थ—जो मूढ़, सर्वज्ञ के वचन में भी सन्देह कर अपनी बुद्धि की गढ़न्त से अपरमार्थभूत तत्त्वों की कल्पना करता है वह वैसा ही काम करता है कि जिस प्रकार अंधा मनुष्य आकाश में जाते हुए पक्षियों की गिनती में अच्छे नेत्र वाले पुरुष के साथ विवाद करता है।

भावार्थ—जिसको यह भी पता नहीं है कि पक्षी कहाँ उड़ रहे हैं कहाँ नहीं, वह कैसे सूझते पुरुष के साथ पक्षियों की गिनती में विवाद कर सकता है। उसी प्रकार जिसको अंशमात्र भी विशेष ज्ञान नहीं वह सिवाय सर्वज्ञ की कृपा से कैसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है इसलिए भव्य जीवों

---

१. हत, २. लब्धौ

को सर्वज्ञ के वचन पर ही विश्वास करना चाहिए अल्पज्ञानियों के वचन पर कदापि नहीं।

(इन्द्रवज्रा)

उक्तं जिनैर्द्वादशभेदमङ्गं श्रुतं ततो बाह्यमनन्तभेदम्।
तस्मिन्नुपादेयतया चिदात्मा ततः परं हेयतयाऽभ्यधायि ॥१२६॥

अर्थ—श्रुत के दो भेद हैं एक अंगश्रुत और दूसरा बाह्यश्रुत। उनमें अंगश्रुत बारह प्रकार का जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है तथा बाह्यश्रुत के अनन्त भेद कहे हैं परन्तु उन दोनों श्रुतों में ज्ञानदर्शनशाली आत्मा ही ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहा है किन्तु उससे जुदे समस्त पदार्थ हेय (त्यागने योग्य) कहे हैं।

अल्पायुषामल्पधियामिदानीं कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः।
तदत्र मुक्तिं प्रति बीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात् ॥१२७॥

अर्थ—इस पंचमकाल में ज्ञान, आयु आदि के निरंतर क्षीण होने से मनुष्य अल्पायु तथा अल्पज्ञान के धारी रह गये हैं इसलिए वे समस्त श्रुत का अभ्यास नहीं कर सकते। अतः जो पुरुष मोक्ष के अभिलाषी हैं उनको मुक्ति के देने वाले तथा आत्मा के हितकारी श्रुत का तो अवश्य ही बड़े प्रयत्न के साथ अभ्यास करना चाहिए।

(स्रग्धरा)

निश्चेतव्यो जिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरेर्थे परोक्षे
कार्यः सोऽपि प्रमाणं वदत किमपरेणात्र[१] कोलाहलेन।
सत्यां छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा
भो भो भव्या यतध्वं दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाजः ॥१२८॥

अर्थ—वर्तमानकाल में जिनेन्द्र हैं ऐसा विश्वास अवश्य करना चाहिए तथा जो पदार्थ सूक्ष्म तथा दूर होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं है किन्तु जिनेन्द्र ने उनका वर्णन अपनी दिव्यध्वनि से किया है तो वे भी अवश्य हैं ऐसा मानना चाहिए। परन्तु जिनेन्द्र अथवा जिनेन्द्र के वचन में व्यर्थ संशय करना ठीक नहीं क्योंकि इस काल में समस्त जीव थोड़े ज्ञान के धारी हैं इसलिए आचार्य कहते हैं कि जिन भगवान् के कहे हुए सिद्धान्त मार्ग से स्वानुभव को प्राप्त कर सदा प्रबुद्ध और अपनी आत्मा में प्रीति को भजने वाले, हे भव्य जीवो! तुम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी निधि के लिए अवश्य यत्न करो।

भावार्थ—संसार में ये तीनों रत्न ही सारभूत पदार्थ हैं और इन्हीं में प्रयत्न करने से उत्तम सुख की प्राप्ति हो सकती है इसलिए भव्य जीवों को रत्नत्रय का आराधन अवश्य करना चाहिए।

---

१. परेणाल, परैराल, परैल

(आर्या)

तद्ध्यायत तात्पर्याज्ज्योतिः सच्चिन्मयं विना यस्मात्।
सदपि न सत्सति यस्मिन् निश्चितमाभासते विश्वम् ॥१२९॥

अर्थ—जिस श्रेष्ठ तथा ज्ञानस्वरूप चैतन्य के बिना समस्त पदार्थ मौजूद भी नहीं मौजूद के समान हैं और जिस चैतन्य के होने पर समस्त पदार्थों का प्रकट रीति से प्रतिभास होता है ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मारूपी ज्योति की भव्य जीवों को अवश्य आराधना तथा उपासना करनी चाहिए।

भावार्थ—यद्यपि संसार में अनेक पदार्थ हैं परन्तु उन सब में ज्ञानगुण का धारी आत्मा ही है तथा उस आत्मा के बिना समस्त जगत् शून्य हैं और उस आत्मा के होने पर समस्त पदार्थों का भले प्रकार से ज्ञान होता है इसलिए भव्यजीवों को ऐसे सारभूत आत्मा का अवश्य ही ध्यान करना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु
स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात्।
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोऽपि हि पदं नेष्टं तपःस्यन्दनो
नेयं तन्नयति प्रभुं स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः ॥१३०॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी जीव कठोर तप आदि के द्वारा जितने कर्मों को करोड़ वर्ष में क्षय करता है उससे अधिक कर्मों को, स्थिर मन होकर संवर का धारी ज्ञानी जीव क्षणमात्र में क्षय कर देता है सो ठीक ही है क्योंकि जिस तपरूपी रथ में तीक्ष्ण क्लेशरूपी घोड़ा लगे हुए हैं किन्तु ज्ञानरूपी सारथी नहीं हैं तो वह तपरूपी रथ कदापि आत्मारूपी प्रभु को मोक्षस्थान में नहीं ले जा सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी रथ में यद्यपि अच्छे-अच्छे घोड़े मौजूद हैं किन्तु उन घोड़ों का चलाने वाला सारथी नहीं है तो कदापि वह रथ अपने में बैठने वाले पुरुष को यथेष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा सकता उसी प्रकार नाना प्रकार के दुखों को सहनकर पंचाग्नि आदि तप भी किये परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जाना तो कदापि उत्तम सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए भव्यों को चाहिए कि वे सम्यग्ज्ञानपूर्वक तप को करें तभी उनको उत्तम सुख की प्राप्ति हो सकती है।

(स्रग्धरा)

कर्माब्धौ तद्विचित्रोदयलहरिभरव्याकुले व्यापदुग्र-
भ्राम्यन्नक्रादिकीर्णे मृतिजननलसद्वाडवावर्तगर्ते।
मुक्तःशक्त्या हतांगः प्रतिगति स पुमान् मज्जनोन्मज्जनाभ्या-
मप्राप्यज्ञानपोतं तदनुगतिजडः पारगामी कथं स्यात् ॥१३१॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कर्म एक प्रकार का बड़ा भारी समुद्र है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र अनेक लहरों से व्याप्त है उसी प्रकार यह कर्मरूपी समुद्र भी अनेक उदय रूप लहरों से व्याप्त है तथा जिस प्रकार समुद्र में नाना प्रकार के भयंकर मगरमच्छादि हुआ करते हैं उसी प्रकार इस कर्मरूपी समुद्र में भी इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि नाना प्रकार की आपत्तिरूप मगरमच्छादि विद्यमान हैं तथा जिस प्रकार समुद्र में बड़वानल भँवर गढ्ढे हुआ करते हैं उसी प्रकार इस कर्मरूपी समुद्र में भी नाना प्रकार के जन्म-मरण आदि बड़वानल भँवर हैं इसलिए ऐसे भयंकर समुद्र में शक्तिहीन तथा अनादिकाल से सर्वत्र गोता खाता हुआ मनुष्य जब तक ज्ञानरूपी अनुकूल जहाज को न प्राप्त करेगा तब तक कदापि पार नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई शक्तिहीन मनुष्य मगरमच्छ आदि से भयंकर समुद्र में पड़ जावे तो वह नाना प्रकार के गोते खाता है किन्तु यदि उसको जहाज मिल जावे तो वह शीघ्र ही पार हो जाता है उसी प्रकार कर्म (जिसका दूसरा नाम संसार है) एक प्रकार का भयंकर समुद्र है इसमें भी जब तक जीव ज्ञानरूपी जहाज को प्राप्त नहीं करते तब तक नाना प्रकार की गतियों में भ्रमण करते हैं किन्तु जिस समय वे उस अनुकूल ज्ञानरूपी जहाज को पा लेते हैं तो वे बात ही बात में संसाररूपी समुद्र से पार हो जाते हैं तथा फिर उनको संसाररूपी समुद्र में आना भी नहीं पड़ता इसलिए जिन जीवों को इस संसाररूपी समुद्र के पार करने की अभिलाषा है उनको अवश्य ही ज्ञानरूपी अखंड जहाज का आश्रय लेना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

शश्वन्मोहमहान्धकारकलिते त्रैलोक्यसद्मन्यसौ,
जैनी वागमलप्रदीपकलिका न स्याद्यदि द्योतिका।
भावनामुपलब्धिरेव न भवेत् सम्यक्तदिष्टेतर-
प्राप्तित्यागकृते पुनस्तनुभृतां दूरे मतिस्तादृशी ॥१३२॥

अर्थ—मोहरूपी गाढ़े अंधकार से व्याप्त इस तीनलोकरूपी मकान को प्रकाश करने वाला यदि यह भगवान् की वाणीरूप दीपक न होता तो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का त्याग तो दूर रहे मनुष्यों को पदार्थों का भी ज्ञान न होता।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी अंधेरे मकान में बहुत सी वस्तुएँ रखी हुई हैं यदि उन वस्तुओं का प्रकाश करने वाला उस मकान में दीपक न होगा तो उनमें से न तो लेने योग्य इष्ट वस्तुओं को ले ही सकते हैं और न छोड़ने योग्य चीजों को छोड़ ही सकते हैं उस ही प्रकार जब तक पदार्थों के स्वरूप भलीभाँति न जानेंगे तब तक न तो ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का ग्रहण ही कर सकते हैं और न त्यागने योग्य वस्तुओं का त्याग ही कर सकते हैं इसलिए सबसे पहले पदार्थ का स्वरूप जानना चाहिए उन

पदार्थों का जानना (वर्तमान में केवली आदिक न होने के कारण) बिना जिनवाणी के हो नहीं सकता इसलिए भव्य जीवों को जिनवाणी माता का प्रीतिपूर्वक आश्रय करना चाहिए।

आत्मा ही धर्म है इस बात को ग्रन्थकार वर्णन करते हैं—

(मन्दाक्रान्ता)

शान्ते कर्मण्युचितसकलक्षेत्रकालादिहेतौ
लब्धे स्वास्थ्यं कथमपि लसद्योगमुद्राविशेषम्।[1]
आत्माधर्मो यदयमसुखस्फीतसंसारगर्ता
दुद्धृत्य स्वं सुखमयपदे धारयत्यात्मनैव॥१३३॥

अर्थ—समस्त कर्मों के उपशम होने पर तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्य सामग्री के मिलने पर जब यह आत्मा ध्यान में लीन होकर अपने स्वरूप का चिन्तन करता है, उस समय नाना दुःखों के देने वाले संसाररूपी गड्ढे से छूटकर अपने से ही अपने को उत्तम सुख में पहुँचाता है इसलिए आत्मा से अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है।

भावार्थ—संसार के दुखों से छुड़ाकर जो उत्तम सुख में ले जाता है उसी का नाम धर्म है। आत्मा भी अपने से अपने को उत्तम सुख में ले जाता है इसलिए आत्मा ही परमधर्म है। अतः भव्यों को चाहिए कि वे अपनी आत्मा का ही चिंतन करें।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप का वर्णन—

(शार्दूलविक्रीडित)

नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो
नैको न क्षणिको ना विश्ववितते नित्यो न चैकान्ततः।
आत्मा कायमितिश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं
संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकक्षणे॥१३४॥

अर्थ—एकांत से न आत्मा शून्य है, न जड़ है, न पंचभूत से उत्पन्न हुआ है, न कर्ता है, न एक है, न क्षणिक है, न लोकव्यापी है, न नित्य है, किन्तु अपने शरीर के परिमाण है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का आधार है और अपने कर्मों का कर्ता है और अपने ही कर्मों का भोक्ता है तथा एक ही क्षण में सदा काल उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों से सहित है।

भावार्थ—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने नास्तिक आदि के सिद्धान्त में एकांत से माना हुआ आत्मा का स्वरूप, स्वरूप नहीं हो सकता यह बतलाकर जैन सिद्धान्त के अनुसार असली आत्मस्वरूप का निरूपण किया है क्योंकि शून्यवादी का सिद्धान्त है कि संसार में कोई वस्तु विद्यमान नहीं ये जितने

---

१. वशेषं

पर स्त्री, घर, कपड़ा, घड़ा आदि पदार्थ हैं समस्त भ्रम स्वरूप हैं इसलिए आत्मा भी कोई पदार्थ नहीं यह भी एक भ्रम स्वरूप ही है इसका आचार्य समाधान देते हैं कि 'नो शून्यः' अर्थात् तुमने जो एकांत से आत्मा को शून्य मान रखा है यह बात सर्वथा मिथ्या है क्योंकि मैं सुखी हूँ तथा मैं दुखी हूँ इत्यादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए सर्वथा शून्य न कहकर किसी रीति से आत्मा शून्य है किसी रीति से नहीं है ऐसा आत्मा का स्वरूप तुमको मानना चाहिए जब ऐसा मानोगे तो किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता क्योंकि पररूप की अपेक्षा से आत्मा को नास्ति अर्थात् शून्य है किन्तु स्वरूपादि की अपेक्षा से आत्मा विद्यमान ही है। जिस प्रकार घट-पट इन दोनों में 'घटत्वेन रूपेण' तो घट है परन्तु 'पटत्वेन रूपेण' नहीं है क्योंकि घटका घटत्व ही स्वरूप है पटत्व स्वरूप नहीं किन्तु पररूप है उसी प्रकार आत्मा भी अपने आत्मस्वरूप तथा ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा से मौजूद है परन्तु पुद्गलत्व तथा स्पर्शादि की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि आत्मा के पुद्गलत्व तथा स्पर्शादिक स्वरूप नहीं पररूप है इसलिए इस रीति से कथंचित् आत्मा शून्य भी हो सकता है किन्तु सर्वथा नहीं।

तथा नैयायिक यह मानते हैं कि जब तक आत्मा संसार में रहता है तब तक तो ज्ञान, सुख आदि के सम्बन्ध से यह ज्ञानी तथा चेतन कहा जा सकता है किन्तु जिस समय इसको मोक्ष हो जाता है उस समय इस आत्मा के साथ किसी प्रकार के ज्ञान, सुख आदि का सम्बन्ध नहीं रहता। उनका सिद्धान्त भी है कि ''नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदः पुरुषस्य मोक्ष इति'' अर्थात् बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, ये आत्मा के नौ विशेष गुण हैं जिस समय ये नौ गुण आत्मा से जुदे हो जाते हैं उसी समय उस आत्मा को मोक्ष हो जाता है इसलिए मोक्षावस्था में आत्मा सर्वथा जड़ है उसका आचार्य समाधान देते हैं 'नजडः' अर्थात् तुमने तो एकान्त से आत्मा को जड़ मान रखा है वह सर्वथा असत्य है क्योंकि ज्ञान आदि गुण आत्मा से सर्वथा भिन्न स्वरूप नहीं हैं जिससे वे मोक्ष अवस्था में छूट जावे तथा ज्ञानगुण के छूटने से आत्मा सर्वथा जड़ रह जावे किन्तु कथंचित् आत्मा जड़ है तथा कथंचित् आत्मा चेतन भी है अर्थात् जब तक इस आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध रहता है उस समय तो इसको जड़ भी कह सकते हैं किन्तु जिस समय मोक्षावस्था में कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है उस समय यह चेतन है जड़ नहीं क्योंकि ज्ञानादि गुणों से आत्मा कोई जुदी वस्तु नहीं तथा ज्ञानादिगुण चेतन हैं और ज्ञानादि गुणों का जिस अवस्था में प्रकटीकरण हो जाता है वही वास्तविक मोक्ष कहा गया है इसलिए सर्वथा जड़ कदापि आत्मा नहीं हो सकता तथा चार्वाक जिसको नास्तिक कहते हैं उसका सिद्धान्त है कि आत्मा कोई भिन्न पदार्थ नहीं तथा आदि अन्त से रहित भी नहीं किन्तु जिस समय पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों का परस्पर में मेल होता है उस समय एक दिव्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वही आत्मा तथा चेतन नाम से पुकारी जाती है इसलिए जब आत्मा कोई वस्तु ही न ठहरा तो उसके आधीन जो स्वर्ग तथा मोक्ष आदि अवस्था मानी है वे सर्वथा झूठ हैं क्योंकि यदि वे होती तो प्रत्यक्ष देखने में आती तथा आत्मा भी आदि अंत- कर रहित सिद्ध होता इसलिए यह देह ही आत्मा है तथा

संसार में अच्छा-अच्छा खाने को न मिलना यही नरक है तथा अच्छा-अच्छा खाने को मिलना यही स्वर्ग है तथा मोक्ष है इसलिए जिसको स्वर्ग तथा मोक्ष के स्वरूप का अनुभव करना हो तो संसार में खूब कर्ज लेकर मिष्टान्न उड़ाना चाहिए क्योंकि जब यह देह (आत्मा) नष्ट हो जायेगा तो फिर लौटकर नहीं आयेगा, जिससे वह लिया हुआ ऋण देना पड़े, इस सिद्धान्त का आचार्य खंडन करते हैं कि 'नभूतजनितः' अर्थात् जो तुम सर्वथा आत्मा को पृथ्वी आदि से पैदा हुआ मानते हो यह बात सर्वथा झूठ है क्योंकि अचेतन से चेतन की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। आत्मा चेतन है पृथ्वी आदि अचेतन हैं वे किसी प्रकार आत्मा को उत्पन्न नहीं कर सकते-यदि ऐसा ही होवे तो रोटी आदि पदार्थों में पृथ्वी आदि का सम्बन्ध होते भी क्यों नहीं चेतन की उत्पत्ति होती। दूसरे जिस समय बालक उत्पन्न होता है उस समय जब उसके मुख में स्तन दिया जाता है उस समय बिना ही सिखाये वह जन्मांतर के संस्कार से दूध पी लेता है सो कैसे? क्योंकि तुम तो जन्मांतर मानते ही नहीं तथा अनेक मनुष्य पूर्वभव की वस्तुओं को स्मरण करते हुए देखने में आते हैं अतः सिद्ध होता है कि आत्मा अवश्य अनादि अनन्त है इसलिए आत्मा कथंचित् भूतजनित ही तुमको मानना चाहिए जब ऐसा मानोगे तो कोई दोष नहीं आ सकता क्योंकि संसारी आत्मा का सम्बन्ध देह से अनादिकाल से चला आता है अर्थात् कोई अवस्था संसारी जीव की ऐसी नहीं जिस अवस्था में देह के साथ सम्बन्ध न होवे इसलिए देह आत्मा का कथंचित् अभेद होने से आत्मा भूतजनित भी है परन्तु देह रहित अवस्था में वह भूतजनित न होने से सर्वथा भूतजनित नहीं हो सकती।

और बहुत से मनुष्य इस आत्मा को कर्ता मानते हैं अर्थात् उनका सिद्धान्त है कि बिना ईश्वर के यह विचित्र जगत् कदापि नहीं बन सकता इसलिए कोई न कोई इस जगत् का कर्ता अवश्य होना चाहिए उनको आचार्य समझाते हैं कि 'नोकर्तृभावंगतः' अर्थात् यह कर्ता भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि ईश्वर जगत् का कर्ता माना जायेगा तो उसके ईश्वरत्व में हानि आयेगी क्योंकि यदि वह समस्त प्राणियों का पिता है तो उसको सभी पर समान दृष्टि रखनी चाहिए किन्तु देखने में आता है किसी के साथ उसका प्रेमपूर्वक बर्ताव होने से कोई राजा है तथा किसी के साथ उसका द्वेषपूर्वक बर्ताव होने से कोई अत्यन्त दरिद्री है। यदि कहोगे कि राजा तथा रंक होना यह अपने कर्मों के आधीन है तो कर्म को ही कारण मानना चाहिए ऐसे ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है इत्यादि अनेक युक्तियों से ईश्वररूप आत्मा कदापि कर्ता नहीं बन सकता यदि किसी रीति से कर्ता मानो तो ठीक भी हो सकता है क्योंकि सर्व ही जीव अपने-अपने कर्म तथा स्वरूप आदि के कर्ता हैं किन्तु सर्वथा नहीं। तथा अनेक वादियों का यह कथन है कि आत्मा एकरूप ही है अनेकरूप नहीं उनको आचार्य श्रेष्ठ मार्ग पर लाकर कहते हैं कि 'नैकः' अर्थात् आत्मा सर्वथा एकरूप नहीं किन्तु किसी रीति से एकरूप है तथा किसी रीति से अनेकरूप है अर्थात् अपने स्वरूप से तो एकरूप है किन्तु अनेक धर्मों को धारण करता है इसलिए वह अनेकरूप भी है तथा बौद्ध आत्मा को क्षणिक ही मानते हैं अर्थात् उनका सिद्धान्त है कि

जितने भी संसार में पदार्थ हैं वे सब क्षणिक हैं इसलिए आत्मा भी क्षणिक ही है उनको आचार्य समझाते हैं कि 'न क्षणिकः' अर्थात् तुमने जो आत्मा को सर्वथा क्षणिक मान रखा है वैसा सर्वथा आत्मा क्षणिक नहीं है किन्तु प्रत्येक द्रव्य की क्षण-क्षण में पर्याय पलटती रहती है इसलिए तो आत्मा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से क्षणिक भी है किन्तु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से वह नित्य भी है इसलिए आत्मा को सर्वथा वैसा न मानकर किसी रीति से शून्य है किसी रीति से नहीं है ऐसा मानना चाहिए तथा शरीराकार प्रदेशी मानना चाहिए तथा ज्ञान का धारी मानना चाहिए और स्वयं करने वाला तथा भोगने वाला मानना चाहिए और उत्पाद आदि धर्मों का धारी मानना चाहिए इस ही प्रकार से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

क्वात्मा तिष्ठति कीदृशः स कलितः केनात्र यस्येदृशी
भ्रान्तिस्तत्र विकल्पसंभृतमना यः कोऽपि स ज्ञायताम्।
किंचान्यस्य कुतो मतिःपरमियं भ्रान्ताऽशुभात्कर्मणो
नीत्वा नाशमुपायतस्तदखिलं जानाति ज्ञाता प्रभुः॥१३५॥

अर्थ—आत्मा का नहीं जानने वाला यदि कोई मनुष्य किसी को पूछे कि आत्मा कहाँ रहता है? कैसा है? कौन आत्मा को भलीभाँति जानता है तो उसको यही कहना चाहिए कि जिसके मन में कैसा है, कहाँ है इत्यादि विकल्प उठ रहे हैं वही आत्मा है उसके अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है क्योंकि जड़ में कैसा है, कहाँ है इत्यादि कदापि बुद्धि नहीं हो सकती परन्तु अशुभकर्म से जीवों की बुद्धि भ्रांत हो रही है इसलिए जब यह आत्मा उन कर्मों को मूल से नाशकर देता है उस समय आपसे आप ही यह अपने स्वरूप को तथा दूसरे पदार्थों को जानने लग जाता है इसलिए आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचानने के अभिलाषियों को तप आदि के द्वारा कर्मों के नाश करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां
प्राप्तोपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततम्।
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरोर्भ्रान्तिः समुत्सृज्यता-
मन्तः पश्यत निश्चलेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः ॥१३६॥

अर्थ—यद्यपि इस आत्मा की कोई मूर्ति नहीं है और यह शरीर के भीतर ही रहता है इसलिए इसको प्रत्यक्ष देखना अत्यन्त कठिन है तो भी (अहं जानामि, अहं करोमि) मैं जानता हूँ तथा मैं करता हूँ इत्यादि प्रतीतियों से यह स्पष्ट रीति से जाना जाता है तथा गुरु आदि के उपदेश से भी भलीभाँति इसका ज्ञान होता है अतः ग्रन्थकार कहते हैं—हे भव्य जीवो मन को तथा इन्द्रियों को निश्चल कर अपने अभ्यंतर में इस आत्मा का अनुभव करो क्यों व्यर्थ बाह्य पदार्थों में मोह करते हो।

भावार्थ—अनेक मत वाले इस बात को स्वीकार करते हैं कि आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि यदि होता तो उसका प्रत्यक्ष भी होता उनको आचार्य समझाते हैं कि यद्यपि आत्मा में किसी प्रकार का स्पर्श, रस आदिक नहीं है तथा वह देह के भीतर है इसलिए स्पष्ट रीति से यह देखने में नहीं आता तो भी मैं करता हूँ तथा मैं जानता हूँ इन विकल्पों से आत्मा को हर एक जान सकता है इसलिए इसका अभाव नहीं। अतः भव्य जीवों को चाहिए कि इसका भलीभाँति अनुभव करे तथा बाह्य पदार्थों से मोह को हटाये।

व्यापी नैव शरीर एव यदसावात्मा स्फुरत्यन्वहं
भूतो नान्वयतो[1] न भूतजनितो ज्ञानी प्रकृत्या यतः।
नित्ये वा क्षणिकेऽथवा न कथमप्यर्थक्रिया युज्यते
तत्रैकत्वमपि प्रमाणदृढया भेदप्रतीत्याहतम् ॥१३७॥

अर्थ—यह आत्मा निरंतर शरीर में ही रहा हुआ मालूम पड़ता है इसलिए तो व्यापक नहीं और स्वभाव से ही यह ज्ञानी है इसलिए यह पृथ्वी, अप्, तेज आदि पाँच पदार्थों से भी पैदा हुआ नहीं मालूम होता तथा यह सर्वथा नित्य भी नहीं क्योंकि नित्य में किसी प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता और आत्मा के तो क्रोधादि परिणाम भलीभाँति अनुभव में आते हैं तथा यह आत्मा सर्वथा क्षणिक भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर यदि यह द्वितीय क्षण में नष्ट हो जायेगा तो किसी प्रकार की क्रिया इसमें नहीं हो सकती तथा आत्मा एक स्वरूप है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि कभी क्रोधी, कभी लोभी इत्यादि नाना पर्याय आत्मा की मालूम होती हैं।

भावार्थ—नैयायिकादि का सिद्धान्त है कि आत्मा व्यापक है अर्थात् ऐसा कोई भी आकाश का प्रदेश नहीं है जहाँ पर यह आत्मा न हो किन्तु आचार्य कहते हैं कि सिवाय शरीर के यह आत्मा और कहीं पर व्यापक नहीं यदि शरीर से जुदे स्थान में होता तो मालूम पड़ता इसलिए यह शरीर के समान परिमाण वाला ही है तथा नास्तिक इसको पृथ्वी आदि से ही उत्पन्न हुआ मानते हैं वह भी ठीक नहीं क्योंकि यह ज्ञानी है और पृथ्वी आदि जड़ हैं इसलिए जड़ से कदापि चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सांख्य आदिक आत्मा को सर्वथा कूटस्थ ही मानते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वथा नित्य में किसी प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता किन्तु आत्मा का परिणामीपना तो भलीभाँति अनुभव में आता है तथा बौद्ध सर्वथा आत्मा को क्षणिक ही मानता है यह भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वथा क्षणिकपक्ष में भी किसी प्रकार का परिणाम नहीं बन सकता और भी अनेक दोष आते हैं। अनेक सिद्धान्तकार आत्मा को एक स्वरूप ही मानते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि क्रोधी, लोभी आदि अनेक भेदस्वरूप आत्मा अनुभव में आता है इसलिए आत्मा को किसी प्रकार से शरीर के परिमाण वाला तथा भूतों से नहीं उत्पन्न हुआ और किसी प्रकार से नित्य और क्षणिक तथा अनेक ही मानना चाहिए।

---

१. भूतानन्वयतो

कुर्यात्कर्म शुभाशुभं स्वयमसौ भुङ्क्ते स्वयं तत्फलं
सातासातगतानुभूतिकलनादात्मा न चान्यादृशः।
चिद्रूपः स्थितिजन्मभंगकलितः कर्मावृतः संसृतौ
मुक्तौ ज्ञानदृगेकमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यचूडामणिः॥१३८॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आत्मा शुभ तथा अशुभ कर्मों को निरन्तर करता रहता है तथा सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म के उदय से स्वयं उसका फल भोगता है किन्तु अन्य कोई कर्ता तथा भोक्ता नहीं और यह आत्मा सदा चैतन्यस्वरूप है तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों धर्मों से सहित है और संसारावस्था में यह कर्मों से सहित है परन्तु मोक्ष अवस्था में इसके साथ किसी कर्म का सम्बन्ध नहीं तथा यह आत्मा सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का धारक है और तीनों लोक के शिखर पर विराजता है।

(वसन्ततिलका)

आत्मानमेवमधिगम्य नयप्रमाणनिक्षेपकादिभिरभिश्रयतैकचित्ताः।
भव्या यदीच्छत भवार्णवमुत्तरीतुमुत्तुङ्गमोहमकरोग्रतरं गंभीरम्॥१३९॥

अर्थ—फिर भी आचार्य उपदेश देते हैं—भव्य जीवो यदि तुम मोहरूपी मगर से सहित तथा गंभीर संसाररूपी समुद्र को तरने की इच्छा करते हो तो एकचित्त होकर नय, प्रमाण तथा नाम, स्थापना आदि के द्वारा आत्मा को भलीभाँति जानो और उसी का आश्रय करो।

भावार्थ—सिवाय आत्मा के संसार में कोई भी वस्तु ग्राह्य नहीं इसलिए इसी तरफ भव्यों को अवश्य ऋजु होना चाहिए।

(मालिनी)

भवरिपुरिह तावद् दुःखदो यावदात्मन् तव विनिहतधामा कर्मसंश्लेषदोषः।
स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ झटिति शिवसुखार्थी यत्नतस्तौ जहीहि॥१४०॥

अर्थ—फिर भी आचार्य कहते हैं कि अरे आत्मा जब तक मेरे साथ समस्त तेज को मूल से उड़ाने वाला कर्मों का बंध लगा हुआ है तब तक तुझको यह संसाररूपी बैरी नाना प्रकार के दुखों को देने वाला है तथा वह संसाररूपी बैरी राग-द्वेष से उत्पन्न होता है इसलिए यदि तू मोक्ष सुख का अभिलाषी है तो शीघ्र ही रागद्वेष को त्याग कर जिससे तेरी आत्मा के साथ कर्म का बंध नहीं रहे तथा तुझे संसार का दुख न भोगना पड़े।

(स्रग्धरा)

लोकस्य त्वं न कश्चिन्न स तव यदिह स्वार्जितं भुज्यते कः
सम्बन्धस्तेन सार्धं तदसति सति वा तत्र कौ रोषतोषौ।
कायेऽप्येवं जडत्वात्तदनुगतसुखादावपि ध्वंसभावा-
देवं निश्चित्य हंस स्वबलमनुसर स्थायि मा पश्य पार्श्वम्॥१४१॥

अर्थ—भो आत्मन्! न तो तू लोक का है न तेरा ही लोक है तथा तू ही शुभ-अशुभ को उत्पन्न करता है तथा तू ही उसको भोगता है फिर इस लोक के साथ सम्बन्ध करना वृथा है तथा लोक के होने पर दुख तथा लोक के होने पर संतोष करना भी व्यर्थ है और शरीर तो जड़ है इसलिए इसके नहीं होते हुए क्रोध तथा इसके होते हुए संतोष करना भी बिना प्रयोजन का है तथा इन्द्रिय आदि पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुख विनाशीक है इसलिए इसके होते हुए रोष तथा इसके होते हुए संतोष मानना भी निष्प्रयोजन है इसलिए ऐसा भलीभाँति विचार कर तुझे अपना बल जो अनन्त ज्ञानादिक है उसकी आराधना करनी चाहिए और तुझे अपने स्वरूप से दूर नहीं रहना चाहिए अर्थात् अपने अन्तरंग में प्रवेश कर तुझे समस्त परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ-स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, शरीर, इन्द्रिय, सुख आदि में प्रीतिकर तथा अपने स्वरूप को भूलकर बहुत काल तक इस संसार में भ्रमण किया, अब विषयों में आशा कर दीन की तरह तुझे जहाँ-तहाँ डोलना ठीक नहीं इसलिए समस्त परिग्रह का नाशकर अपने स्वरूप में लीन हो अब अपने स्वरूप से दूर रहना भी ठीक नहीं।

(शार्दूलविक्रीडित)

आस्तामन्यगतौ प्रतिक्षणलसद् दुःखाश्रितायामहो
देवत्वेऽपि न शान्तिरस्ति भवतो रम्येऽणिमादिश्रिया।
यत्तस्मादपि मृत्युकालकलयाधस्ताद्धठात्पात्यसे
तत्तन्नित्यपदं प्रति प्रतिदिनं रे जीव यत्नं कुरु ॥१४२॥

अर्थ—जहाँ पर प्रतिक्षण में दुख ही दुख है ऐसी नरक, तिर्यंचादि गति तो दूर ही रहो परन्तु जहाँ पर सदा अणिमा, महिमा आदिक लक्ष्मी निवास करती हैं ऐसी देवगति में भी तेरे लिए अंशमात्र भी सुख नहीं है क्योंकि वहाँ से भी तुझे मरण की बेला बलात् नीचे गिरा देती है अर्थात् मृत्यु के समय में स्वर्ग से भी नीचे गिरना पड़ता है इसलिए आचार्य कहते हैं, हे जीव तुझे अविनाशी मोक्ष पद के लिए ही सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—सिवाय मोक्ष के कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ पर लेशमात्र भी सुख मिले इसलिए भव्य जीवों को जहाँ पर किसी प्रकार का क्लेश नहीं ऐसे मोक्ष पद के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

यद् दृष्टं बहिरङ्गनादिषु चिरं तत्रानुरागोऽभवत्
भ्रान्त्या भूरि तथापि ताम्यसि ततो मुक्त्वा तदन्तर्विश।
चेतस्तत्र गुरोः प्रबोधवसतेः किञ्चित्तदाकर्ण्यते
प्राप्ते यत्र समस्तदुःखविरमाल्लभ्येत नित्यं सुखम् ॥१४३॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे मन चिरकाल से तूने बाह्य स्त्री आदि पदार्थों को देखा है इसलिए तेरा भ्रम से उनमें अनुराग होता है तथा उसी अनुराग से सदा तू दुःखित होता है इसलिए

स्त्री आदि से राग छोड़कर तू अपने अंतरंग में प्रवेश कर तथा ज्ञान के सागर श्रीपरमगुरु से ऐसा कोई उपदेश सुन जिससे तेरे समस्त दुखों का नाश हो जावे तथा तुझे अविनाशी मोक्षरूपी सुख की प्राप्ति हो जावे।

भावार्थ—बाह्य चीजों में अनुराग तथा ममता से हे मन तूने बहुत से दुखों को भोगा इसलिए अब अपने अंतरंग में प्रवेश कर तथा श्रीगुरु का उपदेश सुन जिससे तुझको अविनाशी सुख की प्राप्ति होवे।

(पृथ्वी)

किमाल - कोलाहलैरमलबोधसम्पन्निधेः
समस्ति यदि कौतुकं किल तवात्मनो दर्शने।
निरुद्धसकलेन्द्रियो रहसि मुक्तसंगग्रहः
कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भवान् पश्यतु ॥१४४॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि यदि तू समस्त निर्मल ज्ञान के धारी आत्मा के देखने की इच्छा करता है तो तुझे समस्त स्पर्शनादि इन्द्रियों को रोककर तथा समस्त प्रकार के स्थान परिग्रह का नाशकर और कुछ दिन एकान्त में बैठकर तथा कुछ दिन स्थिर मन होकर उसको देखना चाहिए व्यर्थ कोलाहल करने में क्या रखा है।

भावार्थ–जब तक इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों में फँसी रहेंगी तथा जब तक निरन्तर परिग्रह में ममता रहेगी और जब तक मन चंचल रहेगा तब तक कदापि आत्मा का स्वरूप देखने में नहीं आ सकता इसलिए जो भव्यजीव आत्मा के स्वरूप को देखना चाहते हैं उनको इन्द्रियों को रोकना चाहिए तथा परिग्रह का त्याग करना चाहिए और मन को निश्चल करना चाहिए तभी आत्मा का स्वरूप मालूम पड़ सकता है।

(जीव और मन का परस्पर में संवाद)

(शार्दूलविक्रीडित)

भो चेतः किमु जीव तिष्ठसि कथं चिन्तास्थितं सा कुतो
रागद्वेषवशात्तयोः परिचयः कस्माच्च जातस्तव।
इष्टानिष्टसमागमादिति यदि श्वभ्रं तदावां गतौ
नोचेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरादिष्टादिसंकल्पनम् ॥१४५॥

अर्थ—जीव मन से पूछता है कि रे मन तू कैसे रहता है, मन उत्तर देता है कि मैं सदा चिंता मैं व्यग्र रहता हूँ फिर जीव पूछता है कि तुझे चिंता क्यों है फिर मन उत्तर देता है कि मुझे राग-द्वेष के कारण से चिंता है फिर जीव पूछता है कि तेरा इनके साथ परिचय कहाँ से हुआ फिर मन उत्तर देता

है कि भली बुरी वस्तुओं के सम्बन्ध से राग-द्वेष का परिचय हुआ है तब फिर जीव कहता है कि हे मन यदि ऐसी बात है तो शीघ्र ही भली बुरी वस्तुओं के सम्बन्ध को छोड़ो, नहीं तो हम दोनों को नरक में जाना पड़ेगा।

भावार्थ—स्वभाव से न कोई वस्तु इष्ट है न अनिष्ट है इसलिए इष्ट तथा अनिष्ट में संकल्प कर रागद्वेष करना निष्प्रयोजन है क्योंकि रागद्वेष से केवल दुख ही भोगने पड़ते हैं इसलिए समस्त पर वस्तुओं को छोड़कर समता ही धारण करनी चाहिए। ऐसी अपने-अपने मन को निरन्तर भव्य जीवों को शिक्षा देना योग्य है।

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते
सानन्दा कृतकृत्यता च सहसा स्वान्ते समुन्मीलति।
यस्यैकस्मृतिमात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहान्तरे
देवस्तिष्ठति मृग्यतां सरभसादन्यत्र किं धावत॥१४६॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि जिस एक आत्मा के स्मरण मात्र से सम्यग्ज्ञानरूपी तेज का उदय होता है तथा मोहरूपी अंधकार दूर हो जाता है और चित्त में नाना प्रकार का आनन्द होता है तथा कृतकृत्यता भी चित्त में उदित हो जाती है वही अनन्त शक्ति का धारक भगवान् आत्मा इस ही शरीर में निवास करता है उसको ढूँढ़ो, व्यर्थ क्या दूसरी जगह अज्ञानी होकर फिरते हो?

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविचित्रवस्तुविविधाकारर्द्धिरूपादयो
रागद्वेषकृतोऽत्र मोहवशतो दृष्टाः श्रुताः सेविताः।
जातास्ते दृढबंधनं चिरमतो दुःखं तवात्मन्निदं
नूनं जानत एव किं बहिरसावद्यापि धीर्धावति॥१४७॥

अर्थ—फिर भी आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि अरे जीव इस संसार में चेतन, अचेतन स्वरूप नाना प्रकार के पदार्थ तथा नाना प्रकार के आकार और भाँति-भाँति की संपदा तथा रूप, रस आदि सर्व मोह के वश से रागद्वेष को करने वाले हैं और मोह के वश से ही देखे गये हैं तथा सुने गये हैं और सेवन किये गये हैं और इस ही कारण मोह से चिरकाल पर्यंत वे सर्व पदार्थ तेरे दृढ़ बंधन हुए हैं तथा दृढ़ बंधन से ही तुझे नाना प्रकार के दुख भोगने पड़े हैं ऐसा भलीभाँति जानते हुए भी तेरी बुद्धि बाह्य पदार्थों में दौड़ती है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—चेतन, अचेतन, स्त्री, पुत्र, कलत्र, गृह, धन, धान्यादि बाह्य पदार्थों में मोह से चिरकाल तक तुझे नाना प्रकार के बंधनों में फँसना पड़ा है तथा नाना प्रकार के दुख भी भोगने पड़े हैं ऐसा भलीभाँति तुझे ज्ञान है तो भी नहीं मालूम क्यों अब भी तेरी चित्तवृत्ति बाह्य पदार्थों में लगी

हुई है इसलिए अब बाह्य पदार्थों से मोह छोड़कर तुझे अपने वास्तविक अनन्त विज्ञानादि स्वरूप का चिंतन करना चाहिए।

अब आचार्य इस बात को दिखलाते हैं कि निम्नलिखित प्रकार से विचार करने पर किसी प्रकार संसार से भय नहीं हो सकता—

भिन्नोऽहं वपुषो बहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः,
शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिरमलः शान्तः सदानन्दभाक्।
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं साम्यादनारम्भिणः,
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः ॥१४८॥

अर्थ—नाना प्रकार के विष्टा, मूत्रादि मल के घर स्वरूप इस शरीर से मैं भिन्न हूँ तथा मन में उठे हुए नाना प्रकार के विकल्पों से भी मैं भिन्न हूँ और शब्द, रस आदि से भी मैं जुदा हूँ तथा मेरी एक चैतन्यमयी मूर्ति है और मैं समस्त प्रकार के मल से रहित हूँ तथा क्रोधादि के अभाव से मैं सदा शांत हूँ और सदा काल आनन्द का भजने वाला हूँ इस प्रकार का जिसके मन में मजबूत श्रद्धान है तथा समता का धारी होने से जिसका समस्त प्रकार का आरम्भ छूट गया है ऐसे मनुष्य को किसी प्रकार संसार से भय नहीं हो सकता और जब उसको संसार ही भय का करने वाला नहीं तब उसको कोई वस्तु भय की करने वाली नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिस मनुष्य के इस प्रकार के विचार करने से समस्त प्रकार से संसार का भय जाता रहा है उस पुरुष को और किसी वस्तु से भय नहीं हो सकता इसलिए भव्य जीवों को इस प्रकार विचार कर संसार से कदापि भयभीत नहीं होना चाहिए।

किं लोकेन किमाश्रयेण किमथ द्रव्येण कायेन किं,
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं तै र्विकल्पै रपि।
सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्-
नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यतितरामालेन किं बंधनम् ॥१४९॥

अर्थ—आचार्य फिर भी उपदेश देते हैं कि न तो तुझे लोक से प्रयोजन है न लोक के आश्रय से प्रयोजन है और न तुझे द्रव्य से प्रयोजन है न वाणी से प्रयोजन है तथा न तुझे स्पर्शनादि इन्द्रियों से प्रयोजन है न तुझे खोटे विकल्पों से प्रयोजन है क्योंकि ये समस्त पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं और तू चैतन्यस्वरूप है इसलिए ये तेरे स्वरूप से सर्वथा जुदे ही हैं अतः इन वस्तुओं में प्रमाद करता हुआ क्यों वृथा तू दृढ़ बंधन को बाँधता है अर्थात् लोक आदि से ममता करने से तू बंधेगा ही, छूटेगा नहीं।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई चोर यदि पर के द्रव्य को चुराकर अपना कहने लगे तो वह कैद में जाकर नाना प्रकार के बंधन को प्राप्त होता है उसी प्रकार हे जीव यदि तू भी पर की चीज को

अपनायेगा तो दृढ़ बंधन को प्राप्त होगा इसलिए तुझे पर वस्तु को अपनी कदापि नहीं कहनी चाहिए किन्तु अपनी ज्ञान, दर्शनादि वस्तुओं को ही अपनाना चाहिए।

(अनुष्टुप्)

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम्।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्त्ववित् ॥१५०॥

अर्थ—जिस मनुष्य के चित्त में ऐसा विचार उत्पन्न हो गया है कि निरंतर भोगे हुए भी भोगों से पैदा हुआ सुख अशुभ है तथा केवल आत्मा से उत्पन्न हुआ सुख अपूर्व तथा शुभ है वही पुरुष भले प्रकार तत्त्व का ज्ञाता है ऐसा समझना चाहिए। किन्तु उससे भिन्न, विपरीत श्रद्धानी कदापि तत्त्व ज्ञाता नहीं हो सकता।

(पृथ्वी)

प्रतिक्षणमयं जनो नियतमुग्रदुःखातुरः क्षुदादिभिरभिश्रयंस्तदुपशान्तयेऽन्नादिकम्।
तदेव मनुते सुखं भ्रमवशाद्यदेवासुखं समुल्लसति कज्छुकारुजि यथा शिखिस्वेदनम्॥१५१॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं–जिस प्रकार खाज का रोगी मनुष्य अग्नि से खाज के सेकने में सुख मानता है परन्तु अग्नि से सेकना केवल दुख का ही देने वाला है उसी प्रकार यह संसारी जीव जब क्षुधा, तृषा आदि व्याधियों से पैदा हुए दुखों से अत्यन्त पीड़ित होता है तथा उसकी शांति के लिए अन्न जल का आश्रयण करता है उस समय यद्यपि वह अन्न, जल आदि पदार्थ दुख स्वरूप हैं तो भी भ्रम से उनको सुख मानता है।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि से सेकते समय खाज में सुख मालूम होता है किन्तु अंत में अत्यन्त दुख ही भोगना पड़ता है उसी प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख यद्यपि थोड़े समय तक सुख है परन्तु अंत में दुःखदायी है इसलिए भव्य जीवों को इन्द्रियों के सुख की कदापि अभिलाषा नहीं करनी चाहिए किन्तु अविनाशी सुख के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मा स्वं परमीक्षते यदि समं तेनैव संचेष्टते
तस्मा एव हितस्ततोऽपि च सुखी तस्यैव सम्बन्धभाक्।
तस्मिन्नेव गतो भवत्यविरतानन्दामृताम्भोनिधिः[१]
किंचान्यत्सकलोपदेशनिवहस्यैतद्रहस्यं परम् ॥१५२॥

अर्थ—जब यह आत्मा अपने स्वरूप को देखता है तो स्वयं अपने स्वरूप के साथ ही चेष्टा करता है तथा अपने स्वरूप के लिए ही हितस्वरूप बनता है तथा अपने से ही सुखी होता है तथा अपना

---

१. निधौ

ही सम्बन्धी होता है तथा निरंतर जो आनन्दरूप अमृत उसका समुद्र स्वरूप जो अपना स्वरूप उसमें ही लीन होता है इस प्रकार समस्त प्रवृत्तियों की आत्मा में जो दृढ़ स्थिति है यही समस्त उपदेश का असली तात्पर्य है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(आर्या)

परमानन्दाब्जरसं सकलविकल्पान्यसुमनसस्त्यक्त्वा।
योगी स यस्य भजते स्तिमितान्तःकरणषट्चरणः ॥१५३॥

अर्थ—जिस योगी का निश्चल मनरूपी भ्रमर समस्त विकल्परूपी अन्य फूलों को छोड़कर उत्कृष्ट आनंद के धारी शुद्धात्मारूपी कमल के रस का सेवन करता है वही योगीश्वर पूजने योग्य है।

भावार्थ—जिस प्रकार भ्रमर संपूर्ण पुष्पों को छोड़कर कमल के रस का आस्वादन करता है उसी ही प्रकार जो मुनि समस्त विकल्पों को छोड़कर शुद्धात्मा का आस्वादन करते हैं वे ही भव्य जीवों के द्वारा पूजने योग्य हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मनः
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पञ्चताम् ॥१५४॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि परमानंद स्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति तो दूर ही रहो किन्तु केवल उसकी चिंता करने पर ही श्रृंगारादि रस विरस हो जाते हैं, स्त्री-पुत्र आदि की गोष्ठी (सलाह) नष्ट हो जाती है और उनकी कथा और कुतर्क दूर भाग जाते हैं तथा इन्द्रियों के विषय भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और स्त्री, पुत्र आदि की प्रीति तो दूर ही रही शरीर में भी प्रीति नहीं रहती और वचन भी मौन को धारण कर लेता है और समस्त रागद्वेषादि दोषों के साथ मन भी विनाश को प्राप्त हो जाता है इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि ये शुद्धात्मा की चिंता में ही निमग्न बने रहें।

आचार्य आत्मध्यान का वर्णन करते हैं—

(मन्दाक्रान्ता)

आत्मैकः सोपयोगो मम किमपि ततो नान्यदस्तीतिचिन्ता-
भ्यासास्ताशेषवस्तोः स्थितपरममुदा यद्गतिर्नो विकल्पे।
ग्रामे वा कानने वा जनजनितसुखे निःसुखे वा प्रदेशे
साक्षादाराधना सा श्रुतविशदमतेर्बाह्यमन्यत्समस्तम् ॥१५५॥

अर्थ—दर्शन ज्ञानमयी आत्मा ही एक मेरा है इससे भिन्न कोई भी वस्तु मेरी नहीं है इस प्रकार

की चिंता से जिस मनुष्य के मन की परिणति बाह्य पदार्थों से सर्वथा छूट गई है तथा जिसकी शास्त्र के अभ्यास से बुद्धि निर्मल हो गई है और जो परमानंद का धारी है उस मनुष्य के मन की प्रवृत्ति का विकल्पों से हट जाना तथा गाँव में अथवा वन में अथवा मनुष्यों को सुख के उपजाने वाले प्रदेश में अथवा दुख उपजावने वाले प्रदेश में भी मन का न जाना किन्तु अपने आत्मा के अनुभव में ही लीन होना यही उत्कृष्ट आराधना है परन्तु इससे भिन्न सब बाह्य है तथा सर्व त्यागने योग्य है।

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्यन्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना
नैवान्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना।
यद्यन्तर्बहिरन्यवस्तु तपसा बाह्येन किं फल्गुना
नैवान्तर्बहिरन्यवस्तुतपसा बाह्येन किं फल्गुना ॥१५६॥

अर्थ—आचार्य फिर भी उपदेश देते हैं कि बाह्य वस्तु से जुदे होकर यदि इन्द्रियों का शुद्धात्मा के साथ सम्बन्ध रहा तो बाह्य में तप करना व्यर्थ है और यदि इन्द्रियों का शुद्धात्मा के साथ सम्बन्ध न रहा तो भी तप करना व्यर्थ है और यदि अंतरंग अथवा बाह्य में अन्य पदार्थों की ममता बनी रही तो तप करना व्यर्थ है तथा यदि अंतरंग में तथा बाह्य में किसी पदार्थ से ममता नहीं रही तो भी तप करना व्यर्थ ही है।

भावार्थ—तप इन्द्रिय तथा पदार्थों में ममता के दूर करने के लिए किया जाता है यदि इन्द्रियों का सम्बन्ध तथा पदार्थों में ममता बनी रही तो भी किया हुआ भी तप व्यर्थ ही है अर्थात् वह तप निष्प्रयोजन ही है यदि इन्द्रियों का सम्बन्ध टूट गया तथा पदार्थों से ममता भी दूर हो गई तो भी तप करना व्यर्थ ही है क्योंकि जिनके नाश के लिए तप किया जाता है वे तो प्रथम से ही नष्ट हो चुकी इसलिए इन्द्रियों का सम्बन्ध तथा पदार्थों में ममता दूर करने के लिए ही तप करना चाहिए।

शुद्धं वागतिवर्तितत्त्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं
शुद्धादेशमिति प्रभेदजनकं शुद्धेतरत्कल्पितं।
तत्राद्यं श्रयणीयमेव विदुषा[१] शेषद्वयोपायतः
सापेक्षा नयसंहतिः फलवती संजायते नान्यथा ॥१५७॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि शुद्धनय तो वचन के द्वारा कहा नहीं जा सकता किन्तु व्यवहारनय ही वचन के द्वारा कहा जाता है तथा वह व्यवहारनय शुद्धनय को कहने वाला है इसलिए उसको शुद्धादेश शुद्धनय को कहने वाला भी कहते हैं और जो भेद को उत्पन्न कराने वाला है उसको अशुद्धनय कहते हैं इस रीति से शुद्ध, शुद्धादेश तथा अशुद्ध के भेद से नय के तीन भेद हुए उन तीनों में शुद्धनय

---

१. सुदृशा

जो है सो शुद्धादेश तथा अशुद्धनय के उपाय से होता है इसलिए विद्वानों को शुद्धनय का ही आश्रय करना चाहिए तथा यह नियम है कि आपस में एक दूसरे की अपेक्षा करने वाला ही नय का समूह कार्यकारी हो सकता है परन्तु एकान्त से भिन्न नहीं।

भावार्थ—यद्यपि शुद्धनय ही ग्रहण करने योग्य है तथापि व्यवहार बिना शुद्धनय कदापि नहीं हो सकता इसलिए व्यवहार से ही शुद्धनय का सिद्ध करना योग्य है क्योंकि व्यवहार की अपेक्षा नहीं करने वाला शुद्धनय कोई कार्यकारी नहीं तथा निश्चयनय की नहीं अपेक्षा करने वाला व्यवहारनय भी कोई प्रयोजन का नहीं है, किन्तु एक दूसरे की अपेक्षा करने वाला ही नय कार्यकारी है।

फिर भी ग्रन्थकार शुद्धात्मा का वर्णन करते हैं—

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं जीवस्य नार्थान्तरं
शुद्धादेशविवक्षया स हि ततश्चिद्रूप इत्युच्यते।
पर्यायैश्च गुणैश्च साधु विदिते तस्मिन् गिरा सद्गुरो-
र्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥१५८॥

अर्थ—यद्यपि व्यवहार नय से ज्ञानदर्शन आत्मा से भिन्न हैं तथापि शुद्धनय की विवक्षा करने पर समस्त पदार्थों को हाथ की रेखा के समान जानने वाला तथा देखने वाला ज्ञान तथा दर्शन आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु दर्शन, ज्ञान चेतना स्वरूप ही यह आत्मा है इसलिए जिन योगियों ने श्रेष्ठ गुरुओं के उपदेश से यदि गुण तथा पर्यायों सहित आत्मा को जान लिया तो उनने समस्त को जान लिया तथा सबको देख लिया तथा जो कुछ प्राप्त करने योग्य वस्तु थी उस सबको भी पा लिया।

भावार्थ—जिस पुरुष ने दर्शन, ज्ञानस्वरूप आत्मा को गुणपर्यायों सहित जान लिया तो समझना चाहिए उसने सबको जान लिया तथा देख लिया।

यन्नान्तर्न बहिः स्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम्।
कर्मस्पर्शशरीरगंधगणनाव्याहारवर्णोज्झितं
स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्ति तदहं ज्योतिःपरं नापरम्॥१५९॥

अर्थ—आत्मज्ञानी पुरुष इस प्रकार का विचार करता है कि न मैं भीतर हूँ, न बाहर हूँ, न किसी दिशा में हूँ, न मोटा हूँ, न पतला हूँ, न पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, न भारी हूँ, न हलका हूँ और न मेरा कर्म है, न स्पर्श है, न शरीर है, न गंध है, न संख्या है, न शब्द है, न वर्ण है तथा जो अत्यन्त स्वच्छ तथा ज्ञानदर्शनमयी मूर्ति की धारक ज्योति है वही मैं हूँ और उससे भिन्न कोई नहीं हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष इस बात का विचार करता है कि स्थूल, सूक्ष्मादिक तथा स्त्री, पुरुष, नपुंसकादिक तथा स्पर्श, रस, गन्धादिक सब पुद्गल के विकार हैं तथा मैं उनसे सर्वथा भिन्न हूँ किन्तु

मेरी एक ज्ञान-दर्शनमयी मूर्ति है।

और भी आचार्य शुद्धात्मा का वर्णन करते हैं—

जानन्ति स्वयमेव यद्विमनसश्चिद्रूपमानंदवत्,
प्रोच्छिन्ने यदनाद्यमंदमसकृन्मोहान्धकारे हठात्।
सूर्याचन्द्रमसावतीत्य यदहो विश्वप्रकाशात्मकं,
तज्जीयात्सहजं सुनिष्कलमहं शब्दाभिधेयं महः ॥१६०॥

अर्थ—आनंद के धारी जिस चैतन्यरूपी तेज को अनादिकाल से विद्यमान तथा गाढ़ मोहरूपी अंधकार को तप के द्वारा सर्वथा नाशकर केवल ज्ञान के धारी पुरुष अपने आप जान लेते हैं तथा जो चैतन्यरूपी तेज सूर्य चन्द्रमा के तेज को फीका करने वाला है तथा समस्त पदार्थों का भलीभाँति प्रकाश करने वाला है और जिसका मैं (अहम्) इस शब्द से अनुभव होता है तथा जो स्वाभाविक है ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज सदा काल जयवन्त रहो।

ज्ञानी पुरुष इस प्रकार का भी विचार करता है—

(वसंततिलका)

यज्जायते किमपि कर्मवशादसातं सातं च यत्तदनुयायि विकल्पजालम्।
जातं मनागपि न यत्र पदं तदेव देवेन्द्रवन्दितमहं शरणं गतोऽस्मि ॥१६१॥

अर्थ—जिस मोक्ष पद में न तो कर्म के वश से साता होती है और न कर्म के वश से असाता होती है तथा उन साता तथा असाता के अभाव में जहाँ पर किसी प्रकार के विकल्प ही नहीं उठते हैं और जिस पद की बड़े-बड़े इंद्रादिक भी स्तुति करते हैं ऐसे मोक्षपद की शरण को मैं प्राप्त होना चाहता हूँ।

आगे आचार्य और भी ज्ञानी के विचार को दिखाते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

धिक्कान्तास्तनमण्डलं धिगमलप्रालेयरोचिःकरान्
धिक्कर्पूरविमिश्रचंदनरसं धिक् ताञ्जलादीनपि।
यत्प्राप्तं न कदाचिदत्र तदिदं संसारसंतापहृत्
लग्नं चेदतिशीतलं गुरुवचोदिव्यामृतं मे हृदि ॥१६२॥

अर्थ—संसार में यह बात भलीभाँति प्रचलित है तथा अज्ञानी मनुष्य इस बात को मानते भी हैं कि यदि किसी प्रकार का संताप हो जावे तो उस संतप्त प्राणी को स्त्री के स्तनों के स्पर्श से तथा चन्द्रमा की किरण आदि के सेवन से संताप को दूर कर देना चाहिए परन्तु ज्ञानी मनुष्य इस बात को सर्वथा नहीं मानता तथा इससे विपरीत ही विचार करता है अर्थात् वह कहता है कि जिसकी कभी भी प्राप्ति

नहीं हुई है तथा जो सब संसार के दुखों को दूर करने वाला है और जो अत्यन्त शीतल है ऐसा यदि गुरुओं का वचन मेरे मन में मौजूद है तो जिनको मनुष्य शीतल करने वाले कहते हैं ऐसे स्त्री के कुचों को धिक्कार हो तथा चन्द्रमा की शीतल किरणों को धिक्कार हो तथा कर्पूर मिले हुए चंदन के रस को धिक्कार हो तथा जल आदि को भी धिक्कार हो।

भावार्थ—सिवाय गुरु के उपदेश के ये समस्त चीजें संताप को ही करने वाली हैं अंश मात्र भी शांति को करने वाली नहीं हैं इसलिए जो मनुष्य शांति के अभिलाषी हैं उनको गुरु के वचन का ही आश्रय लेना चाहिए।

अब आचार्य शुद्धात्मा की परिणतिस्वरूप धर्म में मग्न हुए योगियों को नमस्कार करते हैं—

जित्वा मोहमहाभटं भवपथे दत्तोग्रदुःखश्रमे
विश्रान्ता विजनेषु योगिपथिका दीर्घे चरन्तः क्रमात्।
प्राप्ता ज्ञानधनाश्चिरादभिमतं स्वात्मोपलं तिष्ठति
नित्यानंदकलत्रसंगसुखिनो ये तत्र तेभ्यो नमः ॥१६३॥

अर्थ—जो योगीश्वर रूप पथिक अत्यन्त दुख को देने वाले संसाररूपी विशाल मार्ग में विचरते हुए समस्त ज्ञानादिक धन को चुराने वाले मोहरूपी योद्धा को जीतकर निर्जन स्थान में विश्राम लेते हैं तथा जो ज्ञानरूपी धन के स्वामी हैं और जिसका कभी भी नहीं नाश होने वाला है ऐसा जो आत्मिक सुखरूपी स्त्री उसके संग से जो सदा सुखी हैं तथा अपने आत्मा के स्वरूप की जहाँ पर प्राप्ति होती है ऐसे स्थान में विराजमान हैं उन योगियों को मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई धन युक्त पथिक किसी बड़े मार्ग में मिले हुए चोरों को जीतकर तथा अपने धन को बचाकर जब वांछित स्थान पर पहुँच जाता है तब वह अपनी स्त्री के साथ नाना प्रकार के भोग-विलासों को करता हुआ सुख से रहता है उस ही प्रकार जिन योगीश्वरों ने संसार रूपी गहन मार्ग में रहने वाले तथा ज्ञानरूपी धन को चुराने वाले मोहरूपी ठग को जीतकर अपने ज्ञान धन की रक्षा की है तथा जो मोक्ष रूपी स्त्री के साथ नाना प्रकार के सुखों का भोग करते हैं और अपने आत्मस्वरूप में लीन हैं ऐसे उन योगीश्वरों को मैं मस्तक नवाकर नमस्कार करता हूँ।

धर्म की महिमा का तथा धर्म के उपदेश

इत्यादिर्धर्म एष क्षितिपसुरसुखानर्घ्यमाणिक्यकोषः
पाथो दुःखानलानां परमपदलसत्सौधसोपानराजिः।
एतन्माहात्म्यमीशः कथयति जगतां केवली साध्वधीता।
सर्वस्मिन् वाङ्मयेऽथ स्मरति परमहो मादृशस्तस्य नाम ॥१६४॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्व में जो दया आदिक पाँच प्रकार का धर्म कहा है वह धर्म बड़े-

बड़े चक्रवर्ती आदिक राजाओं के तथा इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के सुख का देने वाला है तथा समस्त दुखों को मूल से नाश करने वाला है और वह धर्म निर्वाणरूपी महल के चढ़ने के लिए पैड़ी के समान है अर्थात् जो मनुष्य धर्म को धारण करता है उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसे उस धर्म के माहात्म्य को साक्षात् केवली अथवा समस्त द्वादशांग के पाठी गणधर ही वर्णन कर सकते हैं परन्तु मेरे समान मनुष्य तो केवल उसके नाम को ही स्मरण कर सकते हैं।

भावार्थ—धर्म की महिमा का वर्णन सिवाय केवली अथवा गणधर देव के दूसरा कोई नहीं कर सकता।

धर्म ही धारण करने योग्य है ऐसा उपदेश कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

शश्वज्जन्मजरान्तकालविलसद्दुःखौघसारीभवत्
संसारोग्रमहारुजोऽपहृतयेऽनन्तप्रमोदाय वै।
एतद्धर्मरसायनं ननु बुधाः कर्तुं मतिश्चेत्तदा
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादनिकरः क्रोधादि संत्यज्यताम्॥१६५॥

अर्थ—भो भव्य जीवो! यदि तुम निरन्तर जन्म-जरा-मरण आदिक समस्त दुखों को देने वाले संसाररूपी भयंकर रोग के दूर करने के लिए धर्मरूपी रसायन का आश्रय लेना चाहते हो तथा अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए भी धर्मरूपी रसायन का आश्रय करना चाहते हो तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा क्रोधादि कषायों का सर्वथा त्याग करो।

भावार्थ—जब तक क्रोधादि कषायों का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक न तुम नाना दुखों के देने वाले संसाररूपी महारोग का शमन कर सकते हो और न तुम अविनाशी सुख की तरफ झाँक सकते हो इसलिए यदि तुम संसार रूपी महारोग के दूर करने की अभिलाषा करते हो तथा यदि तुम अविनाशी सुख को चाहते हो तो मिथ्यात्व आदि की तरफ झाँक करके भी न देखो।

अब आचार्य धर्म का दुर्लभपना दिखाते हैं—

नष्टं रत्नमिवाम्बुधौ निधिरिव प्रभ्रष्टदृष्टेर्यथा
योगो यूपशलाकयोश्च गतयोः पूर्वापरौ तोयधी।
संसारेऽत्र तथा नरत्वमसकृद्दुःखप्रदे दुर्लभं
लब्धे तत्र च जन्म निर्मलकुले तत्रापि धर्मे मतिः॥१६६॥

अर्थ—जिस प्रकार अथाह समुद्र में यदि रत्न गिर पड़े फिर उसका मिलना बहुत कठिन है तथा जैसे अंधे को निधि मिलना अत्यन्त दुर्लभ है और जिस प्रकार समुद्र में किसी स्थान पर दो काष्ठ खण्डों

को छोड़ देना उनमें एक को पूर्व दिशा की ओर बहा देना तथा दूसरे को पश्चिम दिशा की ओर बहा देना फिर उनका उसी स्थान पर मिलना दु:साध्य है उसी प्रकार निरंतर नाना प्रकार के दुखों के देने वाले इस संसार में मनुष्य जन्म का पाना बहुत कठिन है यदि दैवयोग से मनुष्य जन्म भी मिल जावे तो फिर उत्तम कुल मिलना अत्यन्त दुर्लभ है यदि किसी समय में उत्तम कुल की भी प्राप्ति हो जावे तो फिर धर्म में श्रद्धा होना अत्यन्त दु:साध्य है इसलिए भव्य जीवों को ऐसे अत्यन्त दुर्लभ धर्म की अवश्य उपासना करनी चाहिए।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि अत्यन्त दुर्लभ धर्म आदिक वस्तु खोटे उपदेश से व्यर्थ चली जाती है—

न्यायादन्धकवर्तकीयकजनाख्यानस्य संसारिणां
प्राप्तं वा बहुकल्पकोटिभिरिदं कृच्छ्रान्नरत्वं यदि।
मिथ्यादेवगुरूपदेशविषयव्यामोहनीचान्वय-
प्रायैः प्राणभृतां तदेव सहसा वैफल्यमागच्छति ॥१६७॥

अर्थ—प्रथम तो मनुष्य जन्म पाना संसार में अत्यन्त कठिन काम है दैवयोग से अंधे के हाथ में बटेर के समान करोड़ों कल्पों के बाद यदि इस अत्यन्त दु:साध्य मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जावे तो वह मनुष्य जन्म खोटे देव तथा खोटे गुरुओं के उपदेश से निष्फल चला जाता है तथा विषयों में आसक्तता से तथा व्यसनादिक नीच कार्य करने से भी वह बात ही बात में व्यर्थ चला जाता है।

भावार्थ—बटेर एक जाति का अत्यन्त चंचल पक्षी होता है, वह चतुर से चतुर भी नेत्रधारियों के हाथ में बड़ी कठिनता से आता है फिर अंधे के हाथ में आना तो उसका अत्यन्त ही कठिन है यदि दैवयोग से वह अंधे के हाथ में आ जावे तो जिस प्रकार उसका आना बहुत कठिन समझा जाता है उसी प्रकार यह मनुष्य जन्म है क्योंकि सबसे निकृष्ट निगोद राशि है उसमें से निकलकर बड़े पुण्य के उदय से यह जीव एकेन्द्री होता है फिर दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री होता है फिर बड़े पुण्य के उदय से इस मनुष्य जन्म को धारण करता है किन्तु ऐसा भी कठिन वह मनुष्य जन्म खोटे देव तथा गुरु आदि के उपदेश आदि से व्यर्थ ही चला जाता है इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर वे खोटे देवकी सेवा तथा खोटे गुरुओं के उपदेश का श्रवण न करे तथा विषयों में भी मग्न न रहें।

कुगुरु कुदेवादि की सेवा आदि के त्याग से ही मनुष्य जन्म सफल होता है ऐसा आचार्य वर्णन करते हैं—

(वसंततिलका)

लब्धे कथं कथमपीह मनुष्यजन्मन्यङ्ग प्रसंगवशतो हि कुरु स्वकार्यम्।
प्राप्तं तु कामपि गतिं कुमते तिरश्चां कस्त्वां भविष्यति विबोधयितुं समर्थः ॥१६८॥

अर्थ—हे भव्यजीव! बड़े पुण्य कर्म के उदय से तुझे इस मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुई है इसलिए शीघ्र ही कोई अपने हित का करने वाला काम कर, नहीं तो रे मूर्ख! जिस समय तिर्यञ्च आदि खोटी गति को प्राप्त हो जायेगा तो वहाँ पर तुझे कोई समझा भी नहीं सकेगा।

भावार्थ—समझाने पर मनुष्य ही शीघ्र समझ सकता है पशु में यह शक्ति नहीं है जो समझाने पर समझ जावे इसलिए भव्य जीवों को मनुष्य जन्म में ही ऐसा काम करना चाहिए जिससे वे तिर्यञ्च आदि खोटी गति को न प्राप्त होवे तथा वहाँ पर वे नाना प्रकार के दुख न भोगें।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले क्लेशान्मतेः पाटवं
भक्तिं जैनमते कथं कथमपि प्रागर्जिताच्छ्रेयसः।
संसारार्णवतारकं सुखकरं धर्मं न ये कुर्वते
हस्तप्राप्यमनर्घ्यरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥१६९॥

अर्थ—जो मनुष्य अत्यन्त कठिन मनुष्य जन्म को पाकर तथा उत्तम कुल को पाकर और किसी प्रकार पूर्वकाल में उपार्जन किये हुए पुण्य के उदय से जैनधर्म के भक्त भी होकर संसार समुद्र से पार करने वाले तथा नाना प्रकार के सुख के देने वाले धर्म की सेवा नहीं करते हैं वे मूर्ख हाथ में आये हुए अमूल्य रत्न को छोड़ देते हैं।

भावार्थ—प्रथम तो रत्न की प्राप्ति ही अत्यन्त कठिन है यदि प्राप्त भी हो जावे तो उसको व्यर्थ फेंक देना सर्वथा मूर्खता है उसी प्रकार उत्तम कुलादि को प्राप्त कर धर्म का न करना भी मूर्खता है इसलिए भव्यजीवों को धर्म की अवश्य उपासना करना चाहिए।

जो मनुष्य अवसर पाकर भी धर्म नहीं करते हैं उनकी ग्रन्थकार निंदा करते हैं—

तिष्ठत्यायुरतीव दीर्घमखिलान्यङ्गानि दूरं दृढा-
न्येषा श्रीरपि मे वशं गतवती किं व्याकुलत्वं मुधा।
आयत्यां निरवग्रहो गतवया धर्मं करिष्ये भरा-
दित्येवं बत चिंतयन्नपि जडो यात्यन्तकग्रासताम् ॥१७०॥

अर्थ—अभी मेरी आयु बहुत है हाथ, पैर, नाक, कान आदिक भी मजबूत हैं तथा लक्ष्मी भी विद्यमान है इसलिए व्यर्थ धर्मादि के लिए क्यों व्याकुल होना चाहिए किन्तु इस समय तो आनंद से

भोगों को भोगना चाहिए। भविष्यत्काल में जिस समय वृद्ध हो जाऊँगा उस समय निश्चय कर अच्छी तरह धर्म का आराधन करूँगा इस प्रकार विचार करते करते ही मूर्ख मर जाता है इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे मृत्यु सदा शिर पर छाई हुई है, इस भय से निरंतर धर्म की आराधना करें।

(आर्या)

पलितैकदर्शनादपि सरति सतश्चित्तमाशु वैराग्यम्।
प्रतिदिनमितरस्य पुनः सह जरया वर्द्धते तृष्णा ॥१७१॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानी हैं वे तो सफेद केश को देखते ही वैराग्य को प्राप्त होते हैं किन्तु जो मनुष्य ज्ञान रहित हैं उनको तो जैसा-जैसा सफेद केशों का दर्शन होता जाता है वैसी वैसी ही उनकी तृष्णा और भी बढ़ती चली जाती है और उनको वैराग्य की बात भी बुरी लगती है।

तथा वे अज्ञानी पुरुष तृष्णा को इस प्रकार कहते हैं—

(मन्दाक्रान्ता)

आजातेर्नस्त्वमसि दयिता नित्यमासन्नगासि
प्रौढास्याशे किमथ बहुना स्त्रीत्वमालम्बितासि।
अस्मत्केशग्रहणमकरोदग्रतस्ते जरेयं
मर्षस्येतन्मम च हतके स्नेहलाद्यापि चित्रम्॥१७२॥

अर्थ—हे तृष्णे! आजन्म से तू हमारी प्रिया है और तू सदा हमारे पास रहने वाली है तथा तू प्रौढ़ा है और अधिक कहाँ तक कहा जाये तू साक्षात् हमारी स्त्री ही है परन्तु अरे दुष्ट तेरे सामने भी इस जरा ने हमारे केश पकड़ लिए हैं तो भी तू सहन करती है फिर भी हमारी प्यारी है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—स्त्री का यह स्वभाव होता है कि यदि वह अपने पति के साथ किसी दूसरी स्त्री को क्रीड़ा करती तथा रमण करती देख लेवे तो उससे बड़ी भारी ईर्ष्या करती है तथा तत्काल ही उसका पति के साथ सम्बन्ध छुड़ाने की चेष्टा करती है यदि सम्बन्ध न छूट सके तो प्रीति तो अवश्य ही छुड़ा देती है अतएव अज्ञानी पुरुष इस प्रकार तृष्णा को संबोधते हैं कि अयिप्रिये तृष्णे! इस जरा ने हमारे केश पकड़ लिए हैं तो भी तू कुछ नहीं कहती है अर्थात् तुझे इसका हमारे साथ सम्बन्ध छुटा देना चाहिए।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

(वसंततिलका)

रङ्कायते परिवृढोऽपि दृढोऽपि मृत्युमभ्येति दैववशतः क्षणतोऽत्र लोके।
तत्कः करोति मदमम्बुजपत्रवारिबिन्दूपमैर्धनकलेवरजीविताद्यैः॥१७३॥

अर्थ—जो मनुष्य इस संसार में धनी हैं वह क्षण भर में रंक हो जाता है और जो रंक हैं वह पल भर में धनी हो जाता है तथा जो बलवान् दिखता है वह दैवयोग से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इसलिए ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो धन, शरीर, जीवन आदि को कमल के पत्ते पर जल की बूँद के समान विनाशीक जानकर भी मद करे अर्थात् कोई भी मद नहीं कर सकता।

आगे आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि स्त्री, पुत्र आदिक यद्यपि विनाशीक है तो भी मोह से विपरीत होते ही हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रातर्दर्भदलाग्रकोटिघटितावश्यायबिन्दूत्कर-
प्रायाः प्राणधनांगजप्रणयिनीमित्रादयो देहिनाम्।
अक्षाणां सुखमेतदुग्रविषवद्धर्मं विहाय स्फुटं
सर्वं भङ्गुरमत्र दुःखदमहो मोहः करोत्यन्यथा ॥१७४॥

अर्थ—संसार में प्राणियों के प्राण हाथी, स्त्री, मित्र, पुत्र आदिक प्रातःकाल में दर्भ के पत्ते के अग्रभाग पर लगे हुए ओस के बूँद के समान चंचल हैं और इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुख भयंकर जहर के समान हैं तथा एक धर्म तो अविनाशी तथा सुख का देने वाला है किन्तु धर्म से भिन्न समस्त वस्तु क्षणभर में विनाशीक हैं तथा दुख देने वाली हैं परन्तु यह मोह अन्यथा ही करता है अर्थात् जो वस्तु नित्य तथा सुख को देने वाली हैं वे मोह के उदय से अनित्य तथा दुख को देने वाली मालूम पड़ती हैं और जो वस्तु अनित्य तथा दुख को देने वाली है वे मोह के कारण नित्य तथा सुख को देने वाली जान पड़ती है।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जब तक काल सम्मुख नहीं आता तब तक समस्त पुरुषार्थ चलता है इसलिए काल को रोकने का उपाय करना चाहिए।

तावद्वल्गति वैरिणां प्रति चमूस्तावत्परं पौरुषं,
तीक्ष्णस्तावदसिर्भुजौ दृढतरौ तावच्च कोपोद्गमः।
भूपस्यापि यमो न यावददयः क्षुत्पीडितः सम्मुखं,
धावत्यन्तरिदं विचिन्त्य विदुषा तद्रोधको मृग्यते॥१७५॥

अर्थ—जब तक क्षुधा से पीड़ित यह निर्दयी काल, राजा के भी सामने नहीं पड़ता तब तक उस राजा की सेना भी जहाँ-तहाँ उछलती फिरती है तथा उत्कृष्ट पौरुष भी मालूम पड़ता है तथा तब तक तलवार खूब शत्रुओं के नाश करने के लिए पैनी बनी रहती है तथा भुजा भी बलवान् रहती हैं और कोप का भी उदय रहता है परन्तु जिस समय वह कालबली सामने पड़ जाता है तब ऊपर लिखी हुई बातों में से एक भी बात नहीं होती ऐसा भलीभाँति विचार कर विद्वान् पुरुष उस काल के रोकने वाले को ढूँढ़ते हैं।

भावार्थ-इस कालबली को रोकने वाला मात्र एक जिनेन्द्र का धर्म ही है क्योंकि धर्मात्माओं का काल कुछ नहीं कर सकता इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे धर्म की आराधना करें।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

(मालिनी)

रतिजलरममाणो मृत्युकैवर्तहस्तप्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥१७६॥

अर्थ—जिस प्रकार मल्लाहों के द्वारा बिछाये हुए जाल में रहकर भी मछलियों का समूह जल में क्रीड़ा करता रहता है किन्तु मारे जायेंगे इस प्रकार आई हुई आपत्ति पर कुछ भी ध्यान नहीं देता उसी प्रकार यह लोकरूपी मीनों का समूह मृत्युरूपी मल्लाहों के द्वारा बिछाये हुए प्रबल जरारूपी जाल में रहकर इन्द्रियों के विषय में प्रीतिरूपी जो जल उसमें निरन्तर क्रीड़ा ही करता रहता है किन्तु आने वाली नरकादि आपत्तियों पर कुछ भी विचार नहीं करता।

धर्म से ही मृत्यु जीती जाती है इस बात को दिखाते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

क्षुद्भुक्तेस्तृडपीह शीतलजलाद् भूतादिका मन्त्रतः,
सामादेरहितो गदाद्गदगणः शांतिं नृभिर्नीयते।
नो मृत्युस्तु सुरैरपीति हि मृते मित्रेऽपि पुत्रेऽपि वा,
शोको न क्रियते बुधैः परमहो धर्मस्ततस्तज्जयः ॥१७७॥

अर्थ—मनुष्य क्षुधा को भोजन से, प्यास को शीतल जल के पीने से तथा भूतादिकों को मंत्र से तथा बैरी को साम-दाम-दण्डादिक से और रोग को औषधि आदि से शान्त कर लेते हैं परन्तु मृत्यु को देवादिक भी शान्त नहीं कर सकते इसलिए विद्वान् पुरुष मित्र तथा पुत्र के मर जाने पर भी शोक नहीं करते किन्तु वे उत्तम धर्म का ही आराधन करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उत्तम धर्म से ही मृत्यु का जय होता है।

भावार्थ—इस संसार में समस्त रोगादि की शान्ति के उपाय मौजूद हैं परन्तु मृत्यु को शान्ति के सिवाय धर्म के दूसरा कोई उपाय नहीं इसलिए विद्वानों को यदि मृत्यु से बचना है तो उनको अवश्य ही धर्म की आराधना करनी चाहिए।

आचार्य धर्म की ही महिमा का वर्णन करते हैं—

(मन्दाक्रान्ता)

त्यक्त्वा दूरं विधुरपयसो दुर्गतिक्लिष्टकृच्छ्रान्,
लब्धानंदं सुचिरममरश्रीसरस्यां रमन्ते।

एत्यैतस्या नृपपदसरस्यक्षयं धर्मपक्षा,
यान्त्येतस्मादपि शिवपदं मानसं भव्यहंसा: ॥१७८॥

अर्थ—जिस प्रकार हंस नामक पक्षी खराब जल के भरे हुए तालाब को छोड़कर निर्मल जल के भरे हुए सरोवर में अपने पंखों के बल से चला जाता है तथा वहाँ पर चिरकाल तक आनंद से क्रीड़ा करता है तथा अपने पंखों के ही बल से उस सरोवर को छोड़कर दूसरे सरोवर को चला जाता है इस ही प्रकार क्रमशः नाना उत्तम सरोवरों के आनंद को भोगता-भोगता वही हंस मानस सरोवर को प्राप्त हो जाता है तथा वह वहाँ पर चिरकाल तक नाना प्रकार के आनन्दों का भोग करता है उसी प्रकार ये भव्यरूपी हंस भी धर्मरूपी पंख के बल से दुखरूपी जलसे भरे हुए दुर्गतिरूप तालाब को छोड़कर देवलोक सम्बन्धी जो लक्ष्मीरूपी सरोवरी उसमें आनंद के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते हैं तथा उसको भी छोड़कर धर्म के ही बल से वे नाना प्रकार के चक्रवर्ती आदि राजाओं के पदरूपी सरोवर में क्रीड़ा करते हैं अर्थात् चक्रवर्ती आदि पद का भोग करते हैं पीछे उससे विमुख होकर धर्म के बल से ही वे भव्यरूपी हंस मोक्ष पदरूपी मानस सरोवर को प्राप्त हो जाते हैं इसलिए भव्यों को चाहिए कि वे ऐसे माहात्म्य सहित धर्म का सदा आराधन करें।

और भी धर्म के माहात्म्य को दिखाते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

जायन्ते जिनचक्रवर्तिबलभृद्भोगीन्द्रकृष्णादयो,
धर्मादेव दिगङ्गनाङ्गविलसच्छश्वद्यशश्चन्दनाः।
तद्धीना नरकादियोनिषु नरा दुःखं सहन्ते ध्रुवं,
पापेनेति विजानता किमिति नो धर्मः सता सेव्यते ॥१७९॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मात्मा हैं, वे मनुष्य धर्म के बल से ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, धरणेन्द्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि पद के धारी हो जाते हैं तथा उनकी कीर्ति समस्त दिशाओं में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फैल जाती है और जो धर्म से रहित हैं वे तो निश्चय कर नरकादि योनियों में नाना प्रकार के दुखों को ही सहते हैं ऐसा जानते हुए भी आचार्य कहते हैं कि विद्वान् मनुष्य धर्म की क्यों नहीं आराधना करते अर्थात् उनको अवश्य धर्म की आराधना करनी चाहिए।

धर्म की ही महिमा और दिखाते हैं—

स स्वर्गः सुखरामणीयकपदं ते ते प्रदेशाः पराः,
सारा सा च विमानराजिरतुलप्रेंखत्पताकापटाः।
ते देवाश्च पदातयः परिलसत्तन्नंदनं ता स्त्रियः,
शक्रत्वं तदनिंद्यमेतदखिलं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥१८०॥

अर्थ—सुख तथा सुंदरता का अद्वितीय स्थान तो वह स्वर्ग तथा वे वे महा मनोहर स्वर्गों के प्रदेश जिनके ऊपर अनुपम पताका उड़ रही है ऐसे विमानों की पंक्ति और प्यादे स्वरूप वे देवता तथा वह मनोहर नन्दनवन और मनोहर देवांगना तथा वह अत्यन्त निर्मल इंद्रपना इत्यादि समस्त विभूति धर्म के ही माहात्म्य से मिलती है इसलिए ऐसे पवित्र धर्म का आराधन भव्य जीवों को अवश्य करना चाहिए।

और भी धर्म की महिमा ही का वर्णन करते हैं—

यत् षट्खण्डमही नवोरुनिधयो द्विःसप्तरत्नानि यत्,
तुङ्गा यद्द्विरदा रथाश्च चतुराशीतिश्च लक्षाणि यत्।
यच्चाष्टादश कोटयश्च तुरगा योषित्सहस्राणि यत्,
षट्युक्ता नवतिर्यदेकविभुता तद्धाम धर्मप्रभोः ॥१८१॥

अर्थ—वह तो छह खंड की पृथ्वी और वे बड़ी-बड़ी नौ निधि तथा वे समस्त सिद्धि के करने वाले चौदह रत्न और वे चौरासी लाख बड़े-बड़े हाथी तथा विमान के समान चौरासी लाख बड़े-बड़े रथ और वे अठारह करोड़ पवन के समान चंचल घोड़े तथा वे देवांगना के समान छियानवे हजार स्त्रियाँ तथा वह इन समस्त विभूतियों का चक्रवर्तिपना इत्यादि समस्त विभूति धर्म के प्रताप से ही मिलती है। इसलिए भव्य जीवों को ऐसे धर्म की आराधना अवश्य करनी चाहिए।

धर्म की महिमा को ही और कहते हैं—

धर्मो रक्षति रक्षितो ननु हतो हन्ति ध्रुवं देहिनां,
हन्तव्यो न ततः स एव शरणं संसारिणां सर्वथा।
धर्मः प्रापयतीह तत्पदमपि ध्यायन्ति यद्योगिनो,
नो धर्मात्सुहृदस्ति नैव च सुखी नो पण्डितो धार्मिकात् ॥१८२॥

अर्थ—धर्म की रक्षा होने पर तो धर्म प्राणियों की रक्षा करता है परन्तु नाश होने पर वह प्राणियों का भी नाश कर देता है इसलिए भव्य जीवों को कदापि धर्म का नाश नहीं करना चाहिए क्योंकि समस्त प्राणियों का सहायक धर्म ही है तथा जिस (मोक्ष) पद को योगीश्वर सदा ध्यान करते रहते हैं उस पद को भी देने वाला है इसलिए धर्म से बढ़कर कोई भी सच्चा मित्र नहीं है और धर्मात्मा पुरुष से अधिक कोई भी सुखी नहीं है।

भावार्थ—समस्त सुख तथा समस्त गुणों का कारण एक रक्षा किया हुआ धर्म ही है इसलिए जो पुरुष सुख के अभिलाषी हैं तथा गुणी बनना चाहते हैं, उनको सबसे पहले धर्म की रक्षा करनी चाहिए।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

नानायोनिजलौघलङ्घितदिशि क्लेशोर्मिजालाकुले
प्रोद्भूताद्भुतभूरिकर्ममकरग्रासीकृतप्राणिनि।
दुष्पर्यन्तगभीरभीषणतरे जन्माम्बुधौ मज्जतां
नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहाश्रान्तं यतध्वं बुधाः ॥१८३॥

अर्थ—अनेक प्रकार की जो नरकादि योनि वे ही हुआ जल उससे जिसने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर लिया है तथा नाना प्रकार की दुखरूपी तरंगें जिसमें मौजूद हैं और उत्पन्न हुए जो नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म वे ही हुए मगर, उनके द्वारा जिसमें जीव खाये जा रहे हैं और न जिसका अंत है तथा जो गंभीर तथा भयंकर हैं ऐसे संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए जीवों को पार करने वाला एक धर्म ही है इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे सदा धर्म के करने में ही प्रयत्न करें।

भावार्थ—जिस प्रकार जिस समुद्र का जल चारों दिशा में फैला हुआ है और जिसमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं तथा भयंकर नाके जिसमें दीन प्राणियों को खा रहे हैं और जिसका अंत नहीं है तथा गंभीर और भयंकर है ऐसे समुद्र के बीच में पड़ा हुआ मनुष्य बिना किसी जहाज आदि के नहीं तर सकता। उसी प्रकार इस संसाररूपी समुद्र में डूबे हुए प्राणी भी बिना धर्म के सहारे किसी प्रकार नहीं तर सकते क्योंकि यह संसाररूपी समुद्र भी नाना प्रकार की योनिरूपी जल से समस्त दिशाओं को व्याप्त करने वाला है तथा इसमें भी नाना प्रकार के दुखरूपी तरंगें मौजूद हैं और कर्मरूपी मगरों से सदा इसमें भी जीव खाये जाते हैं तथा इस संसाररूपी समुद्र का अंत भी नहीं है तथा गंभीर और भयंकर भी है इसलिए विद्वानों को सदा धर्म में ही यत्न करना चाहिए।

और भी आचार्य धर्म की महिमा का वर्णन करते हैं—

जन्मोच्चैः कुल एव सम्पदधिके लावण्यवारां निधिः,
नीरोगं वपुरायुरादि सकलं धर्माद्ध्रुवं जायते।
सा न श्रीरथवा जगत्सु न सुखं तत्तेन शुभ्रा गुणाः,
यैरुत्कण्ठितमानसैरिव नरो नाश्रीयते धार्मिकः ॥१८४॥

अर्थ—संपदा से अधिक उत्तम कुल में जन्म तथा लावण्य और निरोग शरीर तथा आयु आदि समस्त बात निश्चय से धर्म के प्रताप से ही मिलती हैं और ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं है जो एकदम आकर धर्मात्मा पुरुष का आश्रय न ले तथा वह उत्तम सुख तथा वे निर्मल गुण भी संसार के भीतर कोई नहीं है जो धर्मात्मा पुरुष को स्वयमेव आकर आश्रय न करे।

भावार्थ—धर्मात्मा पुरुष को उत्तम से उत्तम लक्ष्मी तथा श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सुख और समस्त निर्मल गुणों की प्राप्ति होती है। इसलिए जो पुरुष इन बातों को चाहते हैं उनको भलीभाँति धर्म का आराधन करना चाहिए।

और भी धर्म की महिमा ही का वर्णन किया जाता है—

भृङ्गा पुष्पितकेतकीमिव मृगा वन्यामिव स्वस्थलीं,
नद्यः सिन्धुमिवाम्बुजाकरमिव श्वेतच्छदाः पक्षिणः।
शौर्यत्यागविवेकविक्रमयशः सम्पत्सहायादयः,
सर्वे धार्मिकमाश्रयन्ति न हितं धर्मं विना किञ्चन ॥१८५॥

अर्थ—जिस प्रकार भौंरा स्वयमेव आकर फूली हुई केतकी का आश्रय कर लेता है तथा जिस प्रकार मृग वन में अपने रहने के स्थान को स्वयमेव जाकर आश्रय कर लेते हैं तथा जिस प्रकार नदी स्वयमेव समुद्र को प्राप्त हो जाती है और जिस प्रकार हंस नामक पक्षी मानसरोवर को स्वयमेव प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार वीरत्व, दान, विवेक, विक्रम, कीर्ति, संपत्ति, सहाय आदिक वस्तु स्वयमेव धर्मात्मा को आकर आश्रय कर लेते हैं, किन्तु धर्म के बिना कोई भी वस्तु नहीं मिलती इसलिए जो मनुष्य वीरत्वादि वस्तुओं को चाहते हैं उनको चाहिए कि वे निरंतर धर्म करें जिसके उनको बिना परिश्रम से वे वस्तु मिल जावें।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

सौभागीयसि कामिनीयसि सुतश्रेणीयसि श्रीयसि
प्रासादीयसि चेत्सुखीयसि सदा रूपीयसि प्रीयसि।
यद्वानन्तसुखामृताम्बुधिपरस्थानीयसीह ध्रुवं
निर्धूताखिलदुःखदापदि सुहृद्धर्मे मतिर्धार्यताम् ॥१८६॥

अर्थ—जो तुम सौभाग्य की इच्छा करते हो और कामिनी की अभिलाषा करते हो तथा बहुत से पुत्रों के प्राप्त करने की इच्छा करते हो और जो यदि तुम्हारे उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त करने की इच्छा है वा उत्तम मकान पाने की इच्छा है अथवा यदि तुम सुख चाहते हो तथा उत्तमरूप मिलने की इच्छा करते हो और समस्त जगत् के प्रिय बनना चाहते हो अथवा जहाँ पर सदा अविनाशी सुख की राशि मौजूद है ऐसे उत्तम मोक्ष रूपी स्थान को चाहते हो तो तुम नाना प्रकार के दुखों को देने वाली आपत्तियों के दूर करने वाले जिन भगवान् के बताये हुए धर्म में ही अपनी बुद्धि को स्थिर करो (धर्म का ही आराधन करो)।

भावार्थ—सर्व संपदा तथा सुख का देने वाला तथा समस्त आपदा तथा दुखों को दूर करने वाला एक सच्चा धर्म ही है इसलिए भव्य जीवों को दृढ़ता से इसी को धारण करना चाहिए।

और भी आचार्य धर्म ही की महिमा दिखाते हैं—

संछन्नं कमलैर्मरावपि सरः सौधं वनेप्युन्नतं
कामिन्यो गिरिमस्तकेऽपि सरसाः साराणि रत्नानि च।

जायन्तेऽपि च लेप काष्ठघटिताः सिद्धिप्रदा देवताः
धर्मश्चेदिह वाञ्छितं तनुभृतां किं किं न सम्पद्यते ॥१८७॥

अर्थ—यद्यपि मरुदेश निर्जल कहा जाता है परन्तु धर्म के प्रभाव से मारवाड़ में भी मनोहर कमलों कर सहित तालाब हो जाते हैं और वन में मकानादि कुछ भी नहीं होते परन्तु धर्म के प्रताप से वहाँ पर भी विशाल घर बन जाते हैं उसी प्रकार यद्यपि निर्जन पहाड़ में किसी भी मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तो भी धर्मात्मा पुरुषों को धर्म की कृपा से वहाँ पर भी मन को हरण करने वाली स्त्रियों की तथा उत्तम-उत्तम रत्नों की प्राप्ति हो जाती है और यद्यपि चित्राम के तथा काठ के बनाये हुए देवता कुछ भी नहीं दे सकते तो भी धर्म के माहात्म्य से वे भी वांछित पदार्थों को देने वाले हो जाते हैं। विशेष कहाँ तक कहा जाये यदि संसार में धर्म है तो जीवों को कठिन से कठिन वस्तु की प्राप्ति भी बात ही बात में हो जाती है इसलिए भव्य जीवों को सदा धर्म की ही आराधन करना चाहिए।

और भी आचार्य पुण्य की महिमा को दिखाते हैं—

(वसंततिलका)

दूरादभीष्टमभिगच्छति पुण्ययोगात्
पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति।
अन्यत् परं प्रभवतीह निमित्तमात्रं
पात्रं बुधाः भवत निर्मलपुण्यराशेः ॥१८८॥

अर्थ—पुण्य के उदय से दूर रही हुई भी वस्तु अपने आप आकर प्राप्त हो जाती है किन्तु जब पुण्य का उदय नहीं रहता तब हाथ में रखी हुई भी वस्तु नष्ट हो जाती है यदि पुण्य पाप से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ सुख दुख का देने वाला है तो एक निमित्त मात्र है अर्थात् पुण्य-पाप ही सुख-दुख का देने वाला है इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि भव्य जीवों को चाहिए कि वे निर्मल पुण्य के पात्र बनें।

भावार्थ—संसार में यह बात बहुधा सुनने में आती है कि वह मनुष्य तथा वह देव मुझे सुख का देने वाला है तथा मेरा भला करने वाला है और वह मनुष्य मुझे दुख का देने वाला है तथा मेरा बुरा करने वाला है। आचार्य कहते हैं कि यह सब कहना व्यर्थ ही है क्योंकि सुख तथा दुख का देने वाला अथवा भला-बुरा करने वाला एक पुण्य तथा पाप ही है इसलिए यदि तुम सुख की इच्छा करते हो अथवा अपना भला चाहते हो तो तुमको विशेष रीति से पुण्य का आराधन करना चाहिए।

और भी पुण्य की महिमा का वर्णन करते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

कोप्यंधोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्
निष्प्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याघुष्यते मन्मथः।

उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि नितरामालिङ्ग्यते च श्रिया
पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायेत यद्दुर्घटम् ॥१८९॥

अर्थ—पुण्य के उदय से अंधा भी सुलोचन कहलाता है तथा पुण्य के ही उदय से रोगी भी रूपवान कहलाता है और निर्बल भी पुण्य के उदय से सिंह के समान पराक्रमी कहा जाता है तथा पुण्य के ही उदय से बदसूरत भी कामदेव के समान सुन्दर कहा जाता है तथा पुण्य के ही उदय से आलसी को भी लक्ष्मी अपने आप आकर वर लेती है विशेष कहाँ तक कहा जाये जो उत्तम से उत्तम वस्तु संसार में दुर्लभ कही जाती हैं वे भी पुण्य के ही उदय से सब सुलभ हो जाती हैं अर्थात् वे बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो जाती हैं इसलिए भव्य जीवों को सदा पुण्य का ही आराधन करना चाहिए।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि—जो मनुष्य पुण्य रहित हैं उनको पाप के उदय से क्या-क्या दुख भोगने पड़ते हैं—

बन्धस्कन्धसमाश्रितं सृणिभृतामारोहकाणामलं
पृष्ठे भारसमर्पणं कृतवतां संचालनं ताडनम्।
दुर्वाचं वदतामपि प्रतिदिनं सर्वं सहन्ते गजा
निर्धाम्नां बलिनोऽपि यत्तदखिलं दुष्टो विधिश्चेष्टते ॥१९०॥

अर्थ—यद्यपि महावत की अपेक्षा हाथी बलवान् होते हैं तो भी महावत उनको बाँधते हैं तथा उनके ऊपर चढ़ते हैं और उनको अंकुश भी मारते हैं तथा उनकी पीठ पर बोझा भी लादते हैं और उनको अपनी इच्छानुसार चलाते हैं तथा और भी ताड़ना करते हैं और प्रतिदिन उनको गाली भी देते हैं और उन हाथियों को ये सब बातें सहन भी करनी पड़ती हैं इस ही प्रकार उत्तम पुरुषों पर नीच पुरुष भी अपना प्रभाव डालते हैं इसलिए आचार्य कहते हैं, ये समस्त चेष्टायें दुष्ट कर्म की हैं अर्थात् पाप के द्वारा ही ये सब बातें होती हैं इसलिए भव्यों को चाहिए कि वे सदा पुण्य का ही उपार्जन करें तथा पाप का नाश करें।

आचार्य और भी धर्म की महिमा का वर्णन करते हैं—

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते
सम्पद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा बहु ब्रूमहे
धर्मो यस्य नभोऽपि तस्य सततं रत्नैः परैर्वर्षति ॥१९१॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मात्मा हैं उनके धर्म के प्रभाव से भयंकर सर्प भी मनोहर हार बन जाते हैं तथा पैनी तलवार भी उत्तम फूलों की माला बन जाती है और धर्म के प्रभाव से ही प्राणघातक विष भी उत्तम रसायन बन जाता है तथा धर्म के ही माहात्म्य से बैरी भी प्रीति करने लग जाता है और

प्रसन्नचित्त होकर देव, धर्मात्मा पुरुष के आधीन हो जाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि विशेष कहाँ तक कहा जाये जिस मनुष्य के हृदय में धर्म है अर्थात् जो मनुष्य धर्मात्मा है उनके धर्म के प्रभाव से आकाश से भी उत्तम रत्नों की वर्षा होती है इसलिए भव्य जीवों को धर्म से कदापि विमुख नहीं होना चाहिए।

धर्म की महिमा का और भी वर्णन किया जाता है—

उग्रग्रीष्मरविप्रतापदहनज्वालाभितप्तश्चलन्
यः पित्तप्रकृतिर्मरौ मृदुतरः पान्थः पथा पीडितः।
तद्द्रागलब्धहिमाद्रिकुञ्जरचितप्रोद्दामयन्त्रोल्लसद्
धारावेश्मसमो हि संसृतिपथे धर्मो भवेद्देहिनाम् ॥१९२॥

अर्थ—जो बटोही ग्रीष्मकाल में भयंकर सूर्य की संतापरूपी अग्नि की ज्वालाओं से अत्यन्त तप्तायमान है और पित्त प्रकृति वाला है तथा कोमल शरीर का धारी है और मारवाड़ की भूमि में गमन करने वाला है अतएव जो अत्यन्त दु:खित है यदि वह दैवयोग से हिमालय पर्वत की गुफा में बने हुए फुव्वारों सहित मनोहर धारागृह (फव्वारों सहित घर) को पा लेवे तो वह परम सुखी होता है उसी प्रकार जो जीव अनादिकाल से इस संसार में जन्म-मरण आदि दुखों को सहता है तथा निरंतर नरकादि योनियों में भ्रमता है यदि वह भी धारागृह के समान इस धर्म को संसार में पा लेवे तो सुखी हो जाता है अर्थात् शान्ति का अनुभव करने लग जाता है इसलिए जो मनुष्य शान्ति को चाहने वाले हैं उनको अवश्य धर्म का ही आराधन करना चाहिए।

आचार्य और भी धर्म की महिमा का वर्णन करते हैं—

संहारोग्रसमीरसंहतिहतप्रोद्धूतनीरोल्लसत्-
तुङ्गोर्मिभ्रमितोरुनक्रमकरग्राहादिभिर्भीषणे।
अम्भोधौ विधुतोग्रवाडवशिखिज्वालाकराले पत-
ज्जन्तोःखेऽपि विमानमाशु कुरुते धर्मः समालम्बनम् ॥१९३॥

अर्थ—जो समुद्र प्रलयकाल में उठा हुआ भयंकर पवन का समूह, उससे उछलता हुआ जल उसकी ऊँची-ऊँची तरंगें उनमें भ्रमण करते हुए जो मगरमच्छ आदि जलजीव उनसे भयंकर हो रहा है तथा तीक्ष्ण बड़वानल की ज्वाला से भी भयंकर है ऐसे समुद्र में गिरते हुए प्राणी को धर्म नहीं गिरने देता है तथा आकाश में भी विमान रचकर शीघ्र ही अवलंबन देता है।

भावार्थ—मनुष्य पर कैसी भी विपत्ति क्यों न आई होवे यदि वह धर्मात्मा है तो उसकी धर्म के प्रभाव से सब विपत्ति पल भर में दूर हो जाती है इसलिए जो मनुष्य दुखों से छूटना चाहते हैं उनको सदा धर्म का आराधन करना चाहिए।

और भी धर्म की महिमा को कहते हैं—

(स्रग्धरा)

उह्यन्ते ते शिरोभिः सुरपतिभिरपि स्तूयमानाः सुरौघैः
गीयन्ते किन्नरीभिर्ललितपदलसद्गीतिभिर्भक्तिरागात्।
बंभ्रम्यन्ते च तेषां दिशि दिशि विशदाः कीर्तयः का न वा स्यात्
लक्ष्मीस्तेषु प्रशस्ता विदधति मनुजा ये सदा धर्ममेकम् ॥१९४॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा एक धर्म को ही धारण करते हैं अर्थात् जो धर्मात्मा हैं उनको इन्द्र भी मस्तक पर धारण करते हैं तथा बड़े-बड़े देव उनकी स्तुति करते हैं और उन धर्मात्मा पुरुषों के गुण बड़ी शांति से किन्नरी जाति की देवी गाती है तथा उन धर्मात्मा पुरुषों की कीर्ति समस्त दिशाओं में फैल जाती है और उन धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम से उत्तम लक्ष्मी की भी प्राप्ति होती है इसलिए भव्य जीवों को ऐसा महिमा युक्त धर्म अवश्य धारण करने योग्य है।

आचार्य और भी धर्म की महिमा दिखाते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

धर्मः श्रीवशमन्त्र एष परमो धर्मश्च कल्पद्रुमो
धर्मः कामगवीप्सितप्रदमणिर्धर्मः परं दैवतम्।
धर्मः सौख्यपरंपरामृतनदीसम्भूतिसत्पर्वतो
धर्मो भ्रातरुपास्यतां किमपरैः क्षुद्रैरसत्कल्पनैः ॥१९५॥

अर्थ—समस्त प्रकार की लक्ष्मी को देने वाला होने के कारण यह धर्म लक्ष्मी के वश करने को मंत्र के समान है तथा यह धर्म वांछित चीजों का देने वाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही कामधेनु है तथा धर्म ही समस्त चिन्ताओं को पूर्ण करने वाला चिन्तामणि रत्न है, धर्म ही उत्कृष्ट देवता है और धर्म ही उत्कृष्ट सुखों की राशिरूपी जो अमृत नदी उसके उत्पन्न कराने में पर्वत के समान है अर्थात् जिस प्रकार हिमालय आदि पहाड़ों से नदियां उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार धर्म से भी सुखों की परम्परारूप नदी की उत्पत्ति होती है (सुख मिलता है)। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे भाइयों व्यर्थ नीच कल्पनाओं को करके क्या? केवल धर्म का ही सेवन करो जिससे तुम्हारे सर्व कार्य सिद्ध हो जावें।

और भी आचार्य धर्म की महिमा का वर्णन करते हैं—

आस्तामस्य विधानतः पथि गतिर्धर्मस्य वार्तापि यैः
श्रुत्वा चेतसि धार्यते त्रिभुवने तेषां न काः सम्पदः।
दूरे सज्जलपानमज्जनसुखं शीतैः सरोमारुतैः
प्राप्तं पद्मरजः सुगन्धिभिरपि श्रान्तं जनं मोदयेत्॥१९६॥

अर्थ—धर्म के मार्ग में विधिपूर्वक गमन करना तो दूर रहो किन्तु जो धर्म की बातों के प्रेमी मनुष्य

केवल उसको सुनकर धारण कर लेते हैं उनके भी तीन लोक में समस्त संपदाओं की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार शीतल जल के पीने का सुख तथा स्नान करने का सुख तो दूर ही रहो अर्थात् उससे तो शांति होती ही है किन्तु जो तालाब की वायु कमलों की रज से सुगन्धित हो रही है तथा शीतल है उससे उत्पन्न हुआ जो सुख वह भी थके हुए मनुष्य को शान्त कर देता है इसलिए भव्य जीवों को सदा धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए।

अब आचार्य अंत मंगल में अपने गुरु का स्मरण करते हैं—

(वसंततिलका)

यत्पादपङ्कजरजोभिरपि प्रणामात्
लग्नैः शिरस्यमलबोधकलावतारः।
भव्यात्मनां भवति तत्क्षणमेव मोक्षं
स श्रीगुरुर्दिशतु मे मुनिवीरनन्दी[१]॥१९७॥

अर्थ—जिन वीरनंदी गुरु के प्रणाम पूर्वक मस्तक में लगाये हुए चरण कमलों की रज से ही भव्य जीवों को बात ही बात में निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है वे श्री वीरनन्दी मुनि मेरे गुरु मुझे मोक्ष देवे।

भावार्थ—उत्तम गुरु ही मोक्ष दे सकते हैं इसीलिए ग्रन्थकार ने वीरनन्दी मुनि से ही मोक्ष की याचना की है।

अधिकार को समाप्त करते हुए आचार्य और भी उपदेश देते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

दत्तानन्दमपारसंसृतिपथश्रान्तश्रमच्छेदकृत्
प्रायो दुर्लभमत्र कर्णपुटकैर्भव्यात्मभिः पीयताम्
निर्यातं मुनिपद्मनन्दिवदनप्रालेयरश्मेः परं
स्तोकं यद्यपि सारताधिकमिदं धर्मोपदेशामृतम्॥ १९८॥

अर्थ—जो धर्मोपदेश रूपी अमृत पीने पर उत्तम आनन्द का देने वाला है और जो संसाररूपी अपार मार्ग उसमें थके हुए जो प्राणी उनकी थकावट को दूर करने वाला है तथा जो पुण्यहीन पुरुषों को अत्यन्त दुर्लभ है और जो पद्मनन्दि मुनि के मुख चन्द्रमा से निकला हुआ है अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा से अमृत निकलता है, उसी प्रकार पद्मनन्दि मुनि के मुखचन्द्र से भी धर्मोपदेशरूपी अमृत निकला है, यद्यपि वह धर्मोपदेशामृत शब्दों से थोड़ा वर्णन किया गया है तो भी सार से अधिक है ऐसा वह धर्मोपदेशामृत भव्यों को अवश्य पीना चाहिए।

इस प्रकार पद्मनन्दि आचार्यकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक ग्रन्थ में

धर्मोपदेशामृत नामक प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

१. नन्दिः

२.
दानोपदेश

(वसंततिलका)

जीयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनुः श्रेयो नृपश्च कुरुगोत्रगृहप्रदीपः।
याभ्यां बभूवतुरिह व्रतदानतीर्थे सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे ॥१॥

अर्थ—श्री नाभि राजा के पुत्र श्री वृषभ भगवान् सदा इस लोक में जयवन्त रहें तथा कुरु गोत्ररूपी घर के प्रकाश करने वाले श्री श्रेयान् राजा भी इस लोक में सदा जयवन्त रहें जिन दोनों महात्माओं की कृपा से उत्कृष्ट धर्मरूपी रथ के चक्रस्वरूप अर्थात् परमधर्मरूपी रथ के चलाने वाले तथा सार क्रम से सहित व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ की उत्पत्ति हुई है।

भावार्थ—चतुर्थ काल के आदि में सबसे पहले व्रततीर्थ की प्रवृत्ति श्री ऋषभदेव ने की थी इसलिए व्रततीर्थ के प्रकट करने में सबसे मुख्य श्री ऋषभ भगवान् हैं तथा सबसे पहले चतुर्थ काल में दान की प्रवृत्ति करने वाले श्री श्रेयान् नामक राजा हैं क्योंकि सबसे पहले उन्होंने ही श्री ऋषभदेव भगवान् को इक्षु आहार (दान) दिया था इसलिए दान के अधिकार में इन दोनों महात्माओं के नाम का स्मरण किया गया है।

श्रेयोऽभिधस्य नृपतेः शरदभ्रशुभ्रभ्राम्यद्यशोभृतजगत्त्रितयस्य तस्य।
किं वर्णयामि ननु सद्मनि यस्य भुक्तं त्रैलोक्यवंदितपदेन जिनेश्वरेण ॥२॥

अर्थ—शरदकाल के मेघ के समान जो उज्ज्वल भ्रमण करता हुआ यश उससे जिसने तीनों जगत् को पूर्ण कर दिया है अर्थात् जिनका उज्ज्वल यश तीनों लोक में फैला हुआ है ऐसे श्री श्रेयांस नामक राजा की (ग्रन्थकार कहते हैं कि) हम क्या प्रशंसा करें जिन श्रेयान् राजा के घर में तीनलोक के पूजनीय श्री ऋषभदेव भगवान् ने आहार लिया था।

आचार्य और भी श्रेयांस राजा की प्रशंसा करते हैं—

श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदा खादेकाद्यवन्द्यमुनिपुंगवपारणायाम्।
सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेकचित्रहेतुर्यया वसुमतीत्वमिता धरित्री ॥३॥

अर्थ—वह श्रेयांस नामक राजा सदा जयवंत रहे। जिस श्रेयांस राजा के घर में तीनलोक के वंदनीय श्री ऋषभदेव की पारणा के समय वह तीनलोक के आश्चर्य करने वाली रत्नों की वर्षा होती हुई कि जिस वर्षा से यह पृथ्वी साक्षात् वसुमती नाम को धारण करती है।

भावार्थ—वसु का अर्थ द्रव्य होता है तथा जो वसु को धारण करने वाली होवे उसको वसुमती कहते हैं सो पहले तो इस पृथ्वी का नाम नाममात्र वसुमती था परन्तु श्रेयांस राजा के घर में श्री ऋषभदेव की पारणा के समय से साक्षात् इसका नाम वसुमती हुआ है ऐसे अनुपम पुण्य सहित श्री श्रेयांस राजा सदा जयवंत रहें।

अब आचार्य दान के उपदेश की इच्छा करते हुए कहते हैं—

प्राप्तेऽपि दुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीवितादौ।
ये लोभकूपकुहरे पतिता: प्रवक्ष्ये कारुण्यत: खलु तदुद्धरणाय किञ्चित् ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर तथा स्वप्न के समान और इन्द्रजाल के समान जीवन यौवन आदि के होने पर भी जो मनुष्य लोभरूपी कुएँ में गिरे हुए हैं उनके उद्धार के लिए आचार्य कहते हैं कि मैं दयाभाव से कुछ कहूँगा।

अब आचार्य दान का उपदेश देते हैं—

(वसंततिलका)

कान्तात्मजद्रविणमुख्यपदार्थसार्थप्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वाद्दानं परं परमसात्त्विकभावयुक्तम् ॥५॥

अर्थ—स्त्री, पुत्र, धन आदिक जो मुख्य पदार्थों का समूह उससे उठा हुआ जो अत्यन्त घोर तथा प्रचुर मोह उसके विशाल समुद्र स्वरूप इस गृहस्थाश्रम से पार होने के लिए परम सात्विक भाव से दिया हुआ तथा सर्व गुणों में अधिक ऐसा उत्कृष्ट दान ही जहाज स्वरूप है।

भावार्थ–गृहस्थावस्था में धन, कुटुम्बादिक से अधिक मोह रहता है इसलिए गृहस्थपना केवल संसार में डुबाने वाला है परन्तु उस गृहस्थपने में दान दिया जावे तो वह दिया हुआ दान मनुष्यों को संसाररूपी समुद्र में नहीं डूबने देता है इसलिए भव्य जीवों को सर्व गुणों में उत्कृष्ट दान देकर गृहस्थाश्रम को अवश्य सफल करना चाहिए।

और भी आचार्य दान की महिमा को दिखाते हैं—

नानाजनाश्रितपरिग्रहसम्भृताया: सत्पात्रदानविधिरेव गृहस्थताया:।
हेतु: पर: शुभगतेर्विषमे भवेऽस्मिन्नाव: समुद्र इव कर्मठकर्णधार:[१] ॥६॥

१. कर्मधार

अर्थ—जिसका खेवटिया चतुर है ऐसी अथाह समुद्र में पड़ी हुई भी नाव जिस प्रकार मनुष्य को तत्काल में पार कर देती है उसी प्रकार इस भयंकर संसार में स्त्री पुत्र आदि नाना जनों के आधीन जो परिग्रह से सहित इस गृहस्थपने में रहे हुए मनुष्य के लिए श्रेष्ठ पात्र में दी हुई दान विधि ही शुभगति को देने वाली होती है इसलिए भव्यजीवों को गृहस्थाश्रम में रहकर अवश्य दान देना चाहिए।

पाया हुआ धन दान करने से ही सफल होता है ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम्।
वित्तस्य तस्य सुगतिः खलु दानमेकमन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥७॥

अर्थ—नाना प्रकार के दुखों से जो धन पैदा किया गया है तथा जो पुत्रों से तथा अपने जीवन से भी मनुष्यों को प्यारा है उस धन की यदि अच्छी गति है तो केवल दान ही है अर्थात् वह धन दान से ही सफल होता है किन्तु दान के अतिरिक्त दिया हुआ वह धन विपत्ति का ही कारण है ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं इसलिए भव्य जीवों को अपना कमाया हुआ धन दान में ही खर्च करना चाहिए।

(वसंततिलका)

भुक्त्यादिभिः प्रतिदिनं गृहिणो न सम्यङ्नष्टा रमापि पुनरेति कदाचिदत्र।
सत्पात्रदानविधिना तु गताप्युदेति क्षेत्रस्थ[१] बीजमिव कोटिगुणं वटस्य॥८॥

अर्थ—गृहस्थ के जिस लक्ष्मी का भोगादि से नाश होता है वह लक्ष्मी कदापि लौटकर नहीं आती परन्तु जो लक्ष्मी मुनि आदिक उत्तम पात्रों के दान देने में खर्च होती है वह लक्ष्मी भूमि में स्थित वट वृक्ष के बीज के समान कोटि गुणी होती है अर्थात् जो मनुष्य लक्ष्मी पाकर निरभिमान होकर दान देते हैं वे इन्द्रादि संपदाओं का भोग करते हैं इसलिए यदि मनुष्य को लक्ष्मी की वृद्धि की आकांक्षा है तो उसको अवश्य मुनि आदि पात्रों को दान देना चाहिए।

अब आचार्य गृहस्थ की महिमा का वर्णन करते हैं—

यो दत्तवानिह मुमुक्षुजनाय भुक्तिं भक्त्याश्रितः शिवपथे न धृतः स एव।
आत्मापि तेन विदधत्सुरसद्म नूनमुच्चैः पदं व्रजति तत्सहितोऽपि शिल्पी ॥९॥

अर्थ—जिस प्रकार कारीगर जैसा-जैसा ऊँचा मकान बनाता जाता है उतना-उतना आप भी ऊँचा होता चला जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य मोक्ष की इच्छा करने वाले मनुष्य को भक्ति पूर्वक आहार दान देता है वह उस मुनि को ही मुक्ति को नहीं पहुँचाता किन्तु स्वयं भी जाता है इसलिए ऐसा स्वपर हितकारी दान मनुष्यों को अवश्य देना चाहिए।

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं—

---

१. क्षेत्रस्य

यः शाकपिण्डमपि भक्ति रसानुविद्धबुद्धिः प्रयच्छति जनो मुनिपुंगवाय।
स स्यादनन्तफलभागथ बीजमुप्तं क्षेत्रे न किं भवति भूरिकृषीवलस्य ॥१०॥

अर्थ—उस ही प्रकार जो श्रावक भक्तिपूर्वक मुनि को शाकपिण्ड का भी आहार देता है वह अनन्त सुखों का भोक्ता होता है। जिस प्रकार किसान थोड़ा बीज बोता है उसके बीज की अपेक्षा धान्य अधिक पैदा होता है इसलिए थोड़े से बहुत की इच्छा करने वाले श्रावकों को खूब दान देना चाहिए।

आचार्य और भी दान की महिमा का वर्णन करते हैं—

साक्षान्मनोवचनकायविशुद्धिशुद्धः पात्राय यच्छति जनो ननु भुक्तिमात्रम्।
यस्तस्य संसृतिसमुत्तरणैकबीजे पुण्ये हरिर्भवति सोऽपि कृताभिलाषः ॥११॥

अर्थ—जो मनुष्य भलीभाँति मन, वचन, काय को शुद्ध कर उत्तम पात्र के लिए आहार दान देता है उस मनुष्य के संसार से पार करने में कारणभूत पुण्य की, नाना प्रकार की संपत्ति का भोग करने वाला इन्द्र भी अभिलाषा करता है इसलिए गृहस्थाश्रम में सिवाय दान के दूसरा कोई कल्याण करने वाला नहीं अतः श्रावकों को दान की ओर अवश्य लक्ष्य देना चाहिए।

आचार्य दाता की महिमा का वर्णन करते हैं—

मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात्।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्ति भाजा तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्ति मार्गः ॥१२॥

अर्थ—इस संसार में मोक्ष का कारण रत्नत्रय है तथा उस रत्नत्रय को शरीर में शक्ति होने पर मुनिगण पालते हैं और मुनियों के शरीर में शक्ति अन्न से होती है तथा मुनियों के लिए उस अन्न को श्रावक भक्ति पूर्वक देते हैं इसलिए वास्तविक रीति से गृहस्थ ने ही मोक्षमार्ग को धारण किया है ऐसा समझना चाहिए।

गृहस्थाश्रम में व्रत की अपेक्षा दान ही अधिक फल का देने वाला है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदापि प्रीत्यातिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम् ॥१३॥

अर्थ—गृह सम्बन्धी नाना प्रकार के आरंभों से उपार्जन किये हुए जो पाप उनसे असमर्थ किये हुए ऐसे व्रत गृहस्थों को कुछ भी ऊँचे फल को नहीं दे सकते जैसा कि प्रीतिपूर्वक तथा शुद्ध मन से उत्तमादि पात्रों के लिए एक समय भी दिया हुआ दान उत्तम फल को देता है इसलिए ऊँचे फल के अभिलाषियों को सदा उत्तमादि पात्रों को दान देना चाहिए।

आचार्य और भी दान की महिमा का वर्णन करते हैं—

मूले तनुस्तदनु धावति वर्धमाना यावच्छिवं सरिदिवानिशमासमुद्रम्।
लक्ष्मीः सदृष्टिपुरुषस्य यतीन्द्रदानपुण्यात्पुरःसह यशोभिरतीद्धफेनैः ॥१४॥

अर्थ—जिस पहाड़ से नदी निकलती है वहाँ पर यद्यपि नदी की धार पतली होती है परन्तु समुद्र पर्यंत जिस प्रकार फेन सहित वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि के पहले लक्ष्मी थोड़ी होती है परन्तु मुनीश्वरों के लिए दिये हुए दान के प्रभाव से कीर्ति के साथ मोक्ष पर्यन्त वह इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती, तीर्थंकरादि रूप से दिन-दिन बढ़ती ही चली जाती है इसलिए सम्यग्दृष्टि को अवश्य दान देना चाहिए।

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं—

प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषङ्गात् ॥१५॥

अर्थ—जिस परमात्मा के ज्ञान से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों की सिद्धि होती है उस परमात्मा का ज्ञान, सम्यग्दृष्टि को घर में रहकर कदापि नहीं हो सकता परन्तु उन पुरुषार्थों की सिद्धि, उत्तमादि पात्रों को आहार, औषधि, अभय, शास्त्र रूप चार प्रकार के दान देने से पल भर में हो जाती है। इसलिए धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थों के अभिलाषी सम्यग्दृष्टियों को उत्तम आदि पात्रों को अवश्य दान देना चाहिए।

नामापि यः स्मरति मोक्षपथस्य साधोराशु क्षयं व्रजति तद्दुरितं समस्तम्।
यो भुक्तभेषजमठादिकृतोपकारः संसारमुत्तरति सोऽत्र नरो न चित्रम्॥१६॥

अर्थ—जो मनुष्य मोक्षार्थी साधु का नाममात्र भी स्मरण करता है उसके समस्त पाप क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं किन्तु जो भोजन, औषधि, मठ आदि बनवाकर मुनियों का उपकार करता है वह संसार से पार हो जाता है। इसमें आश्चर्य ही क्या है अर्थात् ऐसे उपकारी को तो मोक्ष होना ही चाहिए।

जिन घरों में तथा जिनगृहस्थों के दान नहीं वे दोनों ही असार हैं इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

किं ते गृहाः किमिह ते गृहिणो नु येषामन्तर्मनस्सु मुनयो न हि संचरन्ति।
साक्षादथ स्मृतिवशाच्चरणोदकेन नित्यं पवित्रितधराग्रशिरः प्रदेशाः ॥१७॥

अर्थ—जिन मुनियों के चरण कमल के जल स्पर्श से जिन घरों की भूमि पवित्र हो जाती है तथा जिन गृहस्थों के मस्तक भी पवित्र हो जाते हैं उन उत्तम मुनियों का जिन घरों में संचार नहीं है तथा जिन गृहस्थों के मन में भीतर भी जिन मुनियों का प्रवेश नहीं है वे घर तथा गृहस्थ दोनों ही बिना प्रयोजन के हैं इसलिए गृहस्थों को उत्तम आदि पात्रों को अवश्य दान देना चाहिए जिससे मुनियों के आगमन से उनके घर पवित्र बने रहें तथा उनका गृहस्थपना भी कार्यकारी गिना जावे।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि—दान के बिना संपदा किसी काम की नहीं—

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो धर्मः स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्याः।
तत्किं तपो गुरुरथास्ति न यत्र बोधः सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम् ॥१८॥

अर्थ—वह देव कैसा? जिसके स्त्री आदि को देखकर विकार है तथा वह धर्म किस काम का? जिसमें दया मुख्य नहीं गिनी गई है। जिससे आत्मा आदि का ज्ञान नहीं होता वह तप तथा वह गुरु किस काम का ? तथा वह संपदा भी किस काम की ? जिसके होने पर उत्तम आदि पात्रों को दान न दिया जावे।

आचार्य दान-व्रतादि से पैदा हुए धर्म की महिमा को दिखाते हैं—

किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्ति लोके सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति।
दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्रः ॥१९॥

अर्थ—जिस मनुष्य के पास तीनों जगत् को वश करने में मंत्रस्वरूप तथा दान, व्रत आदि से उत्पन्न हुआ धर्म मौजूद है उस मनुष्य के उत्तमोत्तम गुण तथा उत्तमोत्तम सुख और उत्तमोत्तम ऐश्वर्य सब अपने आप आकर वश में हो जाते हैं इसलिए उत्तमोत्तम गुण के अभिलाषियों को दान, व्रत आदि को अवश्य करना चाहिए।

सत्पात्रदानजनितोन्नतपुण्यराशिरेकत्र वा परजने नरनाथलक्ष्मीः।
आद्यात्परस्तदपि दुर्गत एव यस्मादागामिकालफलदायि न तस्य किञ्चित् ॥२०॥

अर्थ—एक मनुष्य तो उत्तम पात्र दान से पैदा हुए श्रेष्ठ पुण्य का संचय करता है और दूसरा राज्य लक्ष्मी का अच्छी तरह भोग करता है परन्तु उन दोनों में दूसरा राज्य लक्ष्मी का भोगकरने वाला ही पुरुष दरिद्री है क्योंकि आगामीकाल में उसको किसी प्रकार की संपत्ति आदि का फल नहीं मिल सकता किन्तु पात्रदान करने वाले को तो आगामीकाल में उत्तम संपदारूपी फलों की प्राप्ति होती है इसलिए भव्य जीवों को खूब दान देकर खूब ही पुण्य का संचय करना चाहिए।

दानाय यस्य न धनं न वपुर्व्रताय नैवं श्रुतं च परमोपशमाय नित्यम्।
तज्जन्म केवलमलं मरणाय भूरि संसारदुःखमृतिजातिनिबन्धनाय ॥२१॥

अर्थ—जिस मनुष्य का धन तो दान के लिए नहीं है तथा शरीर व्रत के लिए नहीं है और उत्तम शांति के पैदा करने के लिए शास्त्र नहीं है उस मनुष्य का जन्म संसार के जन्म-मरण आदि अनेक दुखों के भोगने का कारण जो मरण उसके लिए है।

भावार्थ—धन पाकर उत्तम पात्र आदि के लिए दान देना चाहिए तथा उत्तम शरीर पाकर अच्छी तरह व्रत, उपवास आदि करना चाहिए तथा शास्त्र का अभ्यास कर क्रोधादि कषायों का उपशम करना चाहिए किन्तु जो मनुष्य ऐसा नहीं करता है उसको केवल नानाप्रकार की खोटी गतियों में भ्रमण करना पड़ता है तथा जन्म-मरण आदि नाना प्रकार के दुखों का भोग करना पड़ता है इसलिए भव्य जीवों

को धन आदि का कही हुई रीति के अनुसार ही उपयोग करना चाहिए।

धर्मात्मा पुरुष इस बात का विचार करता है—

प्राप्ते नृजन्मनि तपः परमस्तु जन्तोः संसार सागरसमुत्तरणैकसेतुः।
माभूद्विभूतिरिह बंधनहेतुरेव देवे गुरौ शमिनि पूजनदानहीनः ॥२२॥

अर्थ—अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्यभव के प्राप्त होने पर मनुष्य को संसार समुद्र से पार करने के लिए पुल के समान श्रेष्ठ तप का मिलना उत्तम है परन्तु इस लोक में अर्हन्त तथा गुरु के पूजन तथा दान के उपयोग में न आने वाली तथा केवल कर्मबन्ध की ही कारण ऐसी विभूति की कोई आवश्यकता नहीं।

भावार्थ-मिली हुई विभूति का उपयोग यदि अर्हन्तदेव के पूजन में तथा गुरुओं को दान में होवे तो वह विभूति बंध की कारण नहीं कही जाती परन्तु देव तथा गुरुओं के पूजन में यदि उस विभूति का उपयोग न होवे तो वह केवल बंध की कारण होती है इसलिए विभूति को पाकर भव्य जीवों को उसका उपयोग देव तथा गुरुओं की पूजा और दान में ही करना चाहिए। अन्यथा उसकी अपेक्षा उत्तम तप ही मिलना श्रेष्ठ है।

(वसंततिलका)

भिक्षावरा परिहृताखिलपापकारिकार्यानुबंधविधुराश्रितचित्तवृत्तिः।
सत्पात्रदानरहिता विततोग्रदुःखदुर्लंघ्यदुर्गतिकरी न पुनर्विभूतिः ॥२३॥

अर्थ—जिस भिक्षा के होने पर चित्त की वृत्ति समस्त प्रकार के पाप को पैदा करने वाले कार्यों के सम्बन्ध से दु:खित नहीं होती (अर्थात् पाप के करने वाले कार्यों की ओर झाँकती भी नहीं) ऐसी भिक्षा तो उत्तम है किन्तु विस्तीर्ण नाना प्रकार के दुखों से नहीं पार करने योग्य ऐसी दुर्गति को देने वाली तथा उत्तम आदि पात्रों के दान के उपयोग से रहित विभूति की कोई आवश्यकता नहीं।

भावार्थ—यदि मिली हुई विभूति का उपयोग उत्तमादि पात्रों के दान के लिए होवे तो वह विभूति दुर्गति की देने वाली नहीं कही जाती किन्तु यदि विपरीत में उसका उपयोग खोटे कामों में किया जावे तो वह अवश्य दुर्गति की ही देने वाली होती है तथा सत्पात्र दान रहित तथा दुर्गति की देने वाली उस विभूति की अपेक्षा भिक्षा ही उत्तम है क्योंकि भिक्षा में मनुष्य को किसी प्रकार का आरंभ आदि नहीं करना पड़ता इसलिए चित्त को किसी प्रकार का संक्लेश भी नहीं होता।

पूजा न चेज्जिनपतेः पदपङ्कजेषु दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम्।
नो दीयते किमु ततः सदवस्थितायाः शीघ्रं जलाञ्जलिरगाधजले प्रविश्य ॥२४॥

अर्थ—जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्रभगवान् के चरणकमलों की पूजा नहीं है तथा भक्ति भाव से संयमी जनों के लिए दान भी नहीं दिया जाता आचार्य कहते हैं कि अत्यन्त गहरे जल में प्रवेश करके

उस गृहस्थाश्रम के लिए जल की अंजलि दे देनी चाहिए।

भावार्थ—बिना दान-पूजन के गृहस्थाश्रम किसी काम का नहीं इसलिए गृहस्थाश्रम में रहकर भव्यजीवों को अवश्य दान देना चाहिए।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

कार्यं तपः परमिह भ्रमता भवाब्धौ मानुष्यजन्मनि चिरादतिदुःखलब्धे।
सम्पद्यते न तदणुव्रतिनापि भाव्यं जायेत चेदहरहः किल पात्रदानम् ॥२५॥

अर्थ—चिरकाल से इस संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करते हुए प्राणियों को कष्ट से इस मनुष्य भव की प्राप्ति हुई है इसलिए इस मनुष्य जन्म में अवश्य तप करना चाहिए यदि तप न हो सके तो अणुव्रत अवश्य ही धारण करना चाहिए जिससे प्रतिदिन निश्चय से उत्तम आदि पात्रों का दान हुआ करे।

जिस प्रकार वटोही को टोसा सुख देता है उस ही प्रकार परलोक को जाने वाले मनुष्य को दान सुख देता है।

ग्रामान्तरं व्रजति यः स्वगृहाद् गृहीत्वा पाथेयमुन्नततरं स सुखी मनुष्यः।
जन्मान्तरं [१]प्रविशतोऽस्य तथा व्रतेन दानेन चार्जितशुभं सुखहेतुरेकम् ॥२६॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने घर से अच्छी तरह पाथेय (टोसा) लेकर दूसरे गाँव को जाता है वह मनुष्य जिस प्रकार सुखी रहता है उसी प्रकार जो मनुष्य परलोक को गमन करता है उस मनुष्य के व्रत तथा दान से पैदा किया हुआ एक पुण्य ही सुख का कारण है इसलिए जो मनुष्य परलोक में सुख के अभिलाषी हैं वे मनुष्य व्रतों को धारण कर तथा दान देकर खूब पुण्य का संचय करना चाहिए।

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं—

यत्नः कृतोऽपि मदनार्थयशोनिमित्तं दैवादिह व्रजति निष्फलतां कदाचित्।
संकल्पमात्रमपि दानविधौ तु पुण्यं कुर्यादसत्यपि हि पात्रजने प्रमोदात् ॥२७॥

अर्थ—संसार में काम-भोग के लिए तथा धन के लिए अथवा यश के लिए किया हुआ प्रयत्न यद्यपि दैवयोग से किसी समय निष्फल हो जाता है परन्तु उत्तम आदि पात्रों के नहीं होते हुए भी हर्षपूर्वक दान देवेंगे ऐसा दान का संकल्प ही पुण्य का करने वाला होता है। इसलिए ऐसे उत्तम दान का मनुष्यों को अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

सद्मागते किल विपक्षजनेऽपि सन्तः कुर्वन्ति मानमतुलं वचनाशनाद्यैः।
यत्तत्र चारुगुणरत्ननिधानभूते पात्रे मुदा महति किं क्रियते न शिष्टैः ॥२८॥

अर्थ—बैरी भी यदि अपने घर आवे तो सज्जन मनुष्य मधुर-मधुर वचनों से तथा भोजन आदि से उसका बड़ा भारी सम्मान करते हैं तो जो उत्तम सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के धारी हैं तथा पूज्य हैं ऐसे

१. प्रवसितो

पात्र में सज्जन हर्ष पूर्वक क्या नहीं करेंगे अर्थात् उसको अवश्य ही नवधाभक्ति से आहार देवेंगे।

सूनोर्मृतेरपि दिनं न सतस्तथा स्याद्बाधाकरं बत यथा मुनिदानशून्यम्॥
दुर्वारदुष्टविधिना न कृते ह्यकार्ये पुंसा कृते तु मनुते मतिमाननिष्टम् ॥२९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सज्जन पुरुष को पुत्र के मरने का दिन भी उतना दुख का देने वाला नहीं होता जितना कि मुनि के दान रहित दिन दुख का देने वाला होता है क्योंकि विद्वान् पुरुष दुर्दैव से किये हुए कार्य को उतना अनिष्ट नहीं मानता जितना अपने द्वारा किये हुए कार्य को अनिष्ट मानता है इसलिए विद्वानों को अपने करने योग्य दान रूपी कार्य अवश्य करना चाहिए।

और भी दान की दृढ़ता के लिए आचार्य कहते हैं—

ये धर्म कारणसमुल्लसिता विकल्पास्त्यागेन ते धनयुतस्य भवन्ति सत्याः।
स्पृष्टाः शशाङ्ककिरणैरमृतं क्षरन्तश्चन्द्रोपलाः किल लभन्त इह प्रतिष्ठाम् ॥३०॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी मकान में चन्द्रकान्तमणि लगी हुई है जब तक उनके साथ चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श नहीं होता तब तक उनसे पानी नहीं झर सकता इसलिए उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं करता किन्तु जिस समय चन्द्रमा के स्पर्श होने से उनसे पानी निकलता है उस समय उनकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है उसी प्रकार धनी पुरुष के चित्त में जो जिन-मंदिर बनवाना, तीर्थयात्रा करना आदि धर्म के कारण उत्पन्न होते हैं वे बिना पात्रदान के सत्यभूत नहीं समझे जाते किन्तु पात्रदान से ही वे सच समझे जाते हैं इसलिए गृहस्थियों को पात्रदान अवश्य देना चाहिए क्योंकि यह सभी में मुख्य हैं।

मन्दायते य इह दानविधौ धनेऽपि सत्यात्मनो वदति धार्मिकताञ्च यत्तत्।
माया हृदि स्फुरति सा मनुजस्य तस्य या जायते तडिदमुत्र सुखाचलेषु ॥३१॥

अर्थ—जो मनुष्य धन के होते भी दान देने में आलस करता है तथा अपने को धर्मात्मा कहता है वह मनुष्य मायाचारी है अर्थात् उस मनुष्य के हृदय में कपट भरा हुआ है तथा उसका वह कपट दूसरे भव में उसके समस्त सुखों का नाश करने वाला है।

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मात्मापने के कारण दान आदि नहीं देते हैं तथा अपने को माया से धर्मात्मा कहते हैं उन मनुष्यों को तिर्यञ्च गति में जाना पड़ता है तथा वहाँ पर उनको नाना प्रकार के भूख-प्यास सम्बन्धी दुख भोगने पड़ते हैं इसलिए मनुष्य को कदापि मायाचारी नहीं करनी चाहिए।

ग्रासस्तदर्धमपि देयमथार्धमेव तस्यापि सन्ततमणुव्रतिना यथर्द्धिः[१]।
इच्छानुरूपमिह कस्य कदात्र लोके द्रव्यं भविष्यति सदुत्तमदानहेतुः॥३२॥

अर्थ—गृहस्थियों को अपने धन के अनुसार एक ग्रास अथवा आधा ग्रास वा चौथाई ग्रास अवश्य ही दान देना चाहिए। क्योंकि इस संसार में उत्तम पात्रदान का कारण इच्छानुसार द्रव्य कब

१. यथार्थम्,

किसके होगा।

भावार्थ—इच्छानुसार द्रव्य संसार में किसी को नहीं मिल सकता क्योंकि शताधिपति, हजारपति होना चाहता है तथा हजारपति, लक्षाधिपति, लक्षाधिपति, करोड़पति इत्यादि रीति से इच्छा की कहीं भी समाप्ति नहीं होती। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मैं हजारपति होऊँगा तभी दान दूँगा अथवा मैं लखपति होऊँगा तभी दान दूँगा किन्तु जितना धन पास में होवे उसी के अनुसार ग्रास, दो ग्रास अवश्य दान देना चाहिए।

आचार्य दान का फल दिखाते हैं—

मिथ्यादृशोऽपि रुचिरेव मुनीन्द्रदाने दद्यात्पशोरपि हि जन्म सुभोगभूमौ।
कल्पाङ्घ्रिपा ददति यत्र सदेप्सितानि सर्वाणि तत्र विदधाति न किं सुदृष्टेः ॥३३॥

अर्थ—मुनि आदि उत्तम पात्रदान में मिथ्यादृष्टि पशु को केवल की हुई रुचि (अनुमोदना) ही जब उसको उत्तम भोगभूमि आदि के सुखों को देने वाली होती है तब साक्षात् दान को देने वाले सम्यग्दृष्टि के तो वह दान क्या-क्या इष्ट तथा उत्तम चीजों को न देगा। अर्थात् अवश्य स्वर्ग, मोक्ष आदि के सुख को देगा।

भावार्थ—दान के प्रभाव से ऐसी कोई वस्तु नहीं जो न मिल सके क्योंकि सबसे दुर्लभ मोक्ष की भी प्राप्ति जब दान से हो जाती है तब इससे भी दुःसाध्य क्या वस्तु रही इसलिए ऐसे इष्ट पदार्थों का देने वाला दान भव्य जीवों को शक्त्यनुसार अवश्य करना चाहिए।

दानाय यस्य न समुत्सहते मनीषा तद्योग्यसम्पदि गृहाभिमुखे च पात्रे।
प्राप्तं खनावपि[1] महार्घ्यतरं विहाय रत्नं करोति विमतिस्तलभूमिभेदम् ॥३४॥

अर्थ—योग्य संपदा के होने पर भी तथा मुनि के घर आने पर भी जिस मनुष्य की बुद्धि दान देने में उत्साह नहीं करती अर्थात् जो दान देना नहीं चाहता वह मूर्ख पुरुष खानि में मिले हुए अमूल्य रत्न को छोड़कर व्यर्थ पाताल की भूमि को खोदता है।

भावार्थ—कोई मनुष्य रत्न के लिए जमीन खोदे तथा उस मिले हुए रत्न को छोड़कर और भी गहरी यदि जमीन खोदता जावे तो जिस प्रकार उसका नीचे जमीन खोदना व्यर्थ जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य योग्य संपदा को पाकर दान नहीं देता उस मनुष्य को भी मिली हुई संपदा किसी काम की नहीं इसलिए भव्य जीवों को द्रव्यानुसार दान देने में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए।

नष्टा मणीरिव चिराज्जलधौ भवेस्मिन्नासाद्य चारुनरतार्थजिनेश्वराज्ञाः[2]।
दानं न यस्य स जडः प्रविशेत्समुद्रं सच्छिद्रनावमधिरुह्य गृहीतरत्नः ॥३५॥

अर्थ—चिरकाल से समुद्र में पड़ी हुई मणि के समान इस संसार में उत्तम मनुष्यत्व तथा धन और

---
१. वति, २. राज्ञां।

जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को प्राप्त कर जो मनुष्य उत्तम आदि पात्रों में दान नहीं देता वह मूर्ख मनुष्य टूटी-फूटी नाव पर चढ़कर तथा बहुत से रत्नों को साथ में लेकर दूसरे द्वीप में जाने के लिए समुद्र में प्रवेश करता है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—जो मनुष्य टूटी-फूटी नाव पर चढ़कर तथा रत्नों को साथ लेकर समुद्र की यात्रा करेगा वह अवश्य ही रत्नों के साथ समुद्र में डूबेगा। उसी प्रकार जो मनुष्य उत्तम मनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्र की आज्ञा को पाकर दान नहीं करेगा वह अवश्य ही संसार में चक्कर खायेगा तथा उसका वह मनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्र की आज्ञा आदिक समस्त बातें व्यर्थ चली जावेंगी इसलिए जिस प्रकार समुद्र में गिरी हुई मणि की प्राप्ति होना दुर्लभ है उसी प्रकार यह मनुष्यत्व आदिक भी दुर्लभ हैं ऐसा जानकर खूब अच्छी तरह दान देना चाहिए जिससे मनुष्यत्व आदिक व्यर्थ न जावे तथा संसार में अधिक न घूमना पड़े।

यस्यास्ति नो धनवतः किल पात्रदानमस्मिन्परत्र च भवे यशसे सुखाय।
अन्येन केनचिदनूनसुपुण्यभाजा क्षिप्तः स सेवकनरो धनरक्षणाय ॥३६॥

अर्थ—जो धनी मनुष्य इस भव में कीर्ति के लिए तथा परभव में सुख के लिए उत्तम आदि पात्रों को दान नहीं देता है तो समझना चाहिए वह उस धन का मालिक नहीं है किन्तु किसी अत्यन्त पुण्यवान् पुरुष ने उस मनुष्य को उस धन की रक्षा के लिए नियुक्त किया है।

भावार्थ—जो धन का अधिकारी होता है वह निर्भय रीति से उत्तम आदि पात्रों में धन का व्यय कर सकता है किन्तु जो मालिक न होकर रक्षक होता है वह किसी रीति से धन का व्यय नहीं करता इसलिए आचार्य कहते हैं कि जो धनी होकर दान न देवे तो उसे मालिक नहीं समझना चाहिए किन्तु जो उसकी मृत्यु के पीछे उस धन का मालिक होगा उस पुण्यवान का उसको धन की रक्षा करने वाला दास समझना चाहिए इसलिए विद्वानों को धन के मिलने पर उस धन के अनुसार अवश्य ही दान देना चाहिए।

चैत्यालये च जिनसूरिबुधार्चने च दाने च संयतजनस्य सुदुःखिते च।
यच्चात्मनि स्वमुपयोगि तदेव नूनमात्मीयमन्यदिह कस्यचिदन्यपुंसः ॥३७॥

अर्थ—जो धन जिनमन्दिर के काम में लगाया जाता है तथा जिसका उपयोग जिनेन्द्र भगवान् की पूजा में तथा आचार्यों की पूजा में वा अन्य विद्वानों की पूजा में होता है तथा जो संयमी जनों के दान में खर्च किया जाता है तथा जो धन दुःखितों को दिया जाता है और जो धन अपने उपयोग में आता है वह धन तो अपना समझना चाहिए किन्तु जिस धन का ऊपर कहे हुए कामों में उपयोग न होवे उस धन को किसी और मनुष्य का धन समझना चाहिए।

भावार्थ—जो धन दान आदि कार्यों में व्यय होने के कारण तथा अपने काम में व्यय होने के कारण इस भव में तथा परभव में कीर्ति तथा सुख का देने वाला हो वह धन तो अपना समझना चाहिए

किन्तु जो इससे भिन्न होवे उसको दूसरे का ही समझना चाहिए।

आचार्य और भी उपदेश देते हैं—

पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना लक्ष्मीरतः कुरुत संततपात्रदानम्।
कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्तादाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम् ॥३८॥

अर्थ—हे गृहस्थो! कुँआ से सदा चारों तरफ से निकला हुआ भी जल जिस प्रकार निरन्तर बढ़ता ही रहता है घटता नहीं है उसी प्रकार संयमी पात्रों के दान में व्यय की हुई लक्ष्मी सदा बढ़ती ही जाती है घटती नहीं किन्तु पुण्य के क्षय होने पर ही वह घटती है इसलिए मनुष्य को सदा संयमी पात्रों में दान देना चाहिए।

जो मनुष्य लोभ से दान नहीं देते उनके दोष आचार्य दिखाते हैं—

सर्वान्गुणानिह परत्र च हन्ति लोभः सर्वस्य पूज्यजनपूजनहानिहेतुः।
अन्यत्र तत्र विहितेऽपि हि दोषमात्रमेकत्र जन्मनि परं प्रथयन्ति लोकाः ॥३९॥

अर्थ—जो लोभ पूज्य जन जो अर्हन्त आदिक उनकी पूजा आदि में हानि को पहुँचाने वाला है वह लोभ इस भव में तथा परभव में समस्त मनुष्यों के सम्यग्दर्शन आदि गुणों को घातता है किन्तु जो लोभ लौकिक विवाह आदि कार्यों में किया जाता है उस लोभ को तो इस जन्म में मनुष्य केवल दोष ही कहते हैं इसलिए मनुष्य को दान पूजन आदि में कदापि लोभ नहीं करना चाहिए।

जातोऽप्यजात इव स श्रियमाश्रितोऽपि रङ्क कलंकरहितोऽप्यगृहीतनामा।
कम्बोरिवाश्रितमृतेरपि यस्य पुंसः शब्दः समुच्चलति नो जगति प्रकामम् ॥४०॥

अर्थ—शंख की तरह जिस मनुष्य का मृत्यु के पीछे दान से उत्पन्न हुए यश का शब्द भली-भाँति संसार में नहीं फैलता, वह मनुष्य पैदा हुआ भी नहीं पैदा हुआ सा है तथा लक्ष्मीवान भी दरिद्री ही है तथा कलंक रहित है तो भी उसका कोई भी नाम नहीं लेता इसलिए मनुष्य को अवश्य दान देना चाहिए।

और भी आचार्य दान का ही उपदेश देते हैं—

श्वापि क्षितेरपि विभुर्जठरं स्वकीयं कर्मोपनीतविधिना विदधाति पूर्णम्।
किन्तु प्रशस्यनृभवार्थविवेकितानामेतत्फलं यदिह सन्ततपात्रदानम् ॥४१॥

अर्थ—संसार में कर्मानुसार कुत्ता भी अपने पेट को भरता है तथा अपने कर्मानुकूल राजा भी अपने पेट को भरता है इसलिए पेट भरने में तो कुत्ता तथा राजा समान ही हैं परन्तु उत्तम नर भव पाने का तथा श्रीमान् होने का तथा उत्तम विवेकी होने का केवल एक यही फल है कि निरन्तर उत्तम आदि पात्रों में दान देना इसलिए जो मनुष्य उत्तम मनुष्यपने का तथा श्रीमान् होने का और विवेकी होने का अभिमान रखता है उसको अवश्य पात्रदान देना चाहिए।

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम्।
वित्तस्य तस्य नियतं प्रविहाय दानमन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥४२॥

अर्थ—परदेश जाना, सेवा करना इत्यादि नाना प्रकार से जो धन पैदा किया गया है तथा जो मनुष्यों को अपने पुत्रों से तथा जीवन से भी प्यारा है उस धन की सफलता को एक गति, दान ही है किन्तु दान को छोड़कर और कोई दूसरी गति नहीं है और सब विपत्ति ही विपत्ति है ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं इसलिए समस्त प्रकार के सुखों का देने वाला मनुष्य को दान अवश्य करना चाहिए।

नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो व्यावर्तते पितृवनान्ननु बन्धुवर्गः।
दीर्घे पथि प्रवसतो भवतः सखैकं पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव ॥४३॥

अर्थ—मरते समय यह तेरा धन एक पैड से दूसरे पैड तक भी नहीं जाता तथा बन्धुओं का समूह श्मशान भूमि से ही लौट आता है परन्तु इस दीर्घ संसार में भ्रमण करते हुए तुझको तेरा पुण्य ही एक मित्र होगा अर्थात् वही तेरे साथ जायेगा इसलिए तुझे पुण्य का ही उपार्जन करना चाहिए।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

सौभाग्यशौर्यसुखरूपविवेकिताद्या विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्तस्मात्किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ॥४४॥

अर्थ—सौभाग्य, शूरता, सुख, विवेक आदिक तथा विद्या, शरीर, धन, घर और उत्तम कुल में जन्म ये सब बातें उत्तमादि पात्रदान से ही होती हैं इसलिए भव्य जीवों को सदा पात्रदान में ही प्रयत्न करना चाहिए।

न्यासश्च सद्म च करग्रहणञ्च सूनोरर्थेन तावदिह कारयितव्यमास्ते।
धर्माय दानमधिकाग्रतया करिष्ये सञ्चिंतयन्नपि गृही मृतिमेति मूढः ॥४५॥

अर्थ—मुझे धन जमीन में गाड़ना है तथा धन से मुझे मकान बनवाना है और पुत्र का विवाह करना है इतने काम करने पर यदि अधिक धन होगा तो धर्म के लिए दान करूँगा ऐसा विचार करता ही करता मूर्ख प्राणी अचानक ही मर जाता है तथा कुछ भी नहीं कर पाता इसलिए मनुष्य को धन मिलने पर सबसे पहले दान करना चाहिए तथा दान से अतिरिक्त विचार कदापि नहीं करना चाहिए।

अब आचार्य कृपण की निन्दा करते हैं—

किं जीवितेन कृपणस्य नरस्य लोके निर्भोगदानधनबंधनबद्धमूर्तेः।
तस्माद्वरं बलिभुगुन्नतभूरिवाग्भिर्व्याहूतकाककुल एव बलिं स भुङ्क्ते ॥४६॥

अर्थ—जिस लोभी पुरुष की मूर्ति भोग तथा दान रहित धनरूपी बंधन से बंधी हुई है उस कृपण पुरुष का इस लोक में जीना सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि उस पुरुष की अपेक्षा वह काक ही अच्छा है जो कि ऊँचे शब्द से और दूसरे बहुत से काकों को बुलाकर मिलकर भोजन करता है।

भावार्थ—कहीं पर यदि थोड़ा-सा भी भोजन किसी पुरुष द्वारा डाला हुआ देख लेवे तो कौवा ऊँचे शब्द से और दूसरे बहुत से कौवों को बुलाकर भोजन करता है किन्तु लोभी योग्य धन पाकर भी न तो स्वयं खाता है न दूसरे को खिलाता है और न उस धन को दान में ही व्यय करता है इसलिए लोभी मनुष्य की अपेक्षा कौवा ही उत्तम है तथा उस लोभी पुरुष का होना न होना संसार में समान है इसलिए जो मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहता है उसको अवश्य उत्तम आदि पात्रों को दान देना चाहिए।

औदार्ययुक्तजनहस्तपरम्पराप्तव्यावर्तनप्रसृतखेदभरातिखिन्नाः ।
अर्था गताः कृपणगेहमनन्तसौख्यपूर्णा इवानिशमबाधमति स्वपन्ति ॥४७॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि उदारता सहित जो मनुष्य उनके हाथों से पैदा हुआ, जो भ्रमण उससे उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त खेद उससे खिन्न होकर समस्त धन, कृपण के घर चले गये हैं तथा वहीं पर वे बाधा रहित आनन्द के साथ सोते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—यहाँ पर उत्प्रेक्षालंकार है इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि यह स्वाभाविक बात है कि जिसको जहाँ पर दुख होता है वह उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में चला जाता है उसी प्रकार धन ने भी यह सोचा कि उदार मनुष्य के घर में रहने से हमको दान आदि कार्यों में जहाँ-तहाँ घूमना पड़ता है तथा व्यर्थ के घूमने में पीड़ा भोगनी पड़ती है इसलिए वह कृपण के घर में चला गया तथा वहाँ पर न घूमने के कारण वह आनन्द से एक जगह पर ही रहने लगा। सारांश उदार का धन तो दान आदि कार्यों में खर्च होता है और कृपण का एक जगह पर रखा ही रहता है।

अब आचार्य पात्रों के भेदों का वर्णन करते हैं—

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदञ्च विद्धि ॥४८॥

अर्थ—उत्तमपात्र तो महाव्रती (मुनि) हैं तथा अणुव्रती (श्रावक) मध्यमपात्र हैं और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र हैं तथा व्रतसहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र हैं तथा अव्रती मिथ्यादृष्टि अपात्र हैं ऐसा जानना चाहिए।

तेभ्यः प्रदत्तमिह दानफलं जनानामेतद्विशेषणविशिष्टमदुष्टभावात्।
अन्यादृशेऽथ हृदये तदपि स्वभावादुच्चावचं भवति किं बहुभिर्वचोभिः ॥४९॥

अर्थ—निर्मल भाव से उत्तम आदि पात्रों के लिए दिया हुआ दान मनुष्यों को उत्तम आदि फल का देने वाला होता है तथा जो दान मायाचार अथवा दुष्ट परिणामों से दिया जाता है वह भी नीचे ऊँचे फल का स्वभाव से देने वाला होता है इसलिए आचार्य कहते हैं इस विषय में हम विशेष क्या कहें दान अवश्य फल का देने वाला होता है।

भावार्थ—उत्तम पात्र को निर्मल भाव से दिया हुआ दान सम्यग्दृष्टि को तो स्वर्ग मोक्ष आदि उत्तम फल का देने वाला है तथा वही दान मिथ्यादृष्टि को उत्तम भोगभूमि के सुख को देने वाला है तथा मध्यम पात्र में दिया हुआ दान सम्यग्दृष्टि को तो स्वर्ग फल का देने वाला है और मिथ्यादृष्टि को मध्यम भोगभूमि के सुख का देने वाला है तथा जघन्य पात्र को दिया हुआ दान सम्यग्दृष्टि को तो स्वर्ग फल का देने वाला है और मिथ्यादृष्टि को जघन्य भोगभूमियों के सुख का देने वाला है इस प्रकार तो पात्रदान का फल है तथा कुपात्र को दिया हुआ दान कुभोगभूमि के फल को देने वाला है और अपात्र में दिया हुआ दान व्यर्थ जाता है अथवा दुर्गति के फल को देने वाला है तथा दुष्ट परिणामों से दिया हुआ दान ऊँचे-नीचे फल का देने वाला है इस प्रकार दान कुछ न कुछ फल अवश्य देता है इसलिए भव्य जीवों को तो अपने आत्महित के लिए उत्तम आदि पात्रों में निर्मल भाव से दान देना ही चाहिए।

अब आचार्य दान के भेदों को बतलाते हैं—

(वसंततिलका)

चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्रदानानि तानि कथितानि महाफलानि।
नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥५०॥

अर्थ—अभय, औषध, आहार, शास्त्र इस प्रकार से दान चार प्रकार का है तथा वह चार प्रकार का दान तो महाफल का देने वाला कहा है परन्तु इससे भिन्न गौ, सुवर्ण, जमीन, रथ, स्त्री आदि दान महाफल का देने वाला नहीं कहा है वह निन्दा का कराने वाला ही कहा है इसलिए महाफल के अभिलाषियों को ऊपर कहा हुआ चार प्रकार का ही दान देना चाहिए।

आचार्य और भी दान का उपदेश देते हैं—

यद्दीयते जिनगृहाय धरादि किंचित्तत्तत्र [१]संस्कृतिनिमित्तमिह प्ररूढम्।
आस्ते ततस्तदतिदीर्घतरं हि कालं जैनञ्च शासनमतः कृतमस्ति दातुः ॥५१॥

अर्थ—जो जिन मन्दिर के बनाने के लिए अथवा सुधार के लिए जमीन, धन आदिक दिये जाते हैं उससे जिनमन्दिर अच्छा बनता है तथा उस जिनमन्दिर के प्रभाव से बहुत काल तक जिनेन्द्र का मत इस पृथ्वी मण्डल पर विराजमान रहता है इसलिए दाता ने जिनमन्दिर के लिए जमीन धन आदि देकर जैन मत का उद्धार किया ऐसा समझना चाहिए।

(पृथ्वी)

दानप्रकाशनमशोभनकर्मकार्यकार्पण्यपूर्णहृदयाय न रोचतेऽदः।
दोषोज्झितं सकललोकसुखप्रदायि तेजोरवेरिव सदा हतकौशिकाय ॥५२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि खोटा जो मिथ्यात्वरूपी कर्म उसका कार्य जो कृपणता उससे

१. संस्कृत

जिसका हृदय भरा हुआ है ऐसे कृपण पुरुष को समस्त दोष से रहित तथा सर्वलोक को सुख का देने वाला दान का प्रकाशरूप कार्य अच्छा नहीं लगता जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश घूक (उल्लू) को अच्छा नहीं लगता है।

दानोपदेशनमिदं कुरुते प्रमोदमासन्नभव्यपुरुषस्य न चेतरस्य।
जातिः समुल्लसति दारु न भृङ्गसङ्गादिन्दीवरं हसति चन्द्रकरैर्न चाश्मा ॥५३॥

अर्थ—और भी आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार भ्रमरों के संग से चमेली ही विकसित होती है लकड़ी विकसित नहीं होती तथा चन्द्रमा की किरणों से कुमुदनी ही प्रफुल्लित होती है पाषाण प्रफुल्लित नहीं होता उसी प्रकार जिसको थोड़े ही काल में मोक्ष होने वाला है ऐसे भव्य मनुष्य को ही यह दान का उपदेश हर्ष का करने वाला होता है अभव्य को यह दान का उपदेश कुछ भी हर्ष का करने वाला नहीं होता।

रत्नत्रयाभरणवीरमुनीन्द्रपादपद्मद्वयस्मरणसंजनितप्रभावः ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिराश्रितयुग्मदानपञ्चाशतं ललितवर्णचयं चकार॥५४॥

अर्थ—आचार्यवर दानोपदेशरूप प्रकरण को समाप्त करते हुए कहते हैं कि रत्नत्रयरूपी भूषण से भूषित ऐसे श्री वीरनन्दी नामक मुनि के दोनों चरण कमलों के स्मरण से उत्पन्न हुआ है उत्तम प्रभाव जिसको ऐसा श्री पद्मनन्दी नामक मुनि उत्तमोत्तम वर्णों की रचना से ५२ श्लोकों में दान का प्रकरण समाप्त करता हूँ।

इति श्रीपद्मनन्दि मुनि द्वारा विरचित श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिका नामक ग्रन्थ में
दानोपदेश नामक द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

३.
अनित्यपञ्चाशत

अब आचार्य अनित्य पञ्चाशत नामक अधिकार का वर्णन करते हुए प्रथम मंगलाचरण करते हैं—

(आर्या)

जयति जिनो धृतिधनुषामिषुमाला भवति योगियोधानाम्।
यद्वाकरुणामय्यपि मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा ॥१॥

अर्थ—दयामयी भी जिस जिनेन्द्र की वाणी धैर्यरूपी धनुष को धारण करने वाले योगीरूपी योद्धाओं के मोहरूपी बैरी के नाश करने के लिए पैनी बाणों की पंक्ति के समान है वे जिनेन्द्र इस संसार में सदा जयवन्त हैं।

भावार्थ—जो दयामय होता है वह किसी का नाश नहीं कर सकता किन्तु भगवान् की वाणी में यह विचित्रता है कि वे सदा इस संसार में जयवन्त हैं।

अब आचार्य मनुष्य देह का अनित्यपना दिखाते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येकत्र दिने न विभुक्तिरथ वा निद्रा न रात्रौ भवेत्
विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोभ्याशस्थिताद्यद्ध्रुवम्।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपि सहसा यच्च क्षयं गच्छति
भ्रातः कात्र शरीरके स्थितिमतिर्नाशेऽस्यकोविस्मयः॥२॥

अर्थ—यदि एक दिन खाया न जाये अथवा रात्रि में सोया न जाये तो यह शरीर पास में रही हुई अग्नि से जिस प्रकार कमल का पत्र मुरझा जाता है उसी प्रकार मुरझा जाता है तथा हथियार, रोग, जल, अग्नि आदि से भी यह पलभर में नष्ट हो जाता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे भाई! यह शरीर कब तक रहेगा ऐसा कोई निश्चय नहीं है अथवा यह जल्दी नष्ट होगा इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है। अतः इस शरीर में किसी प्रकार की ममता न रखकर अपना आत्मकल्याण करो।

दुर्गन्धाशुचिधातुभित्तिकलितं सञ्छादितं चर्मणा
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम्।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावन्हिना
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते॥३॥

अर्थ—जिस देहरूपी झोपड़े की भीतें दुर्गन्ध और अपवित्र ऐसी मल, मूत्र आदि धातुओं की बनी हुई हैं तथा जो ऊपर से चाम से ढका हुआ है और विष्टा, मूत्र आदि से भरा हुआ है तथा भूख, प्यास आदिक जो दुख वे ही हुए चूहे उन्होंने जिसमें बिल बना रखे हैं अर्थात् जो दुखों का भण्डार है और वृद्धावस्था रूपी अग्नि जिसके चारों ओर मौजूद है ऐसे शरीररूपी झोपड़े को भी मूढ़ प्राणी अविनाशी तथा पवित्र मानते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अम्भोबुद्बुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कान्तार्थपुत्रादयः।
सौख्यं वैषयिकं सदेव तरलं मत्ताङ्गनापांगवत्
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा॥४॥

अर्थ—शरीर तो जल के बबूलों के समान है और लक्ष्मी इन्द्रजाल के समान है तथा स्त्री, धन, पुत्र, मित्र आदिक नष्ट हुए मेघों के समान पलभर में विनाशीक हैं और युवती स्त्री के कटाक्ष के समान चंचल यह विषय सम्बन्धी सुख है इसलिए आचार्य कहते हैं कि इनके नाश होने पर विद्वानों को न तो शोक करना चाहिए तथा मिलने पर हर्ष भी नहीं मानना चाहिए।

भावार्थ—यह बात आबाल गोपाल प्रसिद्ध है कि जो पैदा हुआ है वह अवश्य ही नष्ट होगा फिर मनुष्य, लक्ष्मी आदि की उत्पत्ति में हर्ष मानते हैं तथा उसके नाश होने पर शोक मानते हैं ऐसा उनको नहीं मानना चाहिए तथा जिस प्रकार बने, उस प्रकार अपनी आत्मा का ही कल्याण करना चाहिए।

दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे शोको न कार्यो
बुधैः सम्बन्धो यदि विग्रहेण यदयं सम्भूतिधात्र्येतयोः।
तत्तस्मात्परिचिंतनीयमनिशं संसारदुःखप्रदो
येनास्य प्रभवः पुरः पुनरपि प्रायो न सम्भाव्यते ॥५॥

अर्थ—देह के सम्बन्ध से यद्यपि संसार में दुख तथा शोक आकर उपस्थित होते हैं तो भी विद्वानों को किसी पदार्थ के लिए दुख तथा शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि यह देह दुख तथा शोक ही पैदा करने वाली भूमि है इसलिए विद्वानों को निरन्तर उस आत्मस्वरूप का चिंतन करना चाहिए जिससे भविष्य में नाना प्रकार के संसार के दुखों को देने वाली इस शरीर की उत्पत्ति फिर से न होवे।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुर्वारार्जितकर्मकारणवशादिष्टे प्रणष्टे नरे
यत् शोकं कुरुते यदत्र नितरामुन्मत्तलीलायितम्।
यस्मात्तत्र कृते न सिध्यति किमप्येतत्परं जायते
नश्यन्त्येव नरस्य मूढमनसो धर्मार्थकामादय:॥६॥

अर्थ—जिसका निवारण नहीं हो सकता तथा पूर्वभव में संचित, ऐसे कर्मरूपी कारण के वश से जो मनुष्य अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के नष्ट होने पर उन्मादी मनुष्य की लीला के समान इस संसार में बिना प्रयोजन का अत्यन्त शोक करता है उस मूर्ख मनुष्य को उस प्रकार के व्यर्थ शोक करने से कुछ भी नहीं मिलता तथा उस मूढ़ मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम आदि का भी नाश हो जाता है इसलिए विद्वानों को इस प्रकार का शोक कदापि नहीं करना चाहिए।

(उपेन्द्रवज्रा)

उदेति पाताय रविर्यथा तथा शरीरमेतन्ननु सर्वदेहिनाम्।
स्वकालमासाद्य निजेऽपि संस्थिते करोति क: शोकमत: प्रबुद्धधी:॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य, अस्त होने के लिए उदय होता है उसी प्रकार यह शरीर भी निश्चय से नाश होने के लिए ही उत्पन्न होता है इसलिए स्वकाल के अनुसार अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर भी हिताहित के जानने वाले मनुष्य कदापि शोक नहीं करते।

भावार्थ-जो पैदा होता है वह नियम से नष्ट होता है जब स्त्री, पुत्र आदि का शरीर पैदा हुआ है तो अवश्य ही नष्ट होगा आत्मा का नाश हो ही नहीं सकता ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुष, स्त्री, पुत्र आदि के लिए किञ्चित् भी शोक नहीं करते।

और भी आचार्य शोक दूर करने का उपाय बताते हैं—

भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत्।
कुलेषु तद्वत्पुरुषा: किमत्र हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम्॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षों पर अपने-अपने काल के अनुसार नाना जाति के पत्ते, फूल, फल उत्पन्न होते हैं तथा अपने-अपने काल के अनुसार ही वे नष्ट भी होते हैं उसी प्रकार अपने-अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य उच्च-नीच आदि कुलों में जन्म लेते हैं तथा नष्ट भी होते हैं इसलिए ऐसा भलीभाँति समझकर बुद्धिमानों को उनकी उत्पत्ति में हर्ष तथा नाश में शोक कदापि नहीं करना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुर्लंघ्याद्भवितव्यताव्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे
यच्छोक: क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्तनम्।

सर्वं नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्त्वा महत्या धिया
निर्धूताखिलदुःखसन्ततिरहो धर्मः सदा सेव्यताम्॥९॥

अर्थ—जिसका दुख से भी उल्लंघन नहीं हो सकता ऐसी जो भवितव्यता (दैव) उसके व्यापार से अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के नष्ट होने पर जो मनुष्य शोक करता है वह अंधकार में नृत्य को आरंभ करता है ऐसा जान पड़ता है (अर्थात् अंधकार में किये हुए नृत्य को कोई देख नहीं सकता इसलिए जिस प्रकार अंधकार में नृत्य का आरम्भ व्यर्थ होता है उसी प्रकार स्त्री, पुत्र आदि के लिए मनुष्य का शोक करना भी व्यर्थ है) अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवो! अपने ज्ञान से संसार में सब चीजों को विनाशीक समझकर समस्त दुखों की संतान को जड़ से उखाड़ने वाले धर्म का ही सदा तुम सेवन करो।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं यस्यावसानं यदा
तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम्।
शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात्
सर्पे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराहन्यते॥१०॥

अर्थ—पूर्व भव में संचित कर्म के द्वारा जिस प्राणी का अन्त जिस काल में लिख दिया गया है उस प्राणी का अंत उसी काल में होता है ऐसा भली-भाँति निश्चय करके हे भव्य जीवो! तुम अपने प्रिय भी स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर शोक छोड़ दो तथा बड़े आदर से धर्म का आराधन करो क्योंकि सर्प के दूर चले जाने पर उसकी रेखा का पीटना व्यर्थ है।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्प के चले जाने पर उसकी रेखा का पीटना व्यर्थ है उसी प्रकार स्त्री, पुत्र आदि के मर जाने पर उनके लिए शोक करना भी बिना प्रयोजन का है इसलिए विद्वानों को उनके लिए कदापि शोक नहीं करना चाहिए।

ये मूर्खा भुवि तेऽपि दुःख हतये व्यापारमातन्वते
सा मा भूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशाः।
मूर्खान्मूर्ख-शिरोमणीन्ननु वयं तानेव मन्यामहे
ये कुर्वन्ति शुचं मृते सति निजे पापाय दुःखाय च ॥११॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि अपने कर्म के वश से, चाहे दुखों की निवृत्ति हो अथवा न हो तो भी जो दुख की निवृत्ति के लिए व्यापार करते हैं यद्यपि वे भी संसार में मूर्ख हैं तो भी हम उनको अतिमूर्ख नहीं मानते किन्तु जो अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर पाप के लिए अथवा दुखों की उत्पत्ति के लिए शोक करते हैं उन्हीं को निश्चय से हम मूर्ख शिरोमणि अर्थात् वज्रमूर्ख मानते हैं इसलिए विद्वानों को स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर कदापि शोक नहीं करना चाहिए।

और भी आचार्य शिक्षा देते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

किं जानासि न किं श्रृणोषि न न किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे
निश्शेषं जगदिन्द्रजालसदृशं रम्भेव सारोज्झितम्।
किं शोकं कुरुषेऽत्र मानुषपशो लोकान्तरस्थे निजे
तत्किञ्चित् कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पदं गच्छसि ॥१२॥

अर्थ—हे मूढ़ मनुष्य! यह समस्त जगत् इन्द्रजाल के समान अनित्य है तथा केला के स्तंभ के समान निस्सार है इस बात को क्या तू नहीं जानता है अथवा सुनता नहीं है वा प्रत्यक्ष देखता नहीं है जो कि स्त्री, पुत्र आदि के दूसरे लोक में रहने पर भी तू उनके लिए इस संसार में व्यर्थ शोक करता है। कोई ऐसा काम कर जिससे तुझे अविनाशी तथा उत्तम सुख को देने वाले स्थान की प्राप्ति होवे।

भावार्थ—संसार में यदि एक भी चीज नित्य अथवा सारभूत होती तब तो शोक करना व्यर्थ न होता किन्तु संसार में तो समस्त वस्तु इन्द्रजाल और केला के खम्भे के समान विनाशीक तथा निस्सार हैं फिर शोक करना सर्वथा व्यर्थ है इसलिए हे भव्यो! उस प्रसिद्ध रत्नत्रय का आराधन करो जिससे तुमको मोक्ष आदि सुख की प्राप्ति बिना कष्ट किये हुए ही होवे।

(वसन्ततिलका)

जातो जनो म्रियत एव दिने च मृत्योः प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति।
तद्यो मृते सति निजेऽपि शुचं करोति पूत्कृत्य रोदिति वने विजने स मूढः॥१३॥

अर्थ—जो मनुष्य पैदा हुआ है वह मरण के दिन अवश्य ही मरता है तथा मरते समय तीनों लोक में उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर शोक करता है वह मनुष्य जहाँ पर कोई जन नहीं ऐसे वन में जाकर फुक्का मार-मार कर रोता है ऐसा जान पड़ता है।

भावार्थ—जहाँ पर कोई मनुष्य नहीं ऐसे स्थान में रोना जिस प्रकार व्यर्थ होता है उसी प्रकार (मरने पर किसी की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता इस बात को भलीभाँति जानता हुआ भी) स्त्री, पुत्र आदि के लिए जो शोक करता है उसका उस प्रकार का शोक करना भी वृथा है इसलिए विद्वानों को कदापि ऐसा शोक नहीं करना चाहिए।

इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्ठयोगः पापेन तद्भवति जीव पुराकृतेन।
शोकं करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाशं पापस्य तौ न भवतः पुरतोऽपि येन॥१४॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे जीव! यह जो तेरे इष्ट स्त्री, पुत्र आदि का नाश तथा अनिष्ट सर्प आदि का सम्बन्ध होता है वह पूर्वकाल में सञ्चय किये हुए तेरे पाप के उदय से ही होता है इसलिए तू शोक क्यों करता है उस पाप का सर्वथा नाशकर, जिससे फिर तेरे भविष्य में इष्ट वियोग तथा अनिष्ट

संयोग का उदय न होवे।

(शार्दूलविक्रीडित)

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तदा शोकःसमारभ्यते
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथ वा धर्मोऽथ वा स्याद्यदि
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोवशः ॥१५॥

अर्थ—प्रिय भी वस्तु के नाश होने पर शोक तब करना चाहिए जब कि उसकी प्राप्ति हो जावे अथवा शोक करने से कीर्ति फैले अथवा सुख वा धर्म हो किन्तु अनेक बड़े से बड़े प्रयत्नों के करने पर भी उपर्युक्त वस्तुओं में से किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं दिख पड़ती इसीलिए विद्वान् पुरुष इष्ट वस्तु के नाश होने पर भी प्रायः कुछ भी व्यर्थ शोक नहीं करते।

भावार्थ—शोक करने पर यदि गई हुई वस्तु फिर से आ जावे अथवा कीर्ति हो अथवा सुख तथा धर्म हो तब तो उस वस्तु के लिए शोक करना उचित है परन्तु उनमें से तो एक भी बात नहीं होती फिर विद्वानों को क्यों शोक करना चाहिए।

(वसन्ततिलका)

एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु।
स्थित्वा कुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः॥१६॥

अर्थ—रात्रि के समय जिस प्रकार एक ही वृक्ष पर नाना देशों से आकर पक्षी निवास करते हैं तथा सबेरा होते ही शीघ्र वे जुदी-जुदी दिशाओं में जुदे-जुदे होकर उड़ जाते हैं उसी प्रकार बहुत से मनुष्य एक कुल में जन्म लेकर पुनः अपने कर्म के अनुसार मरकर नाना कुलों में जन्म लेते हैं ऐसी संसार की स्थिति को जानकर विद्वान् लोग कदापि शोक नहीं करते।

(शार्दूलविक्रीडित)

दुःखव्यालसमाकुलं भववनं जाड्यान्धकाराश्रितं
तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपातिकुपथैः भ्राम्यन्ति सर्वाङ्गिनः।
तन्मध्ये गुरुवाक्प्रदीपममलं ज्ञानप्रभाभासुरं
प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखपदं याति प्रबुद्धो ध्रुवम्॥१७॥

अर्थ—नाना प्रकार के दुखरूपी सर्प और हस्तियों से व्याप्त तथा अज्ञानरूपी अन्धकार से युक्त और नरक आदि गतिरूपी भीलों के भयंकर मार्गों से सहित, इस संसाररूपी वन में समस्त प्राणी भटकते फिरते हैं किन्तु उन प्राणियों में चतुर मनुष्य निर्मल ज्ञानरूपी प्रभा से देदीप्यमान ऐसे गुरुओं के वचनरूपी दीपक को पाकर तथा उस वचनरूपी दीपक के द्वारा उत्तममार्ग को देखकर मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—दुख तथा अज्ञान और खोटी गतियों से सहित इस संसार में भटकते हुए प्राणियों को सन्मार्ग के प्रकाश करने वाले गुरुओं के वचन ही हैं इसलिए जो मनुष्य सच्चे मार्ग को जानकर उत्तम मोक्षपद को प्राप्त करना चाहते हैं उनको गुरुओं के वचनों पर अवश्य विश्वास करना चाहिए।

(वसन्ततिलका)

यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्।
मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदु:खभुजो भवन्ति॥१८॥

अर्थ—पूर्वोपार्जित अपने कर्मों के द्वारा जो मरण का समय निश्चित हो गया है उसी के अनुसार प्राणी मरता है आगे पीछे नहीं मरता ऐसा जानकर भी आत्मीय मनुष्य के मरने पर अज्ञानीजन शोक करते हैं तथा नाना प्रकार के दुखों को भोगते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

वृक्षाद् वृक्षमिवाण्डजा मधुलिह: पुष्पाच्च पुष्पं यथा
जीवा यान्ति भवाद्भवान्तरमिहाश्रान्तं तथा संसृतौ।
तज्जातेऽथ मृतेऽथ वा न हि मुदं शोकं न कस्मिन्नपि
प्राय: प्रारभतेऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्यङ्गिनाम् ॥१९॥

अर्थ—जिस प्रकार पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर चले जाते हैं तथा जिस प्रकार भौंरा एक फूल से दूसरे फूल पर उड़कर चले जाते हैं उसी प्रकार इस संसार में अपने-अपने कर्म के वश से जीव निरंतर एक गति से दूसरी गति में जाते हैं इस प्रकार प्राणियों की अनित्यता को समझकर विद्वान् न तो प्राय: प्राणियों की उत्पत्ति में हर्ष ही मानता है और न उनके मरने पर शोक ही करता है।

भ्राम्यन् कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा
मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघत: प्राप्तं पुनर्नश्यति।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेऽपि जन्मन्यपि
[१]द्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वर: ॥२०॥

अर्थ—अनन्तकाल पर्यन्त इस संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव को मनुष्यपने की प्राप्ति होवे ही ऐसा कोई निश्चय नहीं (नहीं भी होती है) दैवयोग से यदि हो भी जावे तो खोटे कुल में जन्म लेने पर भी वह पाया हुआ मनुष्यपना, उस खोटे कुल में किये हुए पापों से नष्ट हो जाता है यदि श्रेष्ठ जाति में भी जन्म हो जावे तो प्रथम तो गर्भ में ही मर जाता है इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि धर्म के लिए ही प्रयत्न करना उत्तम है क्योंकि धर्म में ही यह शक्ति है कि वह प्राणियों को जन्म-जरा आदि से छुड़ाता है तथा जहाँ पर किसी प्रकार का दुख नहीं ऐसे मोक्ष पद में ले जाकर जीवों को धरता है।

---

१. प्राग्

स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः
प्रतिक्षणमिदं जगज्जलदकूटवन्नश्यति।
तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने
प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः॥२१॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा यह लोक सदा विद्यमान है तो भी पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा मेघों के समूह के समान यह क्षण-क्षण में विनाशीक है इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे बुद्धिमान् पुरुषो! इस संसार में अपने प्रिय मनुष्य के उत्पन्न होने पर क्या तो हर्ष करने में रखा है? तथा प्रिय मनुष्य के मर जाने पर क्या शोक करने में रखा है? अर्थात् तुम्हारा हर्ष तथा शोक करना बिना प्रयोजन का है।

लङ्घ्यन्ते जलराशयः शिखरिणो देशास्तटिन्यो जनैः
सा वेला तु मृतेर्नृ पक्ष्मचलनस्तोकापि देवैरपि।
तत्कस्मिन्नपि संस्थिते सुखकरं श्रेयो विहाय ध्रुवं
कः सर्वत्र दुरन्तदुःखजनकं शोकं विदध्यात् सुधीः ॥२२॥

अर्थ—मनुष्य बड़े-बड़े समुद्रों को पार कर जाते हैं तथा बड़े-बड़े पर्वतों का तथा देशों का उल्लंघन कर जाते हैं और विस्तृत नदियों को भी तिर जाते हैं परन्तु मरण के समय को मनुष्यों की क्या बात देव भी निमेषमात्र के लिए भी नहीं टाल सकते हैं इसलिए आचार्य कहते हैं कि ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा? जो किसी अपने प्रिय मनुष्य के मर जाने पर समस्त प्रकार के कल्याण को देने वाले उत्तमधर्म को न करके नाना प्रकार के नरकादि दुखों को देने वाले शोक को करेगा।

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपने प्रिय किसी स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर धर्म का ही आराधन करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि धर्म ही दुखों से छुटाने वाला है किन्तु नाना प्रकार के दुखों के देने वाले शोक की ओर झाँक करके भी नहीं देखते।

आक्रन्दं कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे
जाते यच्च मुदं तदुन्नतधियो जल्पन्ति वातूलताम्।
यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रबन्धोदयात्
मृत्यूत्पत्तिपरम्परामयमिदं सर्वं जगत्सर्वदा ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने प्रिय मनुष्य के मरने पर तो चीख मार-मार कर रोते हैं तथा उत्पन्न होने पर हर्ष मानते हैं उनकी उस प्रकार की चेष्टा को बुद्धिमान् पुरुष बावलापन कहते हैं क्योंकि यह समस्त जगत् तो अज्ञान से की हुई जो खोटी-खोटी क्रिया उनसे उत्पन्न हुआ जो कर्मों का बंधन उसके उदय से सदा मरण तथा जन्मों की परम्परा स्वरूप ही है।

भावार्थ—खोटी-खोटी चेष्टाओं से उत्पन्न हुए कर्म के वश से निरन्तर बहुत से प्राणी इस संसार में मरते हैं तथा जन्मते भी हैं इसलिए यह संसार तो जन्म-मरण स्वरूप ही है किन्तु ऐसे संसार के स्वरूप को जानकर भी यदि मनुष्य अपने प्रिय के मरने पर शोक तथा उत्पन्न होने पर हर्ष माने तो सर्वथा उनका बावलापन है ऐसा समझना चाहिए।

गुर्वी भ्रान्तिरियं जडत्वमथ वा लोकस्य यस्माद्वसन्
संसारे बहुदुःखजालजटिले शोकीभवत्यापदि।
भूतप्रेतपिशाचफेरवचितापूर्णे श्मशाने गृहं
कः कृत्वा भयदादमङ्गलकृते भावाद् भवेच्छङ्कितः॥२४॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह लोक का एक बड़ा भारी भ्रम है अथवा उसकी मूर्खता कहनी चाहिए कि अनेक दुखों से व्याप्त इस संसार में रहता हुआ भी आपत्ति के आने पर शोक करता है क्योंकि जो श्मशान, भूतप्रेत, पिशाच तथा भयंकर शब्द और चिता आदि से व्याप्त है ऐसे श्मशान में घर बनाकर तथा रहकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो मंगलस्वरूप तथा नाना प्रकार के भय को करने वाले पदार्थों से भय करेगा।

भावार्थ—जिस प्रकार श्मशान आदिक भय के स्थानों में रहकर भय करना मूर्खता है क्योंकि वहाँ पर नियम से भय होगा ही उसी प्रकार शोक आदि के स्थान स्वरूप इस संसार में शोक करना भी व्यर्थ है इस लिए मनुष्यों को शोक आदि के 'स्थान स्वरूप' इस संसार में कदापि शोक नहीं करना चाहिए।

(मालती)

भ्रमति नभसि चन्द्रः संसृतौ शश्वदङ्गी लभत उदयमस्तं पूर्णतां हीनताञ्च।
कलुषितहृदयः सन् याति राशिं च राशेस्तनुमिह तनुतस्तत्कोत्र मोदश्च शोकः॥२५॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा सदा आकाश में भ्रमण करता रहता है उसी प्रकार यह प्राणी भी निरंतर संसार में एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता रहता है तथा जिस प्रकार चन्द्रमा उदित होता है तथा अस्त होता है उसी प्रकार यह प्राणी भी जन्मता तथा मरता है तथा जिस प्रकार चन्द्रमा बढ़ता और घटता है उसी प्रकार यह प्राणी भी बालपने को तथा युवापने को और वृद्धपने को प्राप्त होता है तथा जिस प्रकार चन्द्रमा कलंकित होकर मीन आदि राशि से कर्क आदि राशि को प्राप्त होता है, ऐसी वास्तविक 'स्थिति को' भलीभाँति जानकर जन्म-मरण में कदापि हर्ष तथा शोक नहीं मानना चाहिए।

तडिदिव चलमेतत्पुत्रदारादिसर्वं किमिति तदभिधाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवाऽनलस्य व्यभिचरति कदाचित्सर्वभावेषु नूनम्॥२६॥

अर्थ—संसार में पुत्र, स्त्री आदिक समस्त पदार्थ बिजली के समान चंचल तथा विनाशीक हैं इसलिए स्त्री-पुत्र आदि के नाश होने पर बुद्धिमानों को कदापि शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि

जिसप्रकार अग्नि में उष्णपना सर्वदा रहता है उसी प्रकार समस्त पदार्थों में उत्पाद, विनाश तथा ध्रौव्य ये तीनों धर्म सदा रहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सर्व वस्तु नित्य हैं किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा तो सब पैदा भी होती हैं तथा नष्ट भी होती हैं इसलिए पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा जब सर्व पदार्थों का उत्पन्न होना तथा नष्ट होना धर्म ही ठहरा तब विद्वानों को स्त्री-पुत्र-मित्र आदि के नाश होने पर जिससे किसी प्रकार के हित की आशा नहीं ऐसा खेद कदापि नहीं करना चाहिए।

प्रियजनमृतिशोकः सेव्यमानोऽतिमात्रं जनयति तदसातं कर्म यच्चाग्रतोऽपि।
प्रसरति शतशाखं देहिनि क्षेत्र उप्तं वट इव तनुबीजं त्यज्यतां स प्रयत्नात्॥२७॥

अर्थ—क्षेत्र में बोया हुआ छोटा भी वटवृक्ष का बीज जिस प्रकार शाखा प्रशाखा स्वरूप में परिणत होकर फैल जाता है उसी प्रकार अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर जो अत्यन्त शोक किया जाता है वह शोक उस असाताकर्म को पैदा करता है जो असाताकर्म उत्तरोत्तर शाखा-प्रशाखा रूप में परिणत होकर फैलता चला जाता है अर्थात् उस असाता कर्म के उदय से नरक, तिर्यञ्च आदि अनेक योनियों में भ्रमण करने से नानाप्रकार के दुख सहने पड़ते हैं इसलिए आचार्य कहते हैं कि विद्वानों को ऐसा शोक जैसे छूटे वैसे छोड़ देना चाहिए।

(आर्या)

आयुः क्षतिः प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गता।
सर्वे जनाः किमेकः शोचयत्यन्यं मृतं मूढः॥२८॥

अर्थ—प्रतिसमय आयु का नाश होता है तथा यह आयु का नाश ही यमराज का मुख है और उसमें अनेक जीव प्रविष्ट हो चुके हैं फिर भी यह अकेला अज्ञानी जीव अपने प्रिय के मरने पर मालूम नहीं क्यों शोक करता है ?

भावार्थ—यदि आयु कर्म का अंत न होता अथवा अनेक प्राणी न मरते तब तो इस जीव का शोक करना उचित होता किन्तु समय-समय में आयुकर्म का नाश होता चला जा रहा है तथा अनेक प्राणी मर चुके हैं और स्वयं भी मरने के लिए तैयार है इस बात को जानता हुआ भी यह अज्ञानी जीव शोक करता है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

(अनुष्टुप्)

यो नात्र गोचरं मृत्योर्गतो याति न यास्यति।
स हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरः पुमान्॥२९॥

अर्थ—जो प्राणी न तो मरा है तथा न मर रहा है और न मरेगा यदि वह अपने प्रिय के मरने पर शोक करे तो उसका शोक तो शोभा को प्राप्त हो सकता है किन्तु जो अनन्तों बार तो मर चुका तथा

मर रहा है और अनन्तों ही बार मरेगा यदि वह शोक करे तो उसका शोक करना सर्वथा व्यर्थ है इसलिए विद्वानों को अपने प्रिय स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर कदापि शोक नहीं करना चाहिए।

(मालिनी)

प्रथममुदयमुच्चैर्दूरमारोहलक्ष्मीमनुभवति च पातं सोऽपि देवो दिनेशः।
यदि किल दिनमध्ये तत्र केषां नराणां वसति हृदि विषादः सत्स्ववस्थान्तरेषु॥३०॥

अर्थ—सूर्यदेव भी एक ही दिन में प्रथम तो प्रातःकाल में उदित होकर ऊँचा चढ़ता हुआ अत्यन्त शोभा को धारण करता है तथा पश्चात् सायंकाल में अस्त हो जाता है उसी प्रकार समस्त पदार्थों की एक अवस्था से दूसरी अवस्था होती है उन अवस्थाओं को देखकर ऐसे कौन बुद्धिमान् मनुष्य होंगे जो अपने मन में विषाद करेंगे ? अर्थात् ऐसी स्वाभाविक स्थिति पर बुद्धिमान् कदापि खेद नहीं कर सकते।

(वसन्ततिलका)

आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्याः भूपृष्ठ एव शकटप्रमुखाश्चरन्ति।
मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः॥३१॥

अर्थ—चन्द्र, सूर्य, पवन, पक्षी, आदिक तो आकाश में ही चलते हैं तथा गाड़ी, सिंह, व्याघ्र आदिक जमीन पर ही चलते हैं और मछली, मगर आदिक जल में ही चलते हैं परन्तु यह काल (यम) सब जगह पर चलता है अर्थात् यह काल प्राणियों को पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि आदि किसी स्थान पर नहीं छोड़ता फिर इससे बचने का प्रयत्न किया जावे तो कहाँ किया जावे ?

(शार्दूलविक्रीडित)

किं देव किमु देवता किमगदो विद्यास्ति किं किं मणिः
किं मन्त्रं किमुताश्रयःकिमु सुहृत्किं वा सुगन्धोऽस्ति सः।
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः सन्त्यत्र लोकत्रये
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥३२॥

अर्थ—तीनों लोक में भी देव, देवी, वैद्य, विद्या, मणि, मंत्र, भृत्य, मित्र, सुगन्ध तथा राजा आदिक एक-एक की तो क्या बात सब मिलकर भी अपने समय में उदय आये हुए प्राणियों के कर्म को नहीं रोक सकते।

भावार्थ—जो कर्म पूर्वकाल में बाँधा है वह अपने समय पर नियम से उदय में आता है तथा बलवान् से बलवान् भी देव आदिक कोई भी उसका निवारण नहीं कर सकता ऐसा भलीभाँति समझकर विद्वान् कदापि शुभ-अशुभ कर्म के उदय होने पर हर्ष विषाद नहीं करते।

गीर्वाणा अणिमादिस्वस्थमनसः शक्ताः किमत्रोच्यते
ध्वस्तास्तेऽपि परम्परेण स परस्तेभ्यः कियान् राक्षसः।
रामाख्येन च मानुषेण निहितः प्रोल्लंघ्य सोप्यम्बुधिं
रामोऽप्यन्तकगोचरः समभवत् कोऽन्यो बलीयान् विधेः॥३३॥

अर्थ—विशेष कहाँ तक कहा जाये क्योंकि जो देव अणिमा-महिमा आदि ऋद्धि के धारी थे तथा सब प्रकार से समर्थ थे उनको भी उस रावण नामक राक्षस ने विध्वंस कर दिया जो रावण उन देवों के सामने कुछ भी चीज न था तथा उस रावण को भी, समुद्र को पार कर राम नामक मनुष्य ने मार दिया तथा वह राम भी कालबली का ग्रास बन गया, इसलिए आचार्य कहते हैं कि समय से बलवान संसार में कोई भी नहीं है।

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं
मुग्धास्तत्र वधूमृगीगतधियस्तिष्ठन्ति लोकैणकाः।
कालव्याध इमान् निहन्ति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दयः
तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोऽपि नो कश्चन ॥३४॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह संसाररूपी वन तो सब जगह उठा हुआ जो शोकरूपी दावानल उससे व्याप्त हो रहा है तथा इस संसाररूपी वन में लोकरूपी जो मृग हैं वे स्त्रीरूपी मृगी के वश होकर पड़े हुए हैं और यह कालरूपी व्याध आगे आये हुए उन लोकरूपी दीन मृगों को सदा काल मारता है जिससे न तो इस संसार में कोई बालक सदा जीता है तथा न कोई युवा सदा जीता है और न कोई वृद्ध ही सदा जीता है।

संपच्चारुलताः प्रियापरिलसद्वल्लीभिरालिङ्गितः
पुत्रादिप्रियपल्लवो रतिसुखप्रायैः फलैराश्रितः।
जातः संसृतिकानने जनतरुः कालोग्रदावानल-
व्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा[1] बत बुधैरन्यत्किमालोक्यते ॥३५॥

अर्थ—संपदारूपी मनोहर लताओं से युक्त तथा स्त्रीरूपी जो मनोहर बेल उससे आलिंगन किया हुआ और पुत्र आदिक उत्तम पल्लवों का धारी तथा रति से उत्पन्न हुए जो सुख वे ही हुए फल उनसे सहित, ऐसा यह संसाररूपी वन में पैदा हुआ मनुष्यरूपी वृक्ष है। यह मनुष्यरूपी वृक्ष कालरूपी जो भयंकर दावाग्नि उससे भस्म न हो जावे इसके लिए बुद्धिमानों को अवश्य उसके सार्थक होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—बड़ी कठिनता से इस मनुष्य भव की प्राप्ति हुई है और इस मनुष्य जन्म के सिवाय निर्वाण का कारण और कोई उत्तम पदार्थ भी नहीं है इसलिए जप-तप आदि कर इस मनुष्य जन्म को

१. व्याप्तश्चेदभवत्तदा

विद्वानों को सार्थक बनाना चाहिए अन्यथा यह व्यर्थ नष्ट हो जायेगा।

वाञ्छन्त्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदयाः मोहान्मुधैव ध्रुवं
दुःखोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधियः संसारघोरार्णवे॥३६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि संसार में समस्त प्राणी इन्द्रियों से पैदा हुए सुख की अभिलाषा सदा करते रहते हैं किन्तु वह सुख कर्मानुसार मिलता है इच्छानुसार नहीं मिलता तथा सर्व जीव निश्चय से मरते हैं तो भी उस मृत्यु से डरते रहते हैं इस प्रकार मोह से कामातुर तथा भयातुर होकर ये ''मूढ़बुद्धि प्राणी'' व्यर्थ ही नाना प्रकार के दुखरूपी तरंगों से व्याप्त इस संसाररूपी समुद्र में डूबते हैं।

(मालिनी)

स्वसुखपयसि दीव्यन्मृत्युकैवर्तहस्तप्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः॥३७॥

अर्थ—और भी आचार्य उपदेश देते हैं कि जिस प्रकार मल्लाह द्वारा बिछाये हुए जाल में मछलियों का समूह खेलता रहता है किन्तु समीप में रही हुई मरणरूपी भयंकर आपत्ति के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं देता उसी प्रकार यह दीन लोकरूपी मछलियों का समूह, अपने सुखरूपी जल में कालरूपी मल्लाह के हाथ से फैलाये हुए जरारूपी विस्तीर्ण जाल में क्रीड़ा करता रहता है किन्तु (व्यर्थ में हमारा जीवन चला जायेगा) इस प्रकार पास में रही हुई भी आपत्ति के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं देता।

(शार्दूलविक्रीडित)

श्रृण्वन्नन्तकगोचरं गतवतः पश्यन् बहून् गच्छतो
मोहादेव जनस्तथापि मनुते स्थैर्यं परं ह्यात्मनः।
सम्प्राप्तेऽपि च वार्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय यत्
तद्बध्नात्यधिकाधिकं स्वमसकृत् पुत्रादिभिर्बन्धनैः ॥३८॥

अर्थ—यह लोक, बहुत से जीव मर गये इस बात को सुनता हुआ भी तथा बहुतों को मरते हुए स्वयं देखता हुआ भी मोह से आत्मा को निश्चल ही मानता है तथा वृद्धावस्था के आने पर भी धर्म की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देता किन्तु उस अवस्था में भी पुत्र, स्त्री आदि के 'बंधन से' निरन्तर अपने को और भी ज्यादा बाँधता है।

दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचितं दुःसन्धि दुर्बन्धनं
सापायस्थितिदोषधातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम्।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयो यच्चात्र चित्रं न तत्
तच्चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापि यन्मृग्यते॥३९॥

अर्थ—जो देह, बुरी-बुरी क्रिया से किया गया जो कर्म वही हुआ एक प्रकार का कारीगर, उससे बना हुआ है तथा खोटी सन्धि और खोटे बंधन से सहित है और जिसकी स्थिति नाश से सहित है तथा जो नाना प्रकार के दोष तथा मलमूत्र, वीर्य आदि सात कुधातुओं से संयुक्त है ऐसे देह में आधि, व्याधि, जरा, मरण आदिक होते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि विद्वान् मनुष्य भी ऐसे शरीर को सर्वथा स्थिर मानते हैं।

लब्धा श्रीरिह वाञ्छिता वसुमती भुक्ता समुद्रावधिः
प्राप्तास्ते विषया मनोहरतराः स्वर्गेऽपि ये दुर्लभाः।
पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्सर्वमेतद्विषा-
श्लिष्टं भोज्यमिवातिरम्यमपि धिग्मुक्तिः परं मृग्यताम् ॥४०॥

अर्थ—इस संसार में वांछित लक्ष्मी भी प्राप्त कर ली तथा सागरान्त पृथ्वी का राज्य भी भोग लिया है और जो विषय स्वर्ग में भी नहीं प्राप्त हो सकते ऐसे अत्यन्त मनोहर विषयों को भी पा लिया किन्तु जिस समय मृत्यु पास में आ जावेगी उस समय अत्यन्त मनोहर ये सब बातें विष युक्त भोजन के समान दुख देने वाली हो जायेगी इसलिए इनको धिक्कार हो ऐसा विचार कर हे भव्य जीवो! जहाँ पर किसी प्रकार के दुख नहीं ऐसी मुक्ति का ही आश्रय करो।

युद्धे तावदलं रथेभतुरगा वीराश्च दृप्ता भृशं
[1]मन्त्रःशौर्यमसिश्च तावदतुलः कार्यस्य संसाधकः।
राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दयमना यावज्जिघत्सुर्यमः
क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नो विधेयो बुधैः ॥४१॥

अर्थ—जब तक भूखा, निर्दयी, समस्त जीवों का विध्वंस करने वाला तथा क्रोधी यमराज सामने नहीं आता तभी तक लड़ाई में राजा के रथ, हस्ती, घोड़ा तथा अत्यन्त गर्व करने वाले सुभट तथा मन्त्र, वीरता और अनुपम तलवार आदि काम में आते हैं किन्तु जब यमराज सामने पड़ जाता है अर्थात् मर जाते हैं उस समय उपर्युक्त कोई भी चीज काम में नहीं आती इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को जिस प्रकार बने उस प्रकार से इस काल के सर्वथा नाश के लिए ही यत्न करना चाहिए।

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चितं
सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोऽप्याशु क्षयं गच्छति।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मदः ॥४२॥

अर्थ—अपने पूर्वोपार्जित कर्म के वश से राजा भी क्षण भर में निश्चय से निर्धन हो जाता है तथा समस्त रोगों से रहित भी जवान मनुष्य देखते-देखते नष्ट हो जाता है इसलिए समस्त पदार्थों में सारभूत

---

१. मन्त्रं, मन्त्राः

जीवन तथा धन की जब संसार में ऐसी स्थिति है तब और पदार्थों की क्या बात ? अर्थात् वे तो अवश्य ही विनाशीक हैं अतः विद्वानों को किसी पदार्थ में अहंकार नहीं करना चाहिए।

हन्ति व्योम स मुष्टिनाथ सरितं शुष्कां तरत्याकुलः
तृष्णार्तोऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन्।
प्रोत्तुङ्गाचलचूलिकागतमरुत्प्रेङ्खत्प्रदीपोपमैः
यः सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः॥४३॥

अर्थ—जो मनुष्य अत्यन्त ऊँची पहाड़ की चोटी उस पर चलती हुई पवन उससे झकोरे खाते हुए दीपक के समान चंचल ऐसी संपदा तथा पुत्र, स्त्री आदिक में अभिमान करता है वह मनुष्य उन्मादी होकर आकाश को मुट्ठी से मारता है तथा अत्यन्त आकुल होकर सूखी नदी को तिरता है और प्यास से अत्यन्त आकुल होकर मरीचिका को पीता है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश को मुट्ठी से मारना, सूखी नदी को तिरना और मरीचिका का पीना बिना प्रयोजन का है उसी प्रकार अत्यन्त चंचल तथा विनाशीक संपदा, पुत्र, स्त्री आदि में अहंकार करना भी व्यर्थ है इसलिए विद्वानों को इनमें कदापि अभिमान नहीं करना चाहिए।

लक्ष्मीं व्याधमृगीमतीव चपलामाश्रित्य भूपा मृगाः
पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल।
सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुः संलग्नसंहृच्छरं
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम्॥४४॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि राजारूपी जो मृग हैं वे अत्यन्त चंचल तथा शिकारी की हिरणी के समान इस संपदा को पाकर पुत्र, भाई आदिक जो दूसरे मृग हैं उनको अत्यन्त क्रोध तथा ईर्ष्या से मारते हैं किन्तु बड़ी भारी आपत्तिरूप धनुष का धारी तथा संहाररूपी बाण को हाथ में लिए हुए और पास में आये हुए क्रोधी यमराजरूपी हिंसक की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते यह आश्चर्य की बात है।

भावार्थ-जिस समय कोई शिकारी हिरनों के मारने के लोभ से अपनी पाली हुई मृगी को वन में छोड़ देता है तथा स्वयं हाथ से धनुष लेकर पास में बैठ जाता है उस समय जिस प्रकार कामी मृग उस मृगी के लिए परस्पर में लड़ते हैं और एक दूसरे को मारते हैं तथा आई हुई आपत्ति पर कुछ भी ध्यान न देकर व्यर्थ में मारे जाते हैं उसी प्रकार ये राजा भी शिकारी की मृगी के समान इस लक्ष्मी को पाकर परस्पर में लड़ते हैं तथा उस लक्ष्मी के लिए अपने प्रिय पुत्र आदिकों को भी मारते हैं किन्तु इस बात पर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते कि हमको आगे क्या-क्या आपत्ति भोगनी होगी तथा हमारा कितने काल तक जीवन रहेगा क्योंकि काल हमारे शिर पर छा रहा है इसलिए विद्वानों को चाहिए कि इस प्रकार दोनों लोक के बिगाड़ने वाली लक्ष्मी के फँदे में न पड़े और उसको अपने हित की करने वाली भी न

समझें।

मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृत्
नो गन्धोऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषा पुनर्निश्चितम्।
दुःखं वर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः
पापं रुक् च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घसंसारिता॥४५॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने प्रियजन के मर जाने पर मोह के वश होकर शोक करता है उसको किसी प्रकार गुण की प्राप्ति तो होती नहीं किन्तु निश्चय से उल्टे दोष ही उत्पन्न हो जाते हैं तथा दुख बढ़ता चला जाता है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं तथा बावला हो जाता है और उसके पाप तथा रोगों की उत्पत्ति भी हो जाती है और अंत में मर भी जाता है पीछे दुर्गतिरूपी रथ में बैठकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है इसलिए विद्वानों को कदापि शोक नहीं करना चाहिए।

(आर्या)

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः।
कस्त्रस्यति लङ्घनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम्॥४६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह संसार तो आपत्ति स्वरूप है फिर भी नहीं मालूम बुद्धिमान् पुरुष आपत्ति के आने पर क्यों खेद करते हैं क्योंकि जो चौरास्ते पर मकान बनाता है वह क्या उसके उल्लंघन होने पर दुःखित होता है ? कदापि नहीं।

भावार्थ—जो मनुष्य चौरास्ते पर मकान बनायेगा उसको तो दूसरे पथिक उल्लंघन करके अवश्य ही जायेंगे। यदि मकान का मालिक उल्लंघन करने पर खेद करे तो उसका खेद करना व्यर्थ ही है, उसी प्रकार जो मनुष्य इस आपत्तिरूप संसार में रहेगा तो उसको अवश्य ही दुख भोगने होंगे, यदि वह दुख भोगते समय खेद माने तो उसका भी खेद मानना सर्वथा व्यर्थ है इसलिए जो मनुष्य खेद करना नहीं चाहता उसको ऐसा काम करना चाहिए कि वह फिर संसार में न आवे।

(वसन्ततिलका)

वातूल एष किमु किं ग्रहसंगृहीतो भ्रान्तोऽथ वा किमु जनः किमथ प्रमत्तः।
जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि विद्युच्चलं तदपि नो कुरुते स्वकार्यम्॥४७॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि क्या इस मनुष्य को वाय आ गई है अथवा किसी भूत-पिशाच ने पकड़ लिया है या वह बावला हो गया है अथवा उन्मादी हो गया है जो कि समस्त जीवन, धन, स्त्री, पुत्र आदि को बिजली के समान चंचल तथा विनाशीक जानता है, देखता है, सुनता है, तो भी अपने हित के करने वाले कार्य को अंशमात्र भी नहीं करता।

(शार्दूलविक्रीडित)

दत्तं नौषधमस्य नैव कथितः कस्याप्ययं मन्त्रिणो
नोकुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्तरस्थे निजे।
यत्ना यान्ति यतोङ्गिनः शिथिलतां सर्वे मृतेः सन्निधौ
बन्धाश्चर्मविनिर्मिता परिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव ॥४८॥

अर्थ—अपने प्रिय मनुष्य के मर जाने पर बुद्धिमानों को ऐसा शोक कदापि नहीं करना चाहिए कि मैंने इसको दवा नहीं दी अथवा किसी वैद्य अथवा मंत्रवादी को बुलाकर नहीं दिखाया क्योंकि जिस प्रकार चाम के बंध वर्षाकाल में पानी पड़ने से ढीले हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य की मृत्यु के समीप में रहने पर किये हुए प्रयत्न भी नहीं किए हुए से लगते हैं।

(शिखरिणी)

स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने।
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणम्॥४९॥

अर्थ—जिसमें कोई शरण नहीं है ऐसे वन में बलवान् व्याघ्र से पकड़ा हुआ दीन पशु जिस प्रकार मे, मे, करके मर जाता है उसी प्रकार शरण रहित इस संसाररूपी वन में अपने काल आदि बल संयुक्त कर्मरूपी व्याघ्र से पकड़ा हुआ यह जन स्त्री मेरी है, पुत्र मेरे हैं, धन मेरा है, यह घर मेरा है, इस प्रकार मे, मे करता-करता व्यर्थ मर जाता है इसलिए विद्वानों को कदापि किसी पदार्थ में ममत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

(वसन्ततिलका)

दिवानि खण्डानि गुरूणि मृत्युना विहन्यमानस्य निजायुषो भृशम्।
पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जडः॥५०॥

अर्थ—मृत्यु से नष्ट किये हुए अपने आयु के बड़े-बड़े टुकड़े स्वरूप ये दिन सदा आगे आकर पड़ते हैं अर्थात् आयु के दिन प्रतिदिन क्षीण होते चले जाते हैं इस बात को देखता हुआ भी यह अज्ञानी जीव अपने को निश्चल अविनाशी मानता है यह बड़ा आश्चर्य है।

(शार्दूलविक्रीडित)

कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं तेऽपीन्द्रचन्द्रादयः
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशोऽशक्तेरदीर्घायुषः।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं मुधा मा कृथाः
कालः क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किञ्चिदन्विष्यताम् ॥५१॥

अर्थ—जब बड़ी-बड़ी ऋद्धि के धारी इन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदिक भी अपने काल के आने पर मर जाते हैं तब कीट के समान निर्बल तथा थोड़ी आयु वाले अन्यजन की क्या बात ? अर्थात् वह तो अवश्य ही मरेगा इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर शोक न करके कोई ऐसा काम करो जिससे तुमको फिर न मरना पड़े।

संयोगो यदि विप्रयोगविधिना चेज्जन्म तन्मृत्युना
सम्पच्चेद्विपदा सुखं यदि तदा दुःखेन भाव्यं ध्रुवम्।
संसारेऽत्र मुहुर्मुहुर्विविधावस्थान्तरप्रोल्लसद्
वेषान्यत्वनटीकृताङ्गिनि सतः शोको न हर्षः क्वचित्॥५२॥

अर्थ—जिस संसार में यह जीव बार-बार नाना प्रकार की जो दूसरी-दूसरी अवस्था उनमें नारकी, पशु, देव आदिक नाना वेषों को धारण कर नट के समान स्थित है उस संसार में यदि संयोग, वियोग के साथ लगा हुआ है तथा जन्म-मरण के साथ और संपत्ति, विपत्ति के साथ लगी हुई है और सुख, दुख के साथ लगा हुआ है तब विद्वानों को न तो किसी पदार्थ में शोक करना चाहिए, न हर्ष ही करना चाहिए।

भावार्थ—इस संसार में अपने कर्म के अनुसार जीव एक गति से दूसरी गति में जाकर नाना प्रकार के देव, मनुष्य, पशु आदिक वेषों को भी धारण करते हैं और जिन-जिन पदार्थों का संयोग है उनका वियोग भी अवश्य होता है तथा जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता भी है और जो धनी है वह निर्धन भी अवश्य होता है तथा जो सुखी है वह दुखी भी अवश्य होता है, इसलिए आचार्य उपदेश देते है कि जो मनुष्य इस प्रकार के संसार के चरित्र को जानते हैं उनको संयोग, संपत्ति, सुख आदि के होने पर न तो हर्ष मानना चाहिए तथा वियोग, विपत्ति, दुख आदि के होने पर शोक भी नहीं करना चाहिए।

लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः
कुर्यात्सा भवितव्यता गतवती तत्तत्र यद्रोचते।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान्बहून्
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिःसुखं स्थीयताम् ॥५३॥

अर्थ—मनुष्य सदा इस प्रकार का विचार करते रहते हैं कि सदा हमको कल्याण की प्राप्ति होवे किन्तु दैवयोग से जैसा होना होता है, होता वैसा ही है, अपना विचारा हुआ कुछ भी नहीं होता इसलिए सज्जनों को चाहिए कि वे मोह के वश से फैले हुए जो ''सुख आदि की वाञ्छारूप'' नाना प्रकार के खोटे विकल्प उनको नाश करके राग, द्वेषरूपी विष से रहित होकर अपने साम्य भावरूपी सुख में स्थित रहें तभी उनको कल्याण की प्राप्ति हो सकती है दूसरे प्रकार से उनको कल्याण की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

(वसन्ततिलका)

लोका गृहप्रियतमासुतजीवितादि वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तम्।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः॥५४॥

अर्थ—और भी आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवो! ये घर, स्त्री, पुत्र, जीवन आदिक समस्त पदार्थ पवन से कंपाये हुए ध्वजा के अग्रभाग के समान चंचल हैं इसलिए अधिक कहाँ तक कहा जावे धन, स्त्री, मित्र आदिक में फैले हुए मोह को सर्वथा नाशकर धर्म में ही अपनी बुद्धि को लगाओ।

पुत्रादिशोकशिखिशान्तिकरी यतीन्द्रश्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधरप्रसूतिः।
सद्बोधसस्यजननी जयतादनित्यपञ्चाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः॥५५॥

अर्थ—पुत्र आदि में फैली हुई शोकरूपी अग्नि को शान्त करने वाली तथा यतिओं में उत्तम ऐसे जो पद्मनन्दी नामक यति उनका मुखरूपी जो मेघ उससे पैदा हुई तथा श्रेष्ठ बोधरूपी धान्य को पैदा करने वाली ऐसी यह अनित्यपञ्चाशत रूपी जल की वृष्टि सज्जनों के हृदय में सदा जयवन्त रहे।

भावार्थ—जिस प्रकार जलवृष्टि जलती हुई अग्नि को बुझा देती है तथा मेघ से पैदा होती है और धान्यों को पैदा करती है उसी प्रकार ''अनित्यपञ्चाशत'' भी शोक को नाश करने वाली है अर्थात् इसके पढ़ने से उत्तम मनुष्य को किसी प्रिय से प्रिय पदार्थ के नाश होने पर भी शोक नहीं होता तथा मुनीन्द्र श्री पद्मनन्दी ने इसका प्रतिपादन किया है और यह श्रेष्ठ ज्ञान को देने वाली है इसलिए भव्यजीवों को इसका मनन अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दी आचार्य द्वारा रचित श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
अनित्यपञ्चाशत नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

४.

एकत्वसप्तति

अनुष्टुप्

चिदानन्दैकसद्भावं परमात्मानमव्ययम्।
प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम्॥१॥

अर्थ—चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप, अविनाशी और शान्त ऐसे परमात्मा को सर्व कर्मों की शान्ति के लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—जो परमात्मा चैतन्यस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, नित्य, शाश्वत तथा समस्त क्रोधादि कर्मों से रहित है ऐसा परमात्मा मुझे इस एकत्व नामक अधिकार के वर्णन करने में शांति प्रदान करें।

खादिपञ्चकनिर्मुक्तं कर्माष्टकविवर्जितम्।
चिदात्मकं परं ज्योतिर्वन्दे देवेन्द्रपूजितम्॥२॥

अर्थ—जो चैतन्यस्वरूप तेज पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल से सर्वथा भिन्न है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित है और जिसका बड़े-बड़े देव तथा इन्द्र आदिक सदा पूजन करते हैं ऐसा वह चैतन्यस्वरूप 'उत्कृष्ट तेज' मेरी रक्षा करे अर्थात् उस चैतन्यस्वरूप तेज को मस्तक नवाकर मैं नमस्कार करता हूँ।

यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम्।
सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने॥३॥

अर्थ—जिस चैतन्यस्वरूप आत्मा को ज्ञानरहित अज्ञानी पुरुष अनुभव नहीं कर सकते हैं तथा अखंड ज्ञान के धारक ज्ञानी जिसका सदा अनुभव करते हैं और समस्त पदार्थों में जो सारभूत है ऐसे उस चैतन्यस्वरूप आत्मा के लिए मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

चित्तत्वं तत्प्रतिप्राणिदेह एव व्यवस्थितम्।
तमश्छन्ना न जानन्ति भ्रमन्ति च बहिर्बहिः॥४॥

अर्थ—यद्यपि प्रत्येक प्राणी की देह में यह निर्मल चैतन्यरूपी तत्त्व विराजमान है तो भी जिन

मनुष्यों की आत्मा अज्ञानान्धकार से ढँकी हुई है वे इसको कुछ भी नहीं जानते हैं तथा चैतन्य से भिन्न बाह्य पदार्थों में ही चैतन्य के भ्रम से भ्रान्त होते हैं।

भ्रमन्तोऽपि सदा शास्त्रजाले महति केचन।
न विदन्ति परं तत्त्वं दारुणीव हुताशनम्॥५॥

अर्थ—कई एक मनुष्य अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय भी करते हैं तो भी तीव्र मोहनीयकर्म के उदय से भ्रान्त होकर लकड़ी में जिस प्रकार अग्नि नहीं मालूम होती उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को अंशमात्र भी नहीं जानते।

केचित् केनापि कारुण्यात्कथ्यमानमपि स्फुटम्।
न मन्यन्ते न शृण्वन्ति महामोहमलीमसाः॥६॥

अर्थ—प्रबल मोहनीयकर्म से अज्ञानी हुए अनेक मनुष्य उत्तम पुरुषों से बताये हुए भी आत्मतत्त्व को न तो मानते ही हैं तथा न सुनते ही हैं।

भूरि धर्मात्मकं तत्त्वं दुःश्रुतेर्मन्दबुद्धयः।
जात्यन्धहस्तिरूपेण ज्ञात्वा नश्यन्ति केचन॥७॥

अर्थ—यद्यपि वस्तु का स्वरूप अनेकान्तरूप है तो भी अनेक जड़बुद्धि मनुष्य, जन्मांध जिस प्रकार हाथी के एक-एक भाग को हाथी समझ लेते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार एकान्त मान कर ही नष्ट होते हैं।

भावार्थ—किसी समय कई अन्धे मनुष्यों को इस बात की अभिलाषा हुई कि हम हाथी देखें इसलिए उन्होंने एक महावत से इस बात का निवेदन भी किया कि वह हमको हाथी दिखावे अतएव किसी दिन उस महावत ने उनके सामने हाथी लाकर खड़ाकर दिया तथा कहा कि जो तुमने हाथी को देखने के लिए निवेदन किया था उसी के अनुसार यह हाथी तुम्हारे सामने खड़ा है इसे तुम देखो फिर क्या था ? अन्धे दौड़े तथा एक-एक अंग को टटोलने लग गये जब देख चुके तब उनमें से प्रत्येक को पूछा गया कि हाथी कैसा था तो उनमें से जिसने हाथी की पूंछ का स्पर्श किया था वह झट बोल पड़ा कि हाथी लंबे बांस के समान होता है जब दूसरे से पूछा गया कि भाई हाथी कैसा होता है तब उसने कहा कि हाथी लंबा नहीं है किन्तु चाकी के पाट के समान गोल है क्योंकि उसने हाथी के पैर ही का स्पर्श किया था। इसी प्रकार औरों से भी पूछा गया तो उनमें से भी किसी ने कुछ कहा, किसी ने कोई अंग को हाथी कहा तथा किसी ने किसी अंग को हाथी कहा किन्तु हाथी के समग्रस्वरूप को कोई भी वर्णन नहीं कर सका इसलिए उनकी वे सर्व बातें मिथ्या ही समझी गई हैं। यदि वे इस प्रकार का एकान्त नहीं पकड़ते कि हाथी लंबा ही होता है अथवा गोल ही होता है तो उनकी सब बातें सत्य समझी जाती क्योंकि हाथी उन पूँछ, पैर आदि अंगों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं था सर्व मिले हुए अंगों का ही नाम हाथी था। उसी प्रकार यद्यपि वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है तो भी बहुत से दुर्बुद्धि

एक धर्म अथवा दो ही धर्म को वस्तु मानकर समग्र वस्तु का स्वरूप समझकर अपने को सर्वज्ञ बनने का दावा करते हैं किन्तु उनका उस प्रकार का अभिप्राय खोटा ही अभिप्राय समझा जाता है क्योंकि वस्तु अनेक धर्मस्वरूप है। हाँ यदि वे वस्तु में एक ही धर्म है अथवा दो ही धर्म हैं ऐसा एकान्त न पकड़े तो किसी रीति से उनका उस प्रकार का कहना निर्बाध समझा जा सकता है क्योंकि वे धर्म वस्तु से जुदे नहीं हैं उन धर्मस्वरूप ही वस्तु है इसलिए उन धर्मों के कहने से वस्तु का स्वरूप कथंचित् सच भी माना जा सकता है, इसलिए यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी कि वस्तु एकान्तात्मक नहीं है किन्तु अनेकान्तात्मक ही है किन्तु जो एकान्तात्मक मानते हैं वे दुर्बुद्धी हैं।

केचित् किञ्चित्परिज्ञाय कुतश्चिद् गर्विताशयाः।
जगन्मन्दं प्रपश्यन्तो नाश्रयन्ति मनीषिणः॥८॥

अर्थ—कई एक मनुष्य कहीं से कुछ थोड़ी सी बात जानकर अपने को बड़ा विद्वान् मान लेते हैं तथा अपने सामने जगत् भर के विद्वानों को मूर्ख समझते हैं अतएव अहंकार से वे विद्वानों की संगति भी नहीं करना चाहते।

धर्म को परीक्षा करके ग्रहण करना चाहिए इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

जन्तुमुद्धरते धर्मः पतन्तं जन्मसङ्कटे।
अन्यथा स कृतो भ्रान्त्या लोकैर्ग्राह्यः परीक्षितः॥९॥

अर्थ—संसार संकट में फँसे हुए प्राणियों का उद्धार करने वाला धर्म है किन्तु स्वार्थी दुष्टों ने उसको विपरीत ही कर दिया है अर्थात् उनका माना हुआ धर्म का स्वरूप संसार में केवल डुबोने वाला ही है इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे भलीभाँति परीक्षा कर धर्म को ग्रहण करे॥९॥

कौन धर्म प्रमाण करने योग्य है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

सर्वविद्वीतरागोक्तो धर्मः सूनृततां व्रजेत्।
प्रामाण्यतो यतः पुन्सो वाचः प्रामाण्यमिष्यते॥१०॥

अर्थ—समस्त लोकालोक के पदार्थों के जानने वाले तथा वीतरागी मनुष्य का कहा हुआ ही धर्म प्रमाणिक होता है क्योंकि मनुष्य के प्रामाण्य से ही वचनों में प्रमाणता समझी जाती है इसलिए जब वीतराग तथा सर्वज्ञ प्रमाणिक पुरुष हैं तब उनका कहा हुआ धर्म भी प्रमाणिक ही है ऐसा समझना चाहिए।

बहिर्विषयसम्बन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा।
अतस्तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ॥११॥

अर्थ—समस्त बाह्य विषयों का सम्बन्ध तो सब जीवों के सदाकाल ही रहता है किन्तु बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से जुदा जो ज्ञानानन्द स्वरूप चैतन्य का ज्ञान तथा सम्बन्ध है वह अत्यन्त दुर्लभ

है।

भावार्थ—अनादिकाल से बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध तो जीवों के प्रतिक्षण लगा आया है इसलिए उसका तो सर्वजीवों को अनुभव है परन्तु उस बाह्य सम्बन्ध से भिन्न अंतरंग में चैतन्य का ज्ञान तथा उसका सम्बन्ध कभी नहीं हुआ है क्योंकि वह अत्यन्त दुर्लभ है इसलिए भव्य जीवों को चैतन्य का ही ज्ञान करना चाहिए तथा उसी का अनुभव करना चाहिए।

लब्धिपञ्चकसामिग्रीविशेषात्पात्रतां गतः।
भव्यः सम्यग्दृगादीनां यः स मुक्तिपथे स्थितः॥१२॥

अर्थ—जिसको सिद्धि होने वाली है ऐसा जो भव्य, वह १. देशना, २. प्रायोग्य, ३. विशुद्धि, ४. क्षयोयशम तथा ५. करणलब्धि इस प्रकार इन पाँच लब्धि स्वरूप सामग्री के विशेष से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय का पात्र बनता है अर्थात् रत्नत्रय को धारण करता है वही मोक्ष मात्र में स्थित है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—सत्य उपदेश का नाम तो देशना है तथा पञ्चेन्द्रीपना, सैनीपना, गर्भजपना यह प्रायोग्य नामक लब्धि है तथा सर्वघाती प्रकृतियों का तो उदयाभावी क्षय तथा देशघाती प्रकृतियों का उदय यह क्षयोपशमलब्धि है तथा परिणामों की विशुद्धता का नाम विशुद्धिलब्धि है और अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण यह करणलब्धि है।

इन पाँच प्रकार की लब्धियों के विशेष से जो रत्नत्रय का धारी है वही भव्य पुरुष शीघ्र मुक्ति को जाता है।

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं मुक्ति कारणम्।
मुक्तावेव सुखं तेन तत्र यत्नो विधीयताम्॥१३॥

अर्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मुक्ति का कारण है और वास्तविक सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही है इसलिए भव्य जीवों को उसी के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

आचार्य सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप दिखाते हैं—

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमितियोगः शिवाश्रयः॥१४॥

अर्थ—आत्मा का निश्चय तो सम्यग्दर्शन है तथा आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में निश्चल रीति से रहना सम्यक्चारित्र है तथा इन तीनों की जो एकता वही मोक्ष का कारण है।

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि॥१५॥

अर्थ—अथवा शुद्ध निश्चयनय से एक चैतन्य ही मोक्ष का मार्ग है क्योंकि आत्मा एक अखंड पदार्थ है इसलिए उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र आदि भेदों का अवकाश नहीं है अर्थात् अखंड तथा एक आत्मा के सम्यग्दर्शन आदि टुकड़े नहीं हो सकते।

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीने पदे स्थिताः।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासते॥१६॥

अर्थ—जब तक आत्मा शुद्ध नहीं हुआ है तभी तक इसमें प्रमाण तथा नय और निक्षेप भिन्न-भिन्न हैं ऐसे मालूम पड़ते हैं किन्तु जिस समय यह आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय इसमें केवल चैतन्यस्वरूप आत्मा ही प्रतिभासता है।

निश्चयैकदृशा नित्यं तदेवैकं चिदात्मकम्।
प्रपश्यामि गतभ्रान्तिर्व्यवहारदृशा परम्॥ १७॥

अर्थ—शुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा एक है, नित्य है तथा चैतन्यस्वरूप है ऐसा मैं अनुभव करने वाला अनुभव करता हूँ किन्तु व्यवहारनय से प्रमाणस्वरूप तथा नय और निक्षेपस्वरूप भी इस आत्मा को भलीभाँति देखता हूँ।

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में यह आत्मा एक, नित्य, तथा चैतन्यस्वरूप ही है किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से इसमें प्रमाण तथा नय और निक्षेप आदि भेद दिखते हैं।

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यःस्थिरः॥१८॥
स एवामृतमार्गस्थ स एवामृतमश्नुते।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः॥१९॥

अर्थ—जो पुरुष जन्मरहित तथा शान्ति स्वरूप और समस्त कर्मों से रहित अपने को, अपने ही से जानकर, अपने में ही निश्चल रीति से ठहरता है वही पुरुष मोक्ष को जाने वाला है तथा वही मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है और वही अर्हन्त, जगन्नाथ और प्रभु, ईश्वर कहलाता है इसलिए भव्य जीवों को अपनी आत्मा में अवश्य निश्चल रीति से ठहरना चाहिए।

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्॥२०॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट आत्मस्वरूप तेज है वह केवलदर्शन तथा केवलज्ञान और अनंत सुखस्वरूप ही है इसलिए जिसने इस तेज को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया और जिसने इस तेज को देख लिया, उसने सब कुछ देख लिया तथा जिसने इस तेज को सुन लिया, उसने सब कुछ सुन लिया ऐसा समझना चाहिए।

इति ज्ञेयं तदेवैकं श्रवणीयं तदेव हि।
दृष्टव्यञ्च तदेवैकं नान्यन्निश्चतो बुधैः॥२१॥

अर्थ—इसलिए भव्य जीवों को निश्चय से एक चैतन्यस्वरूप ही जानने योग्य है तथा वही एक सुनने योग्य है और वही देखने योग्य है किन्तु उससे भिन्न कोई भी वस्तु न तो जानने योग्य है तथा न सुनने योग्य है और न देखने ही योग्य है ऐसा समझना चाहिए।

गुरूपदेशतोऽभ्यासाद्वैराग्यादुपलभ्य यत्।
कृतकृत्यो भवेद्योगी तदेवैकं न चापरम्॥२२॥

अर्थ—गुरु के उपदेश से तथा शास्त्र के अभ्यास से और वैराग्य से जिसको पाकर योगीजन कृतकृत्य हो जाते हैं वह यही चैतन्यस्वरूप तेज है और कोई नहीं है।

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥२३॥

अर्थ—जिस मनुष्य ने प्रसन्नचित्त से इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी सुन ली है वह भव्य पुरुष होने वाली मुक्ति का निश्चय से पात्र होता है अर्थात् वह नियम से मोक्ष को जाता है इसलिए मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए।

जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम्।
गतं तद्‌गतबोधात्मा तत्स्वरूपं स गच्छति॥२४॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धात्मा में लीन होकर कर्मों से भिन्न तथा एक ऐसे उस परब्रह्म परमात्मा को जानता है वह पुरुष परब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है इसलिए भव्य जीवों को परमात्मा का अवश्य ध्यान करना चाहिए।

केनापि हि परेण स्यात्सम्बन्धो बंधकारणम्।
परैकत्वपदे शान्ते मुक्तये स्थितिरात्मनः॥२५॥

अर्थ—अन्य पदार्थों के साथ जो आत्मा का सम्बन्ध होता है उससे केवल बंध ही होता है तथा उसी आत्मा का जो उत्कृष्ट शान्त और एकतारूप स्थान में ठहरना है उससे मोक्ष ही होता है इसलिए मोक्षाभिलाषियों को पर पदार्थों से ममत्व छोड़कर स्व-स्वरूप में ही लीन होना चाहिए।

विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः।
कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत्॥२६॥

अर्थ—पवन के थम जाने पर जिस प्रकार समुद्र लहरियों से रहित तथा क्षोभरहित, शांत हो जाता है उसी प्रकार जब इस आत्मा से सर्वथा कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है उस समय यह आत्मा भी समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित तथा केवलज्ञान से सहित शान्त हो जाता है।

भावार्थ—यदि देखा जावे तो स्वभाव से समुद्र शान्त ही है किन्तु जिस समय पवन चलता है उस समय उसकी लहरें ऊँचे को उठती हैं तथा वह क्षुब्ध हो जाता है परन्तु जिस समय पवन रुक जाता है उस समय फिर वह समुद्र शान्त हो जाता है। उसी प्रकार निश्चयनय से यह आत्मा भी शान्त ही है किन्तु कर्म के सम्बन्ध से इसमें नाना प्रकार के विकल्प आकर खड़े हो जाते हैं, किन्तु जिस समय उन कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है उस समय फिर वैसा का वैसा ही आत्मा शान्त हो जाता है।

संयोगेन यदायातं मत्तस्तत्सकलं परम्।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः॥२७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि इस प्रकार का चिंतन करता रहता है कि जो वस्तु संयोग से उत्पन्न हुई है वे सब मुझसे जुदी है तथा मुझे इस बात का ज्ञान है कि उन संयोग से पैदा हुई समस्त वस्तुओं के त्याग से मैं मुक्त हूँ। मेरी आत्मा में किसी प्रकार के कर्म का सम्बन्ध नहीं है।

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ।
रागद्वेषपरित्यागमोहमन्त्रेण कीलितौ ॥२८॥

अर्थ—रागद्वेषरूपी प्रबल मंत्र से कीलित हुए तथा क्रूर ऐसे शुभ तथा अशुभ कर्मरूपी राक्षस मेरा क्या करेंगे ? कुछ भी नहीं कर सकते।

भावार्थ—रागद्वेष के होने से ही शुभ तथा अशुभ कर्मों का बंध होता है। यदि रागद्वेष का ही सम्बन्ध मेरी आत्मा के साथ न रहेगा तो मेरा शुभ तथा अशुभ कर्म कुछ भी नहीं कर सकते ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता रहता है।

सम्बन्धेऽपि सति त्याज्यौ रागद्वेषौ महात्मभिः।
विना तेनापि ये कुर्युस्ते कुर्युः किं न वातुलाः॥२९॥

अर्थ—सज्जनों को चाहिए कि रागद्वेष के सम्बन्ध होने पर भी वे रागद्वेष का त्याग कर देवें किन्तु जो लोग सम्बन्ध के न होने पर भी रागद्वेष को करते हैं वे मनुष्य समस्त अनिष्टों को पैदा करते हैं।

भावार्थ—रागद्वेष के होते ही अनेक प्रकार के अनिष्ट होते हैं इसलिए सज्जनों को कदापि रागी तथा द्वेषी नहीं बनना चाहिए।

मनोवाक्कायचेष्टाभिस्तद्विधं कर्म जृम्भते।
उपास्यते तदेवैकं तेभ्यो[१] भिन्नं मुमुक्षुभिः॥३०॥

अर्थ—मन, वचन, काय की चेष्टा से, चेष्टानुसार कर्म वृद्धि को प्राप्त होता है इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य पुरुष, मन, वचन, काय से भिन्न एक चैतन्य मात्र आत्मा की ही उपासना करते हैं।

---

१. ताभ्यो

द्वैततो द्वैतमद्वैतादद्वैतं खलु जायते।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नोहेममयं यथा॥३१॥

अर्थ—जिस प्रकार लोह से लोहमय ही पात्र की उत्पत्ति होती है तथा सुवर्ण से सुवर्णमय ही पात्र की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार निश्चय से द्वैत से द्वैत ही होता है तथा अद्वैत से अद्वैत ही होता है।

भावार्थ—कर्म तथा आत्मा के मिलाप का नाम द्वैत है अत: जब तक कर्म तथा आत्मा का मिलाप रहेगा तब तक तो संसारी ही रहेगा किन्तु जिस समय कर्म तथा आत्मा का मिलाप छूट जायेगा तब मुक्त हो जायेगा।

निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम्।
द्वितीयेन कृतं द्वैतं संसृतिर्व्यवहारत:॥३२॥

अर्थ—निश्चयनय से तो एकतारूप जो अद्वैत है वही मोक्ष है और व्यवहार नय से कर्मों का किया हुआ जो द्वैत है वह संसार है।

भावार्थ—जब तक कर्मों का सम्बन्ध रहता है तब तक तो संसार है किन्तु जिस समय कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है उस समय मोक्ष है।

बंधमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मनौ शुभाशुभौ।
इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते॥३३॥

अर्थ—बंध और मोक्ष, राग और द्वेष, कर्म और आत्मा, शुभ और अशुभ इस प्रकार द्वैत से सहित जो बुद्धि है वह असिद्धि है अर्थात् निजानन्द शुद्ध अद्वैत स्वरूप को रोकने वाली है।

उदयोदीरणा सत्ता प्रबन्ध: खलु कर्मण:।
बोधात्मधाम सर्वेभ्यस्तदेवैकं परं परम्॥३४॥

अर्थ—उदय, उदीरणा तथा सत्ता इत्यादि समस्त कर्मों की ही रचना है किन्तु आत्मा इस समस्त रचना से भिन्न है, उत्कृष्ट है तथा केवलज्ञान का धारी है।

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं मह:।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभोभवेत्॥३५॥

अर्थ—काले, पीले, नीले घोड़ा के आकार, हाथी के आकार इत्यादि अनेक विकार सहित बादलों से जिस प्रकार अमूर्तिक आकाश विकृत नहीं होता उसी प्रकार यद्यपि आत्मा के साथ क्रोध आदि कर्मों का सम्बन्ध है तो भी आत्मा विकार रहित ही है।

नामापि हि परं तस्मान्निश्चयात्तदनामकम्।
जन्ममृत्यादि चाशेषं वपुर्धर्मं विदुर्बुधा:॥३६॥

अर्थ—निश्चयनय से आत्मा का कोई नाम नहीं है वह नाम रहित ही है और जो ये जन्म-मरण

आदि धर्म हैं वे शरीर के ही धर्म हैं ऐसा बड़े-बड़े विद्वान् कहते हैं।

बोधेनापि युतिस्तस्य चैतन्यस्य तु कल्पना।
स च तच्च तयोरैक्यं निश्चयेन विभाव्यते॥३७॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान से सहित है यह तो चैतन्यस्वरूप आत्मा में कल्पना ही है क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा और ज्ञान एक ही पदार्थ हैं ऐसा अनुभव गोचर है।

क्रियाकारकसम्बन्धप्रबन्धोज्झितमूर्ति यत्।
एवं ज्योतिस्तदेवैकं शरण्यं मोक्ष काङ्क्षिणाम्॥३८॥

अर्थ—जो चैतन्यरूपी तेज क्रिया और कारक के सम्बन्ध की रचना रहित है वही एक मोक्षाभिलाषी भव्यजीवों का परम शरण है।

भावार्थ—क्रियाकारक के सम्बन्ध से रहित तथा ऐसे चैतन्यस्वरूप तेज की जो भव्यजीव उपासना करते हैं उनको मोक्ष मिलता है। इसलिए भव्य जीवों को ऐसे चैतन्य की ही सदा उपासना करनी चाहिए।

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः॥३९॥

अर्थ—वह चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा ही तो ज्ञान है तथा वही दर्शन है और वही चारित्र है तथा वही तप है किन्तु उस शुद्धात्मा से भिन्न न कोई ज्ञान है तथा न कोई दर्शन है और न कोई चारित्र है तथा न कोई तप ही है इसलिए भव्य जीवों को आत्मा का ही ज्ञान, श्रद्धान, आचरण आदि करना चाहिए।

नमस्यञ्च तदेवैकं तदेवैकञ्च मंगलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्॥४०॥

अर्थ—वही एक चैतन्यस्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है तथा वही मंगलस्वरूप है और वही सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है तथा वही भव्यजीवों का शरण है।

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः॥४१॥

अर्थ—प्रमाद रहित योगीश्वरों का जो चिदानन्द स्वरूप आत्मा का ध्यान है वही तो आचार है, वही आवश्यक क्रिया है, वही स्वाध्याय है किन्तु उससे भिन्न आचार आदि कोई वस्तु नहीं है।

गुणाः शीलानि सर्वाणि धर्मश्चात्यन्तनिर्मलः।
सम्भाव्यते परं ज्योतिस्तदेकमनुतिष्ठतः॥४२॥

अर्थ—जो पुरुष उस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने वाला है वही पुरुष चौरासी लाख

उत्तर गुणों का धारी है तथा वही अठारह हजार शील व्रतों का धारी है और उसी पुरुष के निर्मल धर्म हैं ऐसा निश्चय है।

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम्॥४३॥

अर्थ—समस्त शास्त्ररूपी विस्तीर्ण समुद्र का उत्कृष्ट रत्न यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है अर्थात् इसी रत्न की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है तथा संसार में जितने भी मनोहर पदार्थ हैं उन सब पदार्थों में मनोहर तथा उत्कृष्ट पदार्थ यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है इसलिए भव्य जीवों को इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अच्छी तरह से ध्यान करना चाहिए।

तदेवैकं परं तत्त्वं तदेवैकं परं पदम्।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः॥४४॥

अर्थ—वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक उत्तम तत्त्व है तथा वही एक उत्कृष्ट स्थान है और वही एक भव्य जीवों के आराधन करने योग्य है तथा वही एक अद्वितीय उत्तम तेज है।

शस्त्रं जन्मतरुच्छेदि तदेवैकं सतां मतम्।
योगिनां योगिनिष्ठानां तदेवैकं प्रयोजनम्॥४५॥

अर्थ—और वही चैतन्यस्वरूपी आत्मा जन्मरूपी वृक्ष के नाश करने के लिए शस्त्र के समान है अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा के भलीभाँति ध्यान के करने से सर्व जन्म-मरण आदि नष्ट हो जाते हैं तथा वही आत्मारूपी तेज भव्य जीवों को मान्य है और वही ध्यान योगियों का प्रयोजन है अर्थात् उसी की प्राप्ति के लिए योगी गण सदा प्रयत्न करते रहते हैं।

मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पन्था न चापरः।
आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते॥४६॥

अर्थ—मोक्षाभिलाषियों के लिए चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है आत्मा से अन्य कोई भी मोक्ष मार्ग नहीं है तथा आनंद भी आत्मा में ही है किन्तु उसके सिवाय और कहीं पर भी आनन्द नहीं प्रतीत होता इसलिए भव्य जीवों को इसी का ध्यान करना चाहिए।

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलम्॥४७॥

अर्थ—संसाररूपी प्रबल ताप से निरंतर संतप्त प्राणियों को वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही शांत तथा बर्फ के समान ठंडा, फव्वारा सहित मकान है अर्थात् जिस प्रकार धूप से संतप्त मनुष्यों को फव्वारा सहित शीतल मकान में आराम मिलता है उसी प्रकार संसार के संताप से खिन्न जीवों को इस शांत आत्मा में लीन होने से ही आराम मिलता है इसलिये भव्य जीवों को सदा चैतन्यस्वरूप आत्मा

का ही अनुभव करना चाहिए।

तदेवैकं परं दुर्गमगम्यं कर्मविद्विषाम्।
तदेवैतत्तिरस्कारकारि सारं निजं बलम्॥४८॥

अर्थ—तथा वही चैतन्यस्वरूप आत्मा एक ऐसा किला है कि जिसमें कर्मरूप बैरी कदापि प्रवेश नहीं कर सकते और उन कर्मरूपी शत्रुओं का अपमान करने वाला वही चैतन्यस्वरूप आत्मा एक उत्कृष्ट बल है।

भावार्थ—जो मनुष्य चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करते हैं उनका कर्मरूपी बैरी कुछ नहीं कर सकते इसलिए भव्य जीवों को शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिए।

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि।
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनम्॥४९॥

अर्थ—और वही चैतन्यस्वरूपी तेज प्रबल विद्या है तथा वही स्फुरायमान मंत्र है और समस्त जन्म जरा आदि को नाश करने वाली वही एक परम औषधि है।

अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभरश्रियः।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः॥५०॥

अर्थ—और उसी शुद्धात्मारूपी तेज से अविनाशी तथा अक्षय सुखरूपी उत्तम फल के देने वाले मोक्षरूपी मनोहर वृक्ष की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—जो पुरुष उस शुद्धात्मा का अनुभव, मनन एवं ध्यान करते हैं उनका अक्षय सुख को देने वाली मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है इसलिए भव्य जीवों को सदा उस आत्मा का ही चिंतन करते रहना चाहिए।

तदेवैकं परं विद्धि त्रैलोक्यगृहनायकम्।
येनैकेन विना शङ्के वसदप्येतदुद्वसम्[१]॥५१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो! तीनलोकरूपी घर का स्वामी उसी चैतन्यस्वरूप तेज को तुम समझो क्योंकि मैं ऐसी शंका करता हूँ कि इस एक चैतन्यस्वरूप तेज के बिना यह तीनलोकरूपी घर भी वन के समान है।

भावार्थ—यद्यपि यह लोक जीवाजीवादि छह द्रव्यों से भरा हुआ है तो भी इसमें जानने वाला एक आत्मा ही है और इसके सिवाय समस्त लोक जड़ ही है इसलिए यह आत्मा ही तीनलोकों का राजा है अतः उत्तम फल के चाहने वाले भव्य जीवों को इसी में लीन रहना चाहिए।

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः।
कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम्॥५२॥

१. दुद्वनम्

अर्थ—जो निराकार, निरंजन, शुद्ध, चिद्रूप है सो मैं ही हूँ इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, इस प्रकार की कल्पना से भी वह आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा रहित है।

भावार्थ—जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह मैं ही हूँ इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं इस प्रकार की भी कल्पना उस शुद्धात्मा में नहीं है इसलिए शुद्धात्मा समस्त प्रकार की कल्पनाओं से रहित ही है।

मोक्ष के लिए की हुई इच्छा भी ठीक नहीं ऐसा आचार्य बताते हैं—

स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ता स्पृहयन्ति मुमुक्षवः॥५३॥

अर्थ—मोह के होते ही इच्छा होती है इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि यदि मोक्ष के लिए भी मोह से पैदा हुई इच्छा हो जावे तो वही जब मोक्ष को रोकने वाली हो जाती है तब शान्त तथा मोक्षाभिलाषी मनुष्य अन्य पदार्थों के लिए कैसे इच्छा कर सकते हैं।

ज्ञानी मनुष्य इस बात का विचार करते हैं—

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित्।
सम्बन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः॥५४॥

अर्थ—मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूँ चैतन्य से भिन्न नहीं हूँ और मेरा निश्चयनय से किसी दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध भी नहीं है यह मेरा प्रबल सिद्धान्त है।

शरीरादिबहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितम्।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्तेनिरन्तम्॥५५॥

अर्थ—बाह्य शरीर आदि पदार्थों की चिन्ता छोड़कर, रागद्वेष आदि मलों से रहित तथा निर्मल अपनी आत्मा में ही चित्त को लगाते हैं।

एवं सति यदेवास्ति तदस्तु किमिहापरैः।
आसाद्यात्मन्निदं तत्त्वं शान्तो भव सुखी भव॥५६॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से आत्मा के चिंतन से जो होता है सो हो दूसरे-दूसरे विचारों से क्या प्रयोजन है। इस प्रकार के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होकर अरे आत्मा! तू शान्त हो तथा सुखी हो इस प्रकार ज्ञान अपनी आत्मा को शिक्षा देता रहता है।

अपारजन्मसन्तानपथभ्रान्तिकृतश्रमम्।
तत्त्वामृतमिदं पीत्वा नाशयन्तु मनीषिणः॥५७॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्यपुरुषो! इस कहे हुए चैतन्यामृत का पान करो तथा इस अपार संसार में अनन्त तिर्यञ्च, नरक आदि पर्यायों में भ्रमण करने से जो खेद हुआ है उसको शान्त

करो।

अतिसूक्ष्ममतिस्थूलमेकं चानेकमेव यत्।
स्वसंवेद्यमवेद्यञ्च यदक्षरमनक्षरम् ॥५८॥
अनौपम्यमनिर्देश्यमप्रमेयमनाकुलम् ।
शून्यं पूर्णं च यन्नित्यमनित्यं च प्रचक्ष्यते ॥५९॥
निश्शरीरं निरालम्बं निश्शब्दं निरुपाधि यत्।
चिदात्मकं परंज्योतिरवाङ्[१]मानसगोचरम् ॥६०॥
इत्यत्र गहनेऽत्यन्तदुर्लक्ष्ये परमात्मनि।
उच्यते यत्तदाकाशं प्रत्यालेख्यं विलिख्यते ॥६१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि चैतन्यरूपी तेज अत्यन्त सूक्ष्म भी है और अत्यन्त स्थूल भी है और एक भी है अनेक भी है, स्वसंवेद्य भी है, अवेद्य भी है, अक्षर भी है, अनक्षर भी है, उपमा रहित है, अवक्तव्य है, अप्रमेय है, आकुलता रहित है, शून्य भी है, पूर्ण भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, शरीर सहित है, आश्रय रहित है, शब्दरहित है, उपाधि रहित है तथा चैतन्यस्वरूप परम तेज का धारी है और न उसको वचन से ही कह सकते हैं तथा न उसका मन से चिंतन कर सकते हैं, इस प्रकार यह परमात्मा अगम्य तथा दृष्टि के अगोचर है इसलिए जिस प्रकार अमूर्तिक आकाश पर चित्र लिखना कठिन है उसी प्रकार परमात्मा का वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है।

भावार्थ—इस अमूर्तिक परमात्मा को इन्द्रियों से नहीं देख सकते इसलिए तो वह सूक्ष्म है और केवलदर्शन तथा केवलज्ञान से देखा और जाना जा सकता है इसलिए वह स्थूल भी है तथा सदा अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है और पर पदार्थों से भिन्न है इसलिए शुद्ध निश्चयनय से यह एक भी है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से इसकी अनेक ज्ञान-दर्शन आदि पर्याय मौजूद हैं इसलिए यह अनेक भी है तथा अहम्-अहम् इत्याकारक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के गोचर है अर्थात् अपने से जाना जाता है इसलिए तो स्वसंवेद्य है और इन्द्रियों से यह नहीं जाना जा सकता इसलिए यह अवेद्य भी है तथा व्यवहारनय के वचन से कुछ कहा जाता है इसलिए तो यह अक्षर है किन्तु शुद्ध निश्चयनय से इसको कुछ भी नहीं कह सकते इसलिए यह अनक्षर भी है अथवा ''जिसका नाश न होवे वह अक्षर है'' यदि ऐसा अक्षर शब्द का अर्थ करेंगे तो भी शुद्ध निश्चयनय से तो यह अक्षर ही है क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से इसका कुछ भी नाश नहीं होता तथा व्यवहार नय से यह अनक्षर (विनाशीक) भी है क्योंकि प्रतिसमय इसकी पर्याय पलटती रहतीं हैं और इसकी समानता को धारण करने वाला कोई पदार्थ नहीं है इसलिए यह उपमा रहित भी है तथा इसके वास्तविक स्वरूप को कुछ भी कह नहीं सकते इसलिए यह अवक्तव्य भी है और इसके केवलज्ञानरूपी, गुणों का किसी क्षेत्र आदि के द्वारा परिमाण नहीं किया

१. मनस

जा सकता अर्थात् वह समस्त लोक तथा अलोक का प्रकाश करने वाला है इसलिए यह अप्रमेय भी है और यह अचिंत्य सुख का भण्डार है इसलिए आकुलता रहित भी है तथा यह परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से रहित है इसलिए शून्य भी है और समस्त ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणों से भरा हुआ है इसलिए यह पूर्ण भी है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा इसका विनाश नहीं होता इसलिए यह नित्य भी है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा इसका प्रतिसमय विनाश होता रहता है इसलिए वह अनित्य भी है और इसका कोई शरीर नहीं इसलिए यह शरीर रहित है और इसका कोई आश्रय (आधार) नहीं इसलिए यह आश्रय रहित भी है और यह चेतन है तथा शब्द पुद्‍गल है इसलिए यह शब्द रहित भी है तथा इसके साथ निश्चयनय से किसी प्रकार की कर्मों की उपाधि नहीं लगी हुई है इसलिए यह उपाधि रहित है और यह चैतन्यस्वरूप ज्योति है और इसको वचन से कह नहीं सकते तथा मन से विचार नहीं सकते इसलिए यह वाणी तथा मन के अगोचर भी है इसलिए इस प्रकार के शुद्धात्मा का वर्णन करना अल्पज्ञानियों के लिए कठिन है।

आस्तां तत्र स्थितो यस्तु चिंतामात्रपरिग्रहः।
तस्यात्र जीवितं श्लाघ्यं देवैरपि स पूज्यते॥६२॥

अर्थ—जो पुरुष उस शुद्धात्मा में तिष्ठने वाला है वह तो दूर रहा किन्तु जो पुरुष इस शुद्धात्मा का चिंतन करने वाला है उसका भी जीवन इस संसार में अत्यन्त प्रशंसनीय है तथा उसकी बड़े-बड़े देव आकर पूजा, सेवा आदि करते हैं इसलिए भव्य जीवों को सदा शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिए।

सर्वविद्भिरसंसारैः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः।
एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतम्॥६३॥

अर्थ—समस्त पदार्थों के जानने वाले तथा कर्मों से रहित तथा केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारी केवली भगवान् इस शुद्धात्मा की उपासना करने का उपाय समता ही है ऐसा कहते हैं।

भावार्थ—समस्त पदार्थों में समता रखने से ही इस आत्मा की भलीभाँति आराधना हो सकती है इसलिए आत्मा की उपासना करने वाले भव्य जीवों को समस्त पदार्थों में अवश्य समता रखनी चाहिए।

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः॥६४॥

अर्थ—साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध, शुद्धोपयोग, ये सर्व शब्द एक ही अर्थ के कहने वाले हैं अर्थात् इन शब्दों के नाम जुदे-जुदे हैं किन्तु अर्थ एक ही है।

और भी आचार्यवर साम्य के ही स्वरूप का वर्णन करते हैं—

नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन।
शुद्धचैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते॥६५॥

अर्थ—जिसमें न कोई आकार है और न कोई अक्षर है और न कोई नीला आदि वर्ण है और न जिसमें कोई विकल्प है किन्तु केवल एक चैतन्य ही है वही साम्य है।

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्त्वं परं स्मृतम्।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये॥६६॥

अर्थ—साम्य ही एक उत्कृष्ट कार्य है और साम्य ही एक उत्तम तत्त्व है तथा साम्य ही मुक्ति के लिए समस्त उत्तम उपदेशों में से उपदेश है।

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनो रूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः॥६७॥

अर्थ—इस साम्य से ही भव्य जीवों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा इस साम्य से ही अविनाशी सुख मिलता है और यह साम्य ही शुद्धात्मा का स्वरूप है तथा यह साम्य ही मोक्ष रूपी मकान का द्वार है।

साम्यं निश्शेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः।
साम्यं कर्ममहादावदाहे दावानलायते॥६८॥

अर्थ—समस्त शास्त्रों का सारभूत यह साम्य ही है और यही साम्य समस्त कर्मरूपी वन के जलाने में दावानल के समान है ऐसा गणधर आदि देव कहते हैं।

भावार्थ—शास्त्र के अध्ययन करने से समता की प्राप्ति होती है तथा समता के होने पर समस्त कर्मों का नाश हो जाता है इसलिए भव्य जीवों को साम्य की ओर अवश्य ऋजु होना चाहिए।

साम्यं शरण्यमित्याहुर्योगिनां योगगोचरम्।
उपाधिरचिताशेषदोषक्षपणकारणम् ॥६९॥

अर्थ—और यह साम्य ही समस्त दुखों को दूर करने में समर्थ है तथा ध्यानी पुरुष ही इसका ध्यान करते हैं और यह साम्य ही आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए जो रागादि दोष उनको सर्वथा नष्ट करने वाला है इसलिए भव्य जीवों को सदा साम्य का ही मनन करना चाहिए।

निस्पृहायाणिमाद्यब्जखण्डे साम्यसरोजुषे।
हंसाय शुचये मुक्तिहंसीदत्तदृशे नमः॥७०॥

अर्थ—अणिमा, महिमा आदि रूप जो कमल खण्ड उसकी जिसको अंशमात्र भी इच्छा नहीं है तथा जो समतारूपी सरोवर में सदा प्रीतिपूर्वक रमण करने वाला है और जिसकी दृष्टि मोक्षरूपी हंसिनी में लगी हुई है और जो अत्यन्त पवित्र है ऐसे परमहंस शुद्धात्मा के लिए मेरा नमस्कार हो।

ज्ञानिनोमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।
आमकुम्भस्य लोकेस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा॥७१॥

अर्थ—जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे घड़े के लिए पकाने की विधि एक प्रकार से ताप को ही उपजाने वाली है तो भी वह पाक विधि घड़े को अमृत (जल) का संगम कराने वाली होती है अर्थात् पक जाने पर ही घड़ा पानी भरने के योग्य होता है उसी प्रकार यद्यपि बहिरात्माओं को मृत्यु, दुख को देने वाली है तो भी ज्ञानियों के लिए वह अमृत (मोक्ष) के समागम के ही लिए होती हैं अर्थात् ज्ञानी पुरुष सदा मृत्यु के नाश के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं तथा चैतन्यस्वरूप से भिन्न ही मृत्यु को मानते हैं इसलिए मृत्यु के होने पर भी उनको दुख नहीं होता।

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किञ्चन॥७२॥

अर्थ—जो मनुष्य विवेकी नहीं है उसका मनुष्यपना, उत्तम कुल में जन्म, धन, ज्ञान और कृतज्ञपना होकर भी निष्फल ही है इसलिए मनुष्यों को विवेकी अवश्य होना चाहिए।

विवेक किसको कहते हैं इस बात को आचार्यवर बतलाते हैं—

चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयञ्च कुर्वतः॥७३॥

अर्थ—संसार में चेतन तथा अचेतन दो प्रकार के तत्त्व हैं उनमें ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करने वाले तथा त्याग करने योग्य को त्याग करने वाले पुरुष का जो विचार है उसी को विवेक कहते हैं।

भावार्थ—चैतन्यस्वरूप आत्मा तो ग्रहण करने योग्य है तथा जड़ शरीर आदि त्यागने योग्य हैं ऐसा जो विचार है उसी का नाम विवेक है।

दुःखं किञ्चित्सुखं किञ्चिच्चित्ते भाति जडात्मनः।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं सर्वं दुःखं विवेकिनः॥७४॥

अर्थ—मूर्ख पुरुषों को तो इस संसार में कुछ सुख तथा कुछ दुख मालूम पड़ता है किन्तु जो हिताहित के जानने वाले विवेकी हैं उनको तो इस संसार में सब दुख ही दुख निरन्तर मालूम पड़ता है।

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः।
उपादेयं परंज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्॥७५॥

अर्थ—विवेकी पुरुष को ज्ञानावरणादि कर्मों का तथा उनके कार्यभूत रागादिकों का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए और ज्ञान, दर्शन स्वरूप इस उत्कृष्ट आत्मतेज को ही ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञानी मनुष्य इस बात का विचार करते रहते हैं।

(इन्द्रवज्रा)

यदेव चैतन्यमहं तदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम्॥७६॥

अर्थ–जो चैतन्य है सो मैं ही हूँ और वही चैतन्य पदार्थों को जानता है तथा देखता है और वही एक उत्कृष्ट है और निश्चयनय स्वभाव से मैं तथा चैतन्य अत्यन्त अभिन्न हूँ।

(वसन्ततिलका)

एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चैः श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टामेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम्॥७७॥

अर्थ–यह एकत्वसप्ततिरूपी गंगा नदी अत्यन्त उन्नत ऐसे श्रीपद्मनन्दी नामक हिमालय पर्वत से पैदा हुई है तथा मोक्षपदरूपी समुद्र में जाकर मिली है इसलिए जो भव्य जीव उस नदी में स्नान करते हैं उनके समस्त मल नाश हो जाते हैं और वे अत्यन्त विशुद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ–जो भव्य जीव इस एकत्वसप्तति नामक अधिकार का चिंतन-मनन करते हैं उनके समस्त रागादि दोष दूर हो जाते हैं अतः वे अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त होते हैं इसलिए उत्तम पुरुषों को सदा इसका ध्यान, चिंतन करना चाहिए।

संसारसागरसमुत्तरणैकसेतुमेनं सतां सदुपदेशमुपाश्रितानाम्।
कुर्यात्पदं मललवोऽपि किमन्तरङ्गे सम्यक् समाधिविधिसन्निधिनिस्तरङ्गे॥७८॥

अर्थ–जिन सज्जन पुरुषों ने संसार समुद्र से पार करने में पुल के समान इस उत्तम उपदेश का आश्रय किया है उन सज्जन पुरुषों के उत्तम आत्म ध्यान के करने से क्षोभ रहित अंतरंग में किसी प्रकार का रागादि मल नहीं रह सकता।

भावार्थ–इस एकत्वसप्तति अधिकार के उपदेश से जिन भव्यजीवों का मन अत्यन्त निर्मल हो गया है उन भव्यजीवों के मन में किसी प्रकार का मल प्रवेश नहीं कर सकता।

निर्मलचित्त होकर ज्ञानी ऐसा विचार करता है–

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे भिन्नंभिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत्॥७९॥

अर्थ–यह ज्ञानस्वरूप मेरा आत्मा भिन्न है और उसके पीछे चलने वाला कर्म भी भिन्न है तथा कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से जो कुछ विकार हुआ है वह भी मुझसे भिन्न है और काल, क्षेत्र आदिक जो पदार्थ हैं वे भी मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार अपने-अपने गुण तथा अपनी-अपनी पर्यायों से सहित जितने पर पदार्थ हैं सर्व मुझसे भिन्न ही भिन्न हैं इस प्रकार ज्ञानी सदा विचार करता रहता है।

(वसन्ततिलका)

येऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति सम्भावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वम्।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्तसौख्यं क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धिरूपम्॥८०॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्यजीव उस आत्म तत्त्व का बारंबार अभ्यास करते हैं और कथन करते हैं तथा विचार और अनुभव करते हैं वे भव्यजीव अविनाशी और महान् तथा अनन्तदर्शन, क्षायिकज्ञान और क्षायिकचारित्र आदि नौ केवललब्धि स्वरूप सुख के भण्डार ऐसे मोक्षपद को बात ही बात में पा लेते हैं इसलिए भव्यजीवों के सदा इस आत्मतत्त्व का चिंतन करना चाहिए।

इस प्रकार श्री पद्मनन्दिआचार्य विरचित पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में एकत्वसप्तति नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

५.

यतिभावनाष्टक

(शार्दूलविक्रीडित)

यतिभावना का कथन

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनं
निश्शेषामपि मोहकर्मजनितां[१] हित्वा विकल्पावलिम्[२]।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गताः
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसङ्गोज्झिताः॥१॥

अर्थ—व्रत को ग्रहण कर, तथा निर्मल आत्मा के स्वरूप को जानकर और वन में जाकर तथा मोहकर्म से पैदा हुए समस्त विकल्पों को नष्टकर, समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित जो मुनिगण मनरूपी पवन से नहीं चलायमान ऐसे चैतन्य की एकता में हर्ष सहित हैं अर्थात् अपने आत्मध्यान में लीन हैं और पर्वत के समान निश्चल स्थित हैं वे मुनिगण सदा इस लोक में जयवन्त हैं।

मुनिगण इस प्रकार की भावनाओं का चिंतन करते हैं—

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वसं
तत्संहृत्य गतागतं च मरुतो[३] धैर्यं समाश्रित्य च।
पर्यङ्केन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरी-
मध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम्॥२॥

अर्थ—चित्त की वृत्ति को रोककर तथा इन्द्रियों को उजाड़कर (वश कर) और श्वासोच्छ्वास को रोककर तथा धीरता को धारण कर और पर्यङ्क आसन माड़कर (पालती मारकर) और आनन्दस्वरूप चैतन्य की तरफ दृष्टि लगाकर निर्जन पर्वत की गुफा में बैठकर मैं कब आत्मध्यान करूँगा ?

धूलीधूसरितं विमुक्तवसनं पर्यङ्कमुद्रागतं
शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं तत्त्वोपलम्भे सति।
उत्कीर्णं दृषदीव मां वनभुवि भ्रान्तो मृगाणां गणः
पश्यत्युद्गतविस्मयो यदि तदा मादृग्जनः पुण्यवान्॥३॥

---

१. जनितं, २. बलीम्, ३. मरुतो

अर्थ—निजस्वरूप की प्राप्ति होने पर धूलि से मलिन तथा वस्त्र रहित और पर्यंक मुद्रा सहित तथा शांत और वचन रहित तथा आँखों को बन्द किये हुए मुझे जिस समय वन में भ्रम सहित मृग आश्चर्य से देखेंगे उसी समय मेरे समान मनुष्य पुण्यवान समझा जायेगा।

भावार्थ—जिस समय मैं निर्जन वन में निजस्वरूप में लीन होकर, मौन सहित, दिगम्बर मुद्रा को धारण कर तथा पालथी मारकर और आँखों को बन्द कर धूलि से मलिन होकर तथा क्रोध आदि कषायों से रहित शान्त होकर रहूँगा तथा मृगों का समूह मुझे काष्ठ, पाषाण की मूर्ति जानकर आश्चर्य से देखेगा उसी समय मैं पुण्यवान हूँ ऐसा ज्ञानी सदा भावना करता रहता है।

वासः शून्यमठे क्वचिन्निवसनं नित्यं ककुम्मण्डलं
संतोषो धनमुन्नतं प्रियतमा क्षान्तिस्तपो भोजनम्[१]।
मैत्री सर्वशरीरिभिः सह सदा तत्त्वैकचिन्तासुखं
चेदास्ते न किमस्ति मे शमवतः कार्यं न किञ्चित् परैः॥४॥

अर्थ—यदि किसी शून्यमठ में मेरा निवासस्थान है तथा अविनाशी दिशाओं का समूह वस्त्र है और सन्तोष धन है तथा क्षमारूपी स्त्री है और तपरूपी भोजन है तथा समस्त प्राणियों के साथ मित्रता है और आत्मस्वरूप का चिंतन है तो मेरे सर्व ही वस्तु मौजूद है फिर मुझे दूसरी वस्तुओं से क्या प्रयोजन है ऐसा योगीश्वर सदा विचार करते रहते हैं।

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो
वैराग्यञ्च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य इस संसार में उत्तम कुल में जन्म पाकर तथा निरोग और सुन्दर शरीर को प्राप्त कर और शास्त्र को जानकर वैराग्य को प्राप्त होकर पवित्र तप को करता है वह मनुष्य संसार भर में पुण्यवान समझा जाता है और वही तप करने वाला पुरुष यदि मद रहित होकर ध्यानामृत का आस्वादन करे तो समझना चाहिए कि उस मनुष्य ने सुवर्णमय घर के ऊपर मणिमय कलश की स्थापना की।

भावार्थ—जिस प्रकार संसार में कोई मनुष्य सुवर्णमय मकान बनवाये तो वह अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता है और यदि वही पुरुष उसके ऊपर मणिमयकलश चढ़ावे तो वह और भी अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता है उसी प्रकार उत्तम कुल में जन्म पाकर तथा निरोग और सुन्दर शरीर को प्राप्त होकर और शास्त्र को जानकर तथा वैराग्य को पाकर, जो पुरुष तप करता है वह अधिक प्रतिष्ठित

१. वर्तनम्

समझा जाता है। किन्तु जो ऐसा होकर ध्यान भी करता है वह और भी अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता है इसलिए भव्य जीवों को उपर्युक्त सामग्री के मिलने पर ध्यान अवश्य करना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशान्तात्मनां
मार्गे सञ्चरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति॥६॥

अर्थ—जो योगीश्वर ग्रीष्मऋतु में पहाड़ों के अग्रभाग में स्थित शिला के ऊपर ध्यान रस में लीन होकर रहते हैं तथा वर्षाकाल में वृक्षों के मूल में बैठकर ध्यान करते हैं और शरदऋतु में चौड़े मैदान में बैठकर ध्यान लगाते हैं। उन शास्त्र के अनुसार तप के धारी तथा ध्यान से जिनकी आत्मा शांत हो गई हैं ऐसे योगीश्वरों के मार्ग में गमन करने के लिए मुझे भी कब वह समय मिलेगा।

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो
जायेताद्भुतधामधन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि॥७॥

अर्थ—और स्वपर के भेदज्ञान से जिस समाधि में मन की वृत्ति संकुचित है और जो आश्चर्यकारी है तथा उत्कृष्ट और अचल है ऐसी वह समाधि उन धन्य तथा साम्यभाव के धारक मुनियों के होती है जिस समाधि के होने पर मस्तक पर वज्र गिरने पर भी तथा तीनों लोक के जलने पर भी और निज प्राणों के नष्ट होने पर भी जिन मुनियों के मन को किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

अन्तस्तत्त्वमुपाधिवर्जितमहं व्यापारवाच्यं परं
ज्योतिर्यैः कलितं श्रुतं च यतिभिस्ते सन्तु नः शान्तये।
येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्सम्पदस्तत्सुखं
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलश्रेष्ठार्थसंसाधकम्॥८॥

अर्थ—जिसके साथ किसी प्रकार के कर्म का सम्बन्ध नहीं है तथा जो 'अहम्' इस शब्द से कहा जाता है ऐसे उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप आत्म तत्त्व को जिन मुनीश्वरों ने जान लिया है तथा सुन लिया है और जिन योगीश्वरों के वह निज तत्त्व ही एक रहने का स्थान है और वही सोने का स्थान है तथा वही श्रेष्ठ संपदा है और वही सुख है तथा वही वृत्ति है और वही प्रिय है तथा वही निज तत्त्व जिन मुनियों को मनोवांछित पदार्थों का सिद्ध करने वाला है वे यतीश्वर मुझे शान्ति प्रदान करें।

पापारिक्षयकारि दातृ नृपतिस्वर्गापवर्गश्रियं
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं चिच्चेतनानन्दिभिः।

भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं भव्यस्त्रिसन्ध्यं पठेत्
किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने तस्यात्र पुण्यात्मनः ॥९॥

अर्थ—जो यतिभावनाष्टक समस्त पापरूपी बैरियों का नाश करने वाला है और राजलक्ष्मी तथा स्वर्ग, मोक्ष की लक्ष्मी का देने वाला है तथा जिसकी रचना चैतन्यस्वरूप तत्त्व में आनंद मानने वाले श्रीपद्मनन्दि मुनि ने की है ऐसे यतिभावनाष्टक को जो भव्यजीव भक्ति पूर्वक तीनों काल पढ़ते हैं उन भाग्यशाली भव्य जीवों को संसार में क्या इष्ट पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती ? अर्थात् सर्व इष्ट पदार्थ उनको सुलभ रीति से मिल जाते हैं।

इस प्रकार श्री पद्मनन्दिआचार्य विरचित पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
यतिभावनाष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

६.

उपासक संस्कार

(अनष्टुप्)

आद्यो जिनो नृपःश्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ।
एतदन्योऽन्यसम्बन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥१॥

अर्थ—आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ और श्रेयांस नामक राजा ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्तन में आदिपुरुष है और इस भरत क्षेत्र में इन दोनों के सम्बन्ध से ही धर्म की प्रवृत्ति हुई है।

भावार्थ—चतुर्थकाल के आदि में जिस समय कर्मभूमि की प्रवृत्ति थी उस समय सबसे पहले व्रततीर्थ की प्रवृत्ति श्री आदीश्वर भगवान् ने की है अर्थात् प्रथम ही प्रथम इन्होंने ही तप आदि को धारण किया है तथा उसी काल में दानतीर्थ की प्रवृत्ति श्री श्रेयांस राजा ने की है अर्थात् सबसे पहले श्री आदीश्वर भगवान् को श्रेयांस राजा ने ही दान दिया है इसलिए ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्तानि में आदि पुरुष हैं और इन दोनों के सम्बन्ध से ही इस भरतक्षेत्र में धर्म की स्थिति हुई है।

अब आचार्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्था स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः॥२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं तथा प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है।

रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरोभवः॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते हैं उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और उनके लिए संसार दीर्घतर हो जाता है अर्थात् उनका संसार कभी भी नहीं छूटता।

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिताः॥४॥

अर्थ—और वह रत्नत्रयात्मक धर्म सर्वदेश तथा एकदेश के भेद से दो प्रकार का है उसमें सर्वदेश धर्म का तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एकदेश धर्म का गृहस्थ (श्रावक) पालन करते हैं।

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेन तेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतव:॥५॥

अर्थ—इस कलिकाल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से अर्थात् सर्वदेश तथा एक देश मार्ग से ही प्रवृत्ति है इसलिए उस धर्म के कारण, गृहस्थ भी गिने जाते हैं।

सम्प्रत्यत्र कलौ काले[१] जिनगेहे मुनिस्थिति:।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्॥६॥

अर्थ—और इस काल में श्रावकगण बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाते हैं तथा आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति में सहायक बनते हैं तथा सर्वदेश और एकदेशरूप धर्म की प्रवृत्ति करते हैं और दान देते हैं इसलिए इन सभी का मूल कारण श्रावक ही है अत: श्रावक धर्म भी अत्यन्त उत्कृष्ट है।

षट् आवश्यकर्म

देवपूजा गुरूपास्ति: स्वाध्याय: संयमस्तप:।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥७॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव की पूजा और निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा तथा स्वाध्याय और संयम तथा योग्यतानुसार तप और दान ये छह कर्म श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य हैं।

सामायिक का लक्षण

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥८॥

अर्थ—समस्त प्राणियों में साम्यभाव रखना तथा संयम धारणा करने में अच्छी भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करना इसी का नाम सामायिक व्रत है।

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतस:।
श्रावकेन तत: साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम्॥९॥

अर्थ—जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन हो रहा है उनसे कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता इसलिए सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को सातों व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

सप्त व्यसनों के नाम

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गना: ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुध:॥१०॥

१. जिनगेहो।

अर्थ—जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री ये सात व्यसन संसार में प्रबल पाप हैं इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे इनका सर्वथा त्याग कर देवें।

(अनुष्टुप्)

धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः।
जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता॥११॥

अर्थ—पुरुष धर्म की अभिलाषा करने वाला है यदि उसके भी ये व्यसन होवे तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती अर्थात् वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता इसलिए धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए।

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम्।
आकर्षयन्नृणामेतद् व्यसनं स्वसमृद्धये॥१२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं, उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं इसलिए ऐसा मालूम होता है उन नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिए मनुष्यों को खींचकर नरक में जाने के लिए एक-एक व्यसन को नियुक्त किया है।

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह।
सप्ताङ्गं बलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम्॥१३॥

अर्थ—और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपी बैरी के नाश के लिए पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह सात हैं अंग जिसके ऐसा बलवान् राज्य है।

भावार्थ—जिस प्रकार राजा सप्तांग सेना से शत्रु पर विजय करता है उसी प्रकार यह पापरूप राजा भी सप्तव्यसनरूपी सप्तांग सेना से धर्मरूपी शत्रु को जीतता है इसलिए जो पुरुष धर्म की रक्षा करना चाहते हैं उनको इन सप्त व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

आचार्य छह आवश्यकों की महिमा का वर्णन करते हैं—

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥१४॥

अर्थ—जो भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान् को भक्ति पूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा स्तुति करते हैं वे भव्य जीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य तथा स्तुति के योग्य होते हैं अर्थात् सर्वलोक उनको भक्ति से देखता है तथा उनकी पूजा स्तुति करता है।

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥१५॥

अर्थ—किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्ति पूर्वक

पूजा स्तुति ही करते हैं उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है।

प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः॥१६॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्त्तव्यानि यतो बुधैः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः॥१७॥

अर्थ—भव्य जीवों को प्रातःकाल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए और भक्ति पूर्वक उनकी वंदना स्तुति भी करनी चाहिए और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए इनके पीछे अन्य गृह आदि सम्बन्धी कार्य करने योग्य है क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरूपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है।

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्॥१८॥

अर्थ—जिस केवलज्ञानरूपी लोचन से समस्त पदार्थ हाथ की रेखा के समान प्रकट रीति से देखने में आते है ऐसा ज्ञानरूपी नेत्र निर्ग्रंथ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को भक्ति पूर्वक गुरुओं की सेवा, वंदना आदि करना चाहिए।

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते।
अंधकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे॥१९॥

अर्थ—जो मनुष्य गुरुओं को नहीं मानते हैं और उनकी सेवा, वंदना नहीं करते हैं उन मनुष्यों के लिए सूर्य के उदय होने पर भी अंधकार ही है।

भावार्थ—जो मनुष्य परिग्रह रहित तथा ज्ञान, ध्यान, तप में लीन गुरुओं को नहीं मानते हैं तथा उनकी उपासना, भक्ति आदि नहीं करते हैं उन पुरुषों के अंतरंग में अज्ञानरूपी अंधकार सदा विद्यमान रहता है इसलिए सूर्य के उदय होने पर भी वे अन्धे ही बने रहते हैं। अतः भव्य जीवों को चाहिए कि वे अज्ञानरूप अंधकार के नाश करने के लिए गुरुओं की सेवा करें।

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः सचक्षुषोपीह सम्भाव्यन्ते मनीषिभिः॥२०॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रकट किए हुए शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं उन मनुष्यों को विद्वान् पुरुष नेत्र धारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं ।

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप यथार्थ रीति से शास्त्र से जाना जाता है किन्तु जो मनुष्य शास्त्र को न तो देखते हैं और न बांचते ही हैं वे मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को भी नहीं जानते हैं इसलिए नेत्र सहित होने पर भी वे अंधे ही हैं अतः भव्य जीवों को शास्त्र का स्वाध्याय तथा मनन अवश्य करना

चाहिए।

मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च।
यैरभ्याशे गुरोः शास्त्रं नश्रुतं नावधारितम्॥२१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में रहकर न तो शास्त्र को सुना है तथा हृदय में धारण भी नहीं किया है उनके कान तथा मन नहीं हैं ऐसा प्रायः कर हम मानते हैं।

भावार्थ—कान तथा मन की प्राप्ति का सफलपना शास्त्र के सुनने से और उसके अभिप्राय को मन में धारण करने से होता है किन्तु जिन मनुष्यों ने कान पाकर शास्त्र का श्रवण नहीं किया है तथा मन पाकर उसका अभिप्राय भी नहीं समझा है उन मनुष्यों के कान तथा हृदय का पाना न पाना एक ही है इसलिए विद्वानों को शास्त्र का श्रवण तथा उसका मनन अवश्य करना चाहिए जिससे उनके कान तथा हृदय सफल समझे जावें।

अब आचार्य संयम नामक आवश्यक का कथन करते हैं—

देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्व्रतम्॥२२॥

अर्थ—धर्मात्मा श्रावकों को एक देशव्रत के अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिए जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे।

भावार्थ—जीवों की रक्षा करना और मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना इसका नाम संयम है जब तक यह संयम न किया जायेगा तब तक व्रत कदापि फलीभूत नहीं हो सकते इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि एक देशव्रत के अनुसार श्रावकों को संयम अवश्य पालना चाहिए जिससे उनका व्रत, फल को देने वाला होवे।

त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः॥२३॥

अर्थ—श्रावकों को मद्य, मांस, मधु का तथा पाँच उदुम्बरों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए और सम्यग्दर्शनपूर्वक इन आठों का त्याग ही गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं।

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते॥२४॥

अर्थ—पाँच प्रकार के अणुव्रत तथा तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत ये बारह व्रत गृहस्थों के हैं।

भावार्थ—अहिंसा अणुव्रत, सत्य अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत ये पाँच अणुव्रत और दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डत्याग व्रत ये तीन गुणव्रत तथा

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैय्यावृत्त्य ये चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार इन बारह व्रतों को गृहस्थ पालते हैं।

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः।
वस्त्रपूतं पिवेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम्॥२५॥

अर्थ—अष्टमी-चतुर्दशी को शक्ति के अनुसार उपवास आदि तप तथा छने हुए जल का पान और रात को भोजन का त्याग भी गृहस्थों को अवश्य करना चाहिए।

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माण्यपि नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम्॥२६॥॥

अर्थ-सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसे देश को तथा ऐसे पुरुष को और ऐसे धन को तथा ऐसी क्रिया को कदापि आश्रयण नहीं करते जहाँ पर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतों का खंडन होवे।

भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा।
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित्कालकला बुधैः॥२७॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि श्रावकों को भोगोपभोग परिमाण व्रत सदा करना चाहिए और विद्वानों को एक क्षण भी बिना व्रत के नहीं रहना चाहिए।

रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः।
जन्मान्तरेऽपि यच्छ्रद्धा यथा संवर्धते तराम्॥२८॥

अर्थ—आलस्यरहित होकर भव्य जीवों को उसी रीति से रत्नत्रय का आश्रय करना चाहिए जिससे दूसरे-दूसरे जन्मों में भी उनकी श्रद्धा बढ़ती ही चली जावे।

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः॥२९॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं उन भव्य जीवों को योग्यतानुसार, जो उत्कृष्टस्थान में रहने वाले हैं ऐसे परमेष्ठियों में विनय अवश्य करनी चाहिए तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में और इनके धारण करने वाले महात्माओं में भी अवश्य विनय करना चाहिए।

भावार्थ—जो मनुष्य जिनेन्द्र सिद्धान्त के भक्त हैं तथा धर्मात्मा हैं उनको समवसरण लक्ष्मी से युक्त और चार घातिया कर्मों को नाशकर केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय के धारी, श्रीअर्हन्त परमेष्ठी में तथा समस्त कर्मों को नाशकर लोक के शिखर पर विराजमान और अनन्तज्ञानादि आठ गुणों से सहित सिद्धपरमेष्ठी में तथा दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों को स्वयं आचरण करने वाले और अन्यों को भी आचरण कराने वाले ऐसे आचार्य परमेष्ठी में तथा ग्यारह अंग, चौदह पूर्व के पढ़ने-पढ़ाने के अधिकारी ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी में और रत्नत्रय को धारण कर मोक्ष के अभिलाषी ऐसे साधु

परमेष्ठी में अवश्य विनय करनी चाहिए। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय में तथा उस रत्नत्रय के धारण करने वालों में भी अवश्य विनय करनी चाहिए।

दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति।
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते॥३०॥

अर्थ—विनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप आदि की प्राप्ति होती है इसलिए उस विनय को गणधर आदि महापुरुष मोक्ष का द्वार कहते हैं अतः मोक्ष के अभिलाषी भव्यों को यह विनय अवश्य करनी चाहिए।

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता॥३१॥

अर्थ—धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों में शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिए क्योंकि बिना दान के गृहस्थों का गृहस्थपना निष्फल ही है।

दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्।
पाशा एव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिता॥३२॥

अर्थ—जो पुरुष निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्र इस प्रकार चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं उनके लिए घर, जाल के समान केवल बांधने के लिए ही बनाये गये हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—जिस घर में यतीश्वरों का आवागमन बना रहता है वे घर तथा उन घरों में रहने वाले श्रावक धन्य गिने जाते हैं किन्तु जो मनुष्य यतीश्वरों को दान नहीं देते, जिनके घर में यतीश्वर नहीं आते वे घर नहीं हैं किन्तु मनुष्यों के फाँसने के लिए जाल हैं। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे प्रतिदिन यथायोग्य यतीश्वरों को दान अवश्य दिया करें।

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते।
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः॥३३॥

अर्थ—जिस गृहस्थ के अभयदान, आहारदान, औषधिदान तथा शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को सुख होता है वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसा के योग्य है? अर्थात् उस गृहस्थ की सर्वलोक प्रशंसा करते हैं। इसलिए ऐसा उत्तमदान गृहस्थों को अवश्य देना चाहिए।

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात्।
छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः॥३४॥

अर्थ—समर्थ होकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता वह मूढ़ पुरुष आगामी जन्म में होने वाले अपने सुख को स्वयं नाश करता है।

भावार्थ—जो मनुष्य एक समय भी यतीश्वरों को नवधा भक्ति से दान देता है उसको परभव में नाना प्रकार के स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष समर्थ होकर भी आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता वह स्वर्गादि सुख के बदले नाना प्रकार के नरकों के दुखों को भोगता है। इसलिए समर्थ गृहस्थों को तो अवश्य ही दान देना चाहिए।

दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः।
तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः॥३५॥

अर्थ—जो गृहस्थाश्रम दान से रहित है वह पत्थर की नाव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव में बैठने वाला मनुष्य नियम से संसाररूपी समुद्र में डूबता है।

भावार्थ—जो मनुष्य पाषाण से बनी हुई नाव पर चढ़कर समुद्र को तरना चाहता है वह जिस प्रकार नियम से समुद्र में डूबता है उसी प्रकार जिस गृहस्थाश्रम में यतीश्वरों के लिए दान नहीं दिया जाता उस गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ कदापि संसार को नाशकर मोक्ष नहीं पा सकते इसलिए संसार से तरने की अभिलाषा करने वाले भव्य जीवों को अवश्य ही यतीश्वरों को दान देना चाहिए।

[१]स्वमतस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते।
बहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः॥३६॥

अर्थ—जो मनुष्य साधर्मी सज्जनों में शक्ति के अनुसार प्रीति नहीं करते उन मनुष्यों की आत्मा प्रबल पाप से ढकी हुई है और वे धर्म से पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं हैं। इसलिए भव्य जीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिए।

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतोभवेत्॥३७॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश से, करुणा से पूरित भी जिन मनुष्यों के चित्तों में दया नहीं है उन मनुष्यों के धर्म कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ—समस्त जीवों पर दयाभाव रखना इसी का नाम धर्म है किन्तु जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश से जिन मनुष्यों के चित्त करुणा से भरे हुए हैं ऐसे मनुष्यों के भी अंतरंग में यदि दया नहीं है तो वे मनुष्य, धर्म के पात्र कदापि नहीं हो सकते। इसलिए उत्तम पुरुषों को जीवों पर अवश्य दया करनी चाहिए।

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम्।
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः॥३८॥

अर्थ—धर्मरूपी वृक्ष की जड़ तथा समस्त व्रतों में मुख्य और सर्व संपदाओं का स्थान तथा गुणों का खजाना यह दया है इसलिए विवेकी मनुष्यों को यह दया अवश्य करनी चाहिए।

१. समयस्थेषु

भावार्थ—जिस प्रकार बिना जड़ के वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार बिना दया के धर्म नहीं हो सकता इसलिए यह दया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है तथा समस्त अणुव्रत तथा महाव्रतों में यह मुख्य है क्योंकि बिना दया के पालन किए हुए अणुव्रत तथा महाव्रत सर्व निष्फल हैं और इसी दया से बड़ी-बड़ी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि की संपदाओं की प्राप्ति होती है। इसलिए यह दया संपदाओं का स्थान है और इसी दया से समस्त गुणों की प्राप्ति होती है इसलिए यह दया गुणों का खजाना है। अतः जो मनुष्य हित तथा अहित के जानने वाले हैं उनको ऐसी उत्तम दया प्राणियों में अवश्य करनी चाहिए किन्तु दया से पराङ्मुख कदापि नहीं रहना चाहिए।

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठति मानुषे।
सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव॥३९॥

अर्थ—जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ी सूत्र के आश्रय से रहती हैं उसी प्रकार मनुष्य में समस्त गुण जीवदया के आधार से रहते हैं। इसलिए समस्त गुणों की स्थिति के अभिलाषी भव्य जीवों को यह दया अवश्य करनी चाहिए।

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि।
एकाऽहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः॥४०॥

अर्थ—जितने मुनियों के व्रत तथा श्रावकों के व्रत सर्वज्ञदेव ने कहे हैं वे सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए ही कहे है किन्तु हिंसा का पोषण करने वाला उनमें कोई भी व्रत नहीं कहा गया है। इसलिए व्रती मनुष्यों को समस्त प्राणियों पर दया ही रखनी चाहिए।

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते।
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात्॥४१॥

अर्थ—केवल अन्य प्राणियों को पीड़ा देने से ही पाप की उत्पत्ति नहीं होती कि ''उस जीव को मारूँगा अथवा वह जीव मर जावे तो अच्छा हो'' इत्यादि जीव हिंसा के संकल्पों से जिस समय आत्मा मलिन होता है उस समय भी पाप की उत्पत्ति होती है। इसलिए उत्तम मनुष्यों को जीव हिंसा का संकल्प भी नहीं करना चाहिए।

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम्॥४२॥

अर्थ—उत्तम पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा चिंतन करना चाहिए क्योंकि उन भावनाओं का चिंतन समस्त कर्मों का नाश करने वाला होता है।

आचार्यवर बारह भावनाओं के नाम बताते हैं—

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ॥४३॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः॥४४॥

अर्थ—१.अध्रुव, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचित्व, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभ, १२. धर्म, ये बारह अनुप्रेक्षा जिनेन्द्रदेव ने कही हैं।

अनित्य भावना के स्वरूप का वर्णन

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्।
तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः शोको दुष्कर्मकारणम्॥४५॥

अर्थ—प्राणियों के समस्त शरीर, धन-धान्य आदि पदार्थ विनाशीक हैं। इसलिए उनके नष्ट होने पर जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि उस शोक से केवल खोटे कर्मों का बंध होता है।

अशरण भावना के स्वरूप का वर्णन

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि॥४६॥

अर्थ—जिस मृग के बच्चे का शरीर व्याघ्र ने प्रबल रीति से पकड़ लिया है ऐसे मृग के बच्चे को जिस प्रकार निर्जन वन में कोई बचाने के लिए समर्थ नहीं है उसी प्रकार इस संसार में आपत्ति के आने पर जीव को भी कोई इन्द्र, अहमिन्द्र आदि नहीं बचा सकते। इसलिए भव्य जीवों को सिवाय धर्म के किसी को भी रक्षक नहीं समझना चाहिए।

संसार भावना का स्वरूप

यत्सुखं तत्सुखाभासं यद्दुःखं तत्सदाञ्जसा।
भवे लोक सुखं सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम्॥४७॥

अर्थ—हे जीव संसार में जो सुख मालूम होता है वह सुख नहीं है सुखाभास है अर्थात् सुख के समान मालूम पड़ता है और जो दुख है सो सत्य है किन्तु वास्तविक सुख मोक्ष में ही है इसलिए तुझे मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

एकत्व भावना का स्वरूप

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते॥४८॥

अर्थ—यदि निश्चय रीति से देखा जावे तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन है और न कोई

परजन ही है तथा यह जीव अपने किए हुए कर्म के फल को अकेला ही भोगता है।

अन्यत्व भावना का स्वरूप

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनो:।
भेदो यदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा॥४९॥

अर्थ—शरीर और आत्मा की स्थिति दूध तथा जल के समान मिली हुई है। यदि ये दोनों भी परस्पर में भिन्न हैं तो सर्वथा भिन्न स्त्री, पुत्र आदि तो अवश्य ही भिन्न हैं। इसलिए विद्वानों को शरीर, स्त्री, पुत्र आदि को अपना कदापि नहीं मानना चाहिए।

अशुचित्व भावना का वर्णन

तथाऽशुचिरयं काय: कृमिधातुमलान्वित:।
यथा तस्यैव सम्पर्कादन्यत्राप्यपवित्रता॥५०॥

अर्थ—कीड़ा, धातु, मल-मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके सम्बन्ध से दूसरी वस्तु भी अपवित्र हो जाती है।

भावार्थ—इत्र, चन्दन, वस्त्र-आभूषण आदि यद्यपि अत्यन्त सुगंधित तथा पवित्र पदार्थ हैं तो भी यदि उनका सम्बन्ध एक समय भी इस शरीर से हो जावे तो वे सर्व अपवित्र हो जाते हैं तथा ऐसे अपवित्र हो जाते हैं कि फिर से सज्जन पुरुष उनके स्पर्श करने में भी घृणा करते हैं और विष्टा, मूत्र, कफ आदि अपवित्र वस्तुओं की भी उत्पत्ति इसी शरीर से होती है। इसलिए इस शरीर के समान संसार में कोई भी अपवित्र पदार्थ नहीं है अत: सज्जनों को कदापि इसमें ममत्व नहीं रखना चाहिए। किन्तु इससे होने वाले जो तप आदि उत्तम कार्य हैं उनसे इसको सफल ही करना चाहिए।

आस्त्रवभावना का स्वरूप

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्त्रवति विनाशार्थं कर्माम्भ: [१]प्रचुरं भ्रमात्॥५१॥

अर्थ—इस संसाररूपी समुद्र में जिस समय यह जीवरूपी जहाज मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगरूप छिद्रों से सहित होता है उस समय यह अपने विनाश के लिए अज्ञानता से प्रचुर कर्मरूपी जल को आस्त्रवरूप करता है।

भावार्थ—जिस समय समुद्र में जहाज में छिद्र हो जाते हैं उस समय वह उन छिद्रों से अपने डुबाने के लिए स्वयं जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार यह जीव जिस समय मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणों से संयुक्त होता है उस समय यह अपने विनाश के लिए स्वयं कर्म को ग्रहण करता है। इसलिए भव्य जीवों को इस प्रकार आस्त्रव के स्वरूप को जानकर कर्मों के रोकने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

१. सुचिरं।

संवर का स्वरूप

कर्मास्त्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः॥५२॥

अर्थ—आये हुए कर्मों का जो रुक जाना है वही निश्चय से संवर है तथा मन, वचन, काय का जो संवरण (स्वाधीन) करना है यही संवर का आचरण है।

भावार्थ—जिस समय मन, वचन, काय स्वरूप योग, मिथ्यात्व, कषाय आदि से रहित होकर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा के चिंतन में तथा परीषहों के जीतने में लीन होता है उसी समय संवर होता है। इसलिए संवर की प्राप्ति के अभिलाषियों को मन, वचन, काय को अशुभ प्रवृत्ति से अवश्य रोकना चाहिए।

निर्जरा के स्वरूप का वर्णन

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्।
तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः॥५३॥

अर्थ—पहले संचित हुए कर्मों का जो एकदेशरूप से नाश होना है वही निर्जरा है तथा वह निर्जरा संसार, देह आदि से वैराग्य कराने वाले अनशन, अवमौदर्यादि तप से होती है।

भावार्थ—संसार, शरीर आदि से विरक्त होकर अनशनादि तप से जो पूर्व संचित कर्मों का क्षय करना है उसी का नाम निर्जरा है और उस निर्जरा के उपाय का चिंतन करना निर्जरा भावना है।

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम्॥५४॥

अर्थ—यह समस्त लोक विनाशीक और अनित्य है तथा नाना प्रकार के दुखों का करने वाला है ऐसा विचार कर उत्तम पुरुषों को सदा मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगानी चाहिए।

बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीवदुर्लभा।
लब्धा कथं कथञ्चिच्चेत्कार्यो यत्नो महानिह॥५५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की जो प्राप्ति है उसी का नाम बोधि है और इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है यदि किसी रीति से उसकी प्राप्ति भी हो जावे तो उसकी रक्षा के लिए विद्वानों को प्रबल यत्न करना चाहिए।

भावार्थ—अनन्त जीव ऐसे हैं जो कि अभी निगोद में ही पड़े हुए हैं उन्होंने सिवाय निगोद के दूसरी पर्याय ही नहीं धारण की है। इसलिए प्रथम तो निगोद से निकलना ही अत्यन्त दुःसाध्य है।

दैवयोग से यदि निगोद से निकल भी आवे तो आकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव होते हैं इसलिए त्रस पर्याय पाना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि त्रस पर्याय भी मिल जावे तो पंचेन्द्री होना अत्यन्त कठिन है। यदि पंचेन्द्री भी हो गये तो सैनी (समनस्क) होना दुःसाध्य है, सैनी भी हुए तो मनुष्यभव तथा उच्चकुल पाना कठिन है। यदि वे भी मिल गये तो चिरायु होना तथा धनवान होकर सुखी होना दुःसाध्य है। यदि यह सब सामग्री भी मिल गई तो रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है तथा भाग्य से कई एक पुरुषों को इसकी प्राप्ति भी हो जावे तो वे प्रमाद के वशीभूत होकर इसकी रक्षा नहीं कर सकते। इसलिए इस प्रकार अत्यन्त कठिन इस रत्नत्रय को पाकर भव्य जीवों को कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए तथा भलीभाँति इस रत्नत्रय की रक्षा ही करनी चाहिए इस प्रकार का चिंतन करना दुर्लभानुप्रेक्षा है।

धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन

[1]निजधर्मोयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति॥५६॥

अर्थ—संसार में प्राणियों को ज्ञानानंद स्वरूप निजधर्म का पाना अत्यन्त कठिन है इसलिए यह धर्म ऐसी रीति से ग्रहण करना चाहिए कि मोक्षपर्यंत यह साथ ही बना रहे।

भावार्थ—जिनेन्द्र से कहा हुआ यह आत्म स्वभाव रत्नत्रयस्वरूप तथा उत्तमक्षमादिस्वरूप धर्म ऐसी दृढ़ता से धारण करना चाहिए कि मोक्षपर्यंत यह साथ बना रहे।

दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः॥५७॥

अर्थ—नाना प्रकार के दुखरूपी नक्र मकर से व्याप्त इस संसाररूपी खारी समुद्र से पार करने वाला धर्मरूपी जहाज है ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं। इसलिए संसार से तरने की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को इस धर्मरूपी जहाज का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।

अनुप्रेक्षा इमाःसद्भिः सर्वदा हृदये धृताः।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः॥५८॥

अर्थ—जो सज्जन पुरुष बार-बार इन बारह भावनाओं का चिंतन करते हैं वे उस पुण्य का उपार्जन करते हैं जो पुण्य स्वर्ग तथा मोक्ष का कारण है। इसलिए स्वर्ग, मोक्ष के कारण स्वरूप पुण्य को चाहने वाले भव्य जीवों को सदा इन बारह भावनाओं का चिंतन करना चाहिए।

आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक्।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम्॥५९॥

---

१. जिनधर्मो।

अर्थ—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य, इस प्रकार इन दस धर्मों का भी श्रावकों को शक्ति के अनुसार तथा शास्त्र के अनुसार पालन अवश्य करना चाहिए।

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत्॥६०॥

अर्थ—चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा तो अंतस्तत्त्व (भीतरीतत्त्व) है तथा समस्त प्राणियों में जो दया है वह बाह्य तत्त्व है और इन दोनों तत्त्वों के मिलने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इन दोनों तत्त्वों का भलीभाँति आश्रय करना चाहिए।

ज्ञानी अपनी आत्मा की इस प्रकार भावना करता है—

कर्मेभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम्॥६१॥

अर्थ—कर्मों से तथा कर्मों के कार्यों से सर्वथा भिन्न और चिदानन्द चैतन्यस्वरूप तथा अविनाशी और आनन्द स्वरूप स्थान को देने वाले आत्मा का ज्ञानी को सदा चिंतन करना चाहिए।

भावार्थ—यह आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मों से जुदा है तथा कर्मों के कार्यभूत रागद्वेष आदि से भी जुदा है और चैतन्यस्वरूप है तथा अविनाशी और आनन्द स्वरूप मोक्ष स्थान का देने वाला है ऐसा ज्ञानी पुरुषों को अपनी आत्मा का चिंतन निरंतर करना चाहिए।

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना।
येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मलः॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार श्री पद्मनन्दि आचार्य ने इस उपासक संस्कार की (श्रावकाचार की) रचना की है जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इस श्रावकाचार के अनुसार है उन्हीं को निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—इस उपासकाचार में जिस आचरण का वर्णन किया गया है उस आचरण के अनुकूल जिन मनुष्यों की प्रवृत्ति है उन्हीं मनुष्यों को निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है। इसलिए इस निर्मल धर्म की प्राप्ति के अभिलाषी भव्य जीवों को इसके अनुकूल ही प्रवृत्ति करनी चाहिए।

इस प्रकार श्री पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
उपासक संस्कार (श्रावकाचार) नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥६॥

७.

देशव्रतोद्योतन

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्याभ्यन्तरसङ्गवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः
कृत्वा [१]कर्मचतुष्टयक्षयमगात्सर्वज्ञतां निश्चितम्।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तत्
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥१॥

अर्थ—समस्त बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह को छोड़कर और शुक्लध्यान से चार घातिया कर्मों को नाशकर जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है उसी सर्वज्ञदेव के वचन, धर्म के निरूपण करने में सत्य हैं, किन्तु सर्वज्ञ से अन्य के वचन सत्य नहीं हैं ऐसा भलीभाँति जानकर भी जिस मनुष्य को सर्वज्ञदेव के वचनों में सन्देह है तो समझना चाहिए वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है।

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिप्रीतः शुचौ दर्शने
स श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणभृत्।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतमथैर्मिथ्यापथेप्रस्थितैः ॥२॥

अर्थ—खोटे कर्म के उदय से दुःखित भी जो मनुष्य संतुष्ट होकर इस अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन को धारण करता है वह अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के योग्य समझा जाता है किन्तु जो अत्यन्त आनन्द के देने वाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग से बाह्य है तथा वर्तमान काल में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हैं ऐसे मिथ्यामार्ग में गमन करने वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य यदि बहुत से भी होवे तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं।

भावार्थ—पाप के उदय से दुःखित भी मनुष्य यदि सम्यग्दर्शन का धारक है तो वह अकेला ही प्रशंसा के योग्य है किन्तु जो सम्यग्दर्शन से पराङ्मुख हैं तथा मिथ्यामार्ग में स्थित हैं और सुखी हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि चाहें अनेक भी होवे तो भी प्रशंसा के योग्य नहीं हैं इसलिए भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन

---
१. कर्मचतुष्टयं

के धारण करने में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः।
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥३॥

अर्थ—मोक्षरूपी वृक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है तथा संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है इसलिए मोक्षाभिलाषी उत्तमपुरुषों को सम्यग्दर्शन के पाने पर उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि नरक, तिर्यञ्च आदि नाना प्रकार की योनियों से व्याप्त इस संसार में अनादि काल से भ्रमण करता हुआ और खोटे कर्मों से युक्त यह प्राणी बहुत काल के व्यतीत होने पर भी इस सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है? अर्थात् सम्यग्दर्शन का पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

और भी आचार्य उपदेश देते हैं—

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता[१] कार्यं तपो मोक्षदम्।
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम्॥४॥

अर्थ—अनंत काल के बीत जाने पर इस संसार में बड़ी कठिनता से मनुष्य जन्म के मिलने पर तथा सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर उत्तम पुरुषों को मोक्ष को देने वाला तप अवश्य करना चाहिए। यदि लोक निन्दा से अथवा प्रबल चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से वा असमर्थपने से तप न हो सके तो गृहस्थों के देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय आदि षट्कर्मों के योग्य व्रत तो अवश्य ही करना चाहिए।

भावार्थ—इस संसार में प्रथम तो निगोदादि से निकलना ही अत्यन्त कठिन है दैवयोग से यदि वहाँ से निकल भी आवे तो यहाँ आकर पृथ्वीकायिक तथा जलकायिक आदि एकेन्द्री स्थावर जीव होते हैं त्रस पर्याय नहीं मिलती। यदि वह भी मिल जावे तो उस त्रसपर्याय में मनुष्य पर्याय की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है यदि वह भी मिल जावे तो जीवादि पदार्थों का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन नहीं मिलता यदि वह भी मिल जावे तो मनुष्य उसकी रक्षा करने में बड़ा भारी प्रमाद करता है। इसलिए वह पाया हुआ भी न पाये हुए के समान हो जाता है। अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि बड़े भाग्य से यदि मनुष्य जन्म तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावे तो उत्तम पुरुषों को प्रमाद छोड़कर तप करना चाहिए। यदि लोकनिन्दा अथवा प्रबल चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से वा असमर्थपने से तप न हो सके तो षट्कर्म के योग्य श्रावकों के व्रत तो अवश्य ही धारण करना चाहिए किन्तु पाये हुए मनुष्य जन्म को तथा सम्यग्दर्शन को व्यर्थ नहीं खोना चाहिए।

१. तां।

अब आचार्य श्रावक के व्रतों को बतलाते हैं तथा वे व्रत गृहस्थों को पुण्य के करने वाले होते हैं इस बात को भी आचार्य बतलाते हैं—

दृङ्‌ मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाणुव्रतं
शीलाख्यं च गुणव्रतं त्रयमतः शिक्षाश्चतस्त्रः पराः।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात्पेयं पयः शक्तितः
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम्॥५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणों का पालना तथा अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का धारण करना और दिग्व्रत आदि तीन गुणव्रत तथा देशावकाशिक आदि चार प्रकार के शिक्षाव्रत इस प्रकार इन सात शील व्रतों को पालना और रात में खाद्य, स्वाद्य आदि आहारों का त्याग करना और स्वच्छ कपड़े से छाने हुए जल का पीना तथा शक्ति के अनुकूल मौन आदि व्रतों का धारण, इस प्रकार ये श्रावकों के व्रत हैं तथा भलीभाँति आचरण किए हुए ये श्रावकों के व्रत भव्य जीवों को पुण्य करने वाले होते हैं। इसलिए धर्मात्मा श्रावकों को इन श्रावकों के व्रतों का अवश्य ही ध्यानपूर्वक पालन करना चाहिए।

देशव्रत का धारी श्रावक इस रीति से व्रतों को धारण करता है—

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते[१]।
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं
दानं भोगयुगं प्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती॥६॥

अर्थ—व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के लिए स्थावरकाय के जीवों को मारता है तथा दो इन्द्रिय को आदि लेकर सैनी पचेंद्री पर्यंत समस्त त्रस जीवों की रक्षा करता है और सत्य बोलता है तथा अचौर्यव्रत का पालन करता है और स्वस्त्री का सेवन करता है तथा दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत का पालन करता है और सामायिक, प्रोषधोपवास तथा दान को करता है और भोगोपभोगपरिमाण नामक व्रत को स्वीकार करता है।

यद्यपि गृहस्थ के देवपूजा आदि गुण हैं तो भी उनमें दान सब में उत्तम गुण हैं इस बात को आचार्य बताते हैं—

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्-
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः॥७॥

१. सेव्यते।

अर्थ—यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकों के श्रेष्ठ पुण्य के संचय करने वाले जिनेन्द्रदेव की सेवा तथा पूजन, प्रतिष्ठा आदि प्रतिदिन अनेक उत्तम कार्य होते रहते हैं तथापि उन सब उत्तम कार्यों में संसार समुद्र से पार करने में जहाज के समान श्रेष्ठ मुनि आदि पात्रों को जो दान देना है वह उन धर्मात्मा श्रावकों का सबसे प्रधान गुण (कर्त्तव्य) है। इसलिए भव्य श्रावकों को सदा उत्तम आदि पात्रों का दान देना चाहिए।

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते॥८॥

अर्थ—समस्त जीवों की अभिलाषा सदा यही रहा करती है कि हमको सुख मिले परन्तु यदि अनुभव किया जावे तो वास्तविक सुख मोक्ष में ही है और उस मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय के धारण करने से ही होती है और उस रत्नत्रय की प्राप्ति निर्ग्रन्थ अवस्था में ही होती है और निर्ग्रन्थ अवस्था शरीर के होने पर ही होती है तथा शरीर की स्थिति अन्न से रहती है और वह अन्न धर्मात्मा श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इसलिए इस दुःखमा काल में मोक्ष पदवी की प्रवृत्ति गृहस्थों के दिए हुए दान से ही होती है ऐसा जानकर धर्मात्मा श्रावकों को सदा सत्पात्रों के लिए दान देना चाहिए।

अब आचार्य औषधिदान की महिमा का वर्णन करते हैं—

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण सम्भाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात्॥९॥

अर्थ—इच्छानुसार भोजन, भ्रमण तथा भाषण से शरीर रोग रहित रहता है परन्तु मुनियों के लिए न तो इच्छानुसार भोजन करने की ही आज्ञा है और न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषण की ही आज्ञा है। इसलिए उनका शरीर सदा अशक्त ही बना रहता है किन्तु धर्मात्मा श्रावक गण उत्तम दवा तथा पथ्य और निर्मल जल देकर मुनियों के शरीर को चारित्र के पालन करने के लिए समर्थ बनाते हैं। इसलिए मुनिधर्म की प्रवृत्ति भी उत्तम श्रावकों से ही होती है। अतः आत्मा के हित की अभिलाषा करने वाले भव्य जीवों को अवश्य ही मुनिधर्म की प्रवृत्ति के प्रधान कारण इस गृहस्थ धर्म को धारण करना चाहिए।

ज्ञानदान की महिमा का वर्णन

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धेऽस्मिञ्जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजो जनाः ॥१०॥

अर्थ—सर्वज्ञदेव से कहे हुए शास्त्र का भक्ति पूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है तथा विशाल बुद्धि वाले भव्य जीवों को पढ़ने के लिए जो पुस्तक दी जाती है उसको ज्ञानी पुरुष शास्त्र (ज्ञान) दान कहते हैं तथा भव्यों को इस ज्ञानदान की प्राप्ति के होने पर थोड़े ही भवों में, तीनों लोक के जीवों को उत्सव तथा लक्ष्मी के करने वाले और समस्त लोक के पदार्थों को हाथ की रेखा के समान देखने वाले, केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—जो धर्मात्मा श्रावक शास्त्र का व्याख्यान करते हैं तथा पुस्तक लिखकर तथा लिखवाकर देते हैं और पढ़ना-पढ़ाना इत्यादि ज्ञानदान में प्रवृत्त होते हैं उन श्रावकों को थोड़े ही काल में समस्त लोकालोक को प्रकाश करने वाले केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए अपने हित के चाहने वाले भव्य जीवों को यह उत्तम ज्ञानदान अवश्य ही करना चाहिए।

अभयदान का स्वरूप

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम्।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम्॥११॥

अर्थ—विस्तीर्ण करुणा के धारी भव्य जीवों द्वारा जो समस्त प्राणियों के भय को छुटाकर उनकी रक्षा की जाती है उसको ज्ञानीजन अभयदान कहते हैं तथा उस अभयदान के बिना बाकी के तीनों दान सर्वथा निष्फल हैं अथवा आहार, औषध और शास्त्र इन तीनों दान के देने से क्षुधा के भय का तथा रोग के भय का और मूर्खता के भय का ही नाश होता है। इसलिए एक अभयदान ही समस्त दान में उत्कृष्ट दान है।

भावार्थ—अभय का अर्थ भय का न होना होता है। यदि आहार, औषध तथा शास्त्र दान के देने पर भी क्षुधा, रोग तथा मूर्खता से उत्पन्न होने वाले भयों का नाश होता है तो वे तीनों ही अभय दान के ही आधीन हैं। इसलिए अभयदान ही समस्त दानों में उत्कृष्ट दान है।

चारों दानों का फल

आहारात् सुखितौषधाद-तितरां नीरोगता जायते
शास्त्रात् पात्रनिवेदितात् परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम्।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुन्सोऽभयाद्दानतः
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः॥१२॥

अर्थ—उत्तम आदि पात्रों में आहार दान के देने से तो इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुखों की प्राप्ति होती है तथा औषधदान के देने से परभव में अत्यन्त रूपवान तथा नीरोग शरीर मिलता है और शास्त्रदान के देने से अत्यन्त आश्चर्य को करने वाली विद्वत्ता की प्राप्ति होती है और अभयदान के देने से सुख तथा नीरोगपना आदि समस्त गुणों की प्राप्ति होती है। अन्त में उत्तमोत्तम चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए उत्तमोत्तम सुख, नीरोगता आदि गुणों के अभिलाषी मनुष्यों को अवश्य ही चारों प्रकार का दान देना चाहिए।

दान से ही दान का व्यय किया जाये

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम्।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गतिः ॥१३॥

अर्थ—सैकड़ों पाप सहित कार्यों को करके तथा नाना प्रकार के दुखों को उठा करके और समुद्र, पर्वत, पृथ्वी पर भ्रमण करके बड़े कष्ट से धन का संचय किया जाता है तथा वह धन, पुत्र और अपने जीवन से भी प्यारा होता है। उस धन के खर्च करने का यदि मार्ग है तो यही है कि वह दान के काम में लाया जावे किन्तु इससे भिन्न उस धन के खर्च करने का कोई भी उत्तम मार्ग नहीं। इसलिए सज्जन पुरुषों को चाहिए कि वे दान मार्ग से ही धन का व्यय करें किन्तु दान से अतिरिक्त मार्ग में उस धन का उपयोग न करें।

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
सैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वन्सकृत्।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं न चान्यत्परम्॥१४॥

अर्थ—धनी मनुष्यों का गृहस्थपना दान से ही गुणों का करने वाला होता है और दान से ही दोनों लोकों का प्रकाश करने वाला होता है किन्तु बिना दान के वह गृहस्थपना दोनों लोकों का नाश करने वाला ही है क्योंकि गृहस्थों के सैकड़ों खोटे-खोटे व्यापारों के करने से सदा पाप की उत्पत्ति होती रहती है उस पाप के नाश के लिए तथा चन्द्रमा के समान यश की प्राप्ति के लिए यह एक पात्र दान ही है

दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए अपनी आत्मा के हित को चाहने वाले भव्यों को चाहिए कि वे पात्रदान से ही गृहस्थपने को तथा धन को सफल करें।

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुवं
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम्॥१५॥

अर्थ—जो धन उत्तमादि पात्रों के उपयोग में आता है विद्वान् लोग उसी धन को अच्छा धन समझते हैं तथा वह पात्र में दिया हुआ धन परलोक में सुख का देने वाला होता है और अनन्तगुणा फलता है किन्तु जो धन नाना प्रकार के भोग विलासों में खर्च होता है वह धनवानों का धन सर्वथा नष्ट ही हो गया ऐसा समझना चाहिए क्योंकि गृहस्थों के सर्व सम्पदाओं का प्रधान फल एक दान ही है।

भावार्थ—यों तो धनी गृहस्थों के प्रतिदिन नाना कार्यों में धन खर्च होता रहता है परन्तु जो धन उत्तमादि पात्रदान में खर्च होता है, वास्तव में वही धन उत्तम धन है और उत्तमआदि पात्र के दान में खर्च किया हुआ वह धन, परलोक में नाना प्रकार के सुखों का करने वाला होता है तथा अनन्तगुणा होकर फलता है किन्तु जो धन भोग विलास आदि निकृष्ट कार्यों में खर्च किया जाता है वह धन सर्वथा नष्ट ही हो जाता है तथा परलोक में उससे किसी प्रकार का सुख नहीं मिलता और न वह अनन्तगुणा होकर फलता ही है क्योंकि समस्त सम्पदाओं के होने का प्रधान फल दान ही है इसलिए धर्मात्मा श्रावकों को निरन्तर उत्तम आदि पात्रों में दान करना चाहिए तथा पाये हुए धन को सफल करना चाहिए।

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं—

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निदानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते॥१६॥

अर्थ—भूतकाल में भी बड़े-बड़े राजा पुत्रों को राज्य देकर तथा याचक जनों को धन देकर और समस्त प्राणियों को अभयदान देकर अनशन आदि उत्तम तपों को आचरण कर अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त हुए हैं इसलिए मोक्ष का सबसे प्रथम कारण यह एक दान ही है अर्थात् दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः विद्वानों को चाहिए कि धन तथा जीवन को जल के बबूले के समान अत्यन्त विनाशीक समझकर सर्वदा शक्ति के अनुसार उत्तम आदि पात्रों में दान दिया करें।

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धयः
ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः।

मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम्॥१७॥

अर्थ—अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्य भव को पाकर भी जो मनुष्य मोक्ष के लिए उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते हैं वे मनुष्य मूढ़ बुद्धि हैं और जिस घर में दान नहीं दिया जाता वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है। ऐसा भलीभाँति समझकर अपने धन के अनुसार भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिए क्योंकि यह उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है।

भावार्थ—अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्य भव को पाकर तथा ऊँचा कुल आदि पाकर भव्य जीवों को मोक्ष के लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। यदि मोक्ष के लिए प्रयत्न न हो सके तो शक्ति तथा धन के अनुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि यह दान ही संसार समुद्र से पार करने वाला है किन्तु दान के बिना जीवन को तथा धन को कदापि व्यर्थ नहीं खोना चाहिए।

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्।
सामर्थ्ये सति तद्गृहस्थाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥१८॥

अर्थ—जो मनुष्य समर्थ होने पर भी निरन्तर न तो भगवान् का दर्शन ही करते हैं तथा न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्ति पूर्वक दान ही देते हैं उन मनुष्यों का वह गृहस्थाश्रमरूप स्थान पत्थर की नाव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ इस भयंकर संसाररूपी समुद्र में नियम से डूबते हैं और डूबकर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्य जीव गृहस्थाश्रम को तथा अपने जीवन और धन को पवित्र करना चाहते हैं उनको जिनेन्द्र देव की पूजा, स्तुति आदि कार्य तथा उत्तमादि पात्रों के लिए दान अवश्य ही देना चाहिए।

आचार्य दाता की महिमा का वर्णन करते हैं—

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न सम्भाव्यते
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते॥१९॥

अर्थ—चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष, कामधेनु, पारस पत्थर आदिक पदार्थ संसार में परोपकारी हैं यह बात आज तक सुनी ही है किन्तु किसी ने अभी तक ये साक्षात् उपकार करते हुए देखे नहीं हैं। तथा उन्होंने किसी का उपकार किया है इस बात की भी संभावना नहीं की जाती परन्तु चिन्तामणि रत्न

आदि के कार्य को करने वाला दाता (मनोवांछित दान देने वाला) अवश्य देखने में आता है। इसलिए चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाता ही हैं किन्तु इनसे भिन्न चिंतामणि आदिक कोई पदार्थ नहीं हैं।

यत्र श्रावकलोक एव वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं[१]
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः सम्मताः ॥२०॥

अर्थ—जिस नगर तथा देश में श्रावक लोग रहते हैं वहाँ पर जिन मंदिर होता है और जहाँ पर जिनमंदिर होता है वहाँ पर यतीश्वर निवास करते हैं और जहाँ पर यतीश्वरों का निवास होता है वहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है तथा जहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है वहाँ पर अनादिकाल से संचय किए हुए प्राणियों के पापों का नाश होता है तथा भाविकाल में स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है इसलिए गुणवान मनुष्यों को धर्मात्मा श्रावकों का अवश्य आदर करना चाहिए।

भावार्थ—धर्मात्मा श्रावक ही अपने धन से जिनमन्दिर को बनवाते हैं तथा जिनमन्दिरों में यतीश्वर निवास करते हैं और यतीश्वरों से धर्म की प्रवृत्ति होती है तथा धर्म से पापों का नाश तथा उत्तम स्वर्ग, मोक्ष आदि के सुखों की प्राप्ति होती है। इत्यादि ये समस्त बातें श्रावकों के द्वारा ही होती हैं यदि श्रावक न होवे तो ये बातें कदापि नहीं हो सकतीं इसलिए ऐसे उत्तम श्रावकों का भव्य जीवों को अवश्य आदर सत्कार करना चाहिए।

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्ति सहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम्॥२१॥

अर्थ—इस दुःखमा काल में जिनेन्द्र भगवान् के धर्म के क्षीण होने से तथा आत्मा के ध्यान करने वाले मुनिजनों की विरलता से और गाढ़ मिथ्यात्वरूपी अंधकार के फैल जाने से जो जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा में तथा जिनमन्दिरों में भक्ति सहित थे तथा उनको भक्ति पूर्वक बनवाते थे वे मनुष्य इस समय देखने में नहीं आते हैं किन्तु जो भव्य जीव इस समय भी विधि के अनुसार उन जिनमन्दिर आदि कार्यों को करता है वह सज्जनों का वंद्य ही है अर्थात् समस्त उत्तम पुरुष उसकी निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं।

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य॥२२॥

१. पवर्गाश्रियं

अर्थ—आचार्य कहते हैं जो भव्यजीव इस संसार में भक्ति पूर्वक यदि छोटे से छोटे बिम्ब (कुन्दुक) पत्ते के समान जिनमन्दिर तथा यव (जौ) के समान जिनप्रतिमा को भी बनावे तो उस मनुष्य को भी इतने पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिसको और की तो क्या बात? साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं कर सकती किन्तु जो मनुष्य ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर तथा जिनप्रतिमाओं का बनाने वाला है उसको तो फिर अगम्य पुण्य की ही प्राप्ति होती है।

भावार्थ—बिम्बा के पत्र की ऊँचाई बहुत थोड़ी होती है और यव की भी ऊँचाई बहुत थोड़ी होती है किन्तु आचार्य इस बात का उपदेश देते हैं कि इस कलिकाल पंचमकाल में यदि कोई मनुष्य बिम्बा के पत्ते की ऊँचाई के समान जिनमन्दिर को तथा यव की ऊँचाई के समान ऊँची जिनप्रतिमा को भी बनावे तो उसके पुण्य की स्तुति करने के लिए साक्षात् सरस्वती भी हार मानती हैं किन्तु जो मनुष्य ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरों को बनानेवाला है तथा ऊँची-ऊँची जिनप्रतिमाओं का निर्माण करने वाला है उसका तो पुण्य फिर अगम्य ही समझना चाहिए। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे ऊँची-ऊँची जिनप्रतिमाओं का तथा जिनमन्दिरों का उत्साहपूर्वक इस पंचम काल में अवश्य निर्माण करावें।

(शार्दूलविक्रीडित)

यात्राभि:स्नपनैर्महोत्सवशतै: पूजाभिरुल्लोचकै:
नैवेद्यैर्वलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तौर्यत्रिकैर्जागरै:।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्या:पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये॥२३॥

अर्थ—इस संसार में चैत्यालय के होने पर भव्य जीव यात्रा से कलशाभिषेकों से और सैकड़ों बड़े उत्सवों से और पूजा तथा चाँदनियों से और नैवेद्य से, वलि से तथा ध्वजाओं के आरोपण से, कलशारोहण से और अत्यन्त शब्दों के करने वाले बाजों से तथा घंटा, चँवर, दर्पण आदिक से उन चैत्यालयों की उत्कृष्ट शोभा को बढ़ाकर पुण्य का संचय कर लेते हैं इसलिए भव्य जीवों को चैत्यालय का निर्माण अवश्य ही कराना चाहिए।

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम्।
अत्रागत्य पुन: कुलेऽति महति प्राप्य प्रकृष्टं शुभान्
मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्तत: ॥२४॥

अर्थ—जो षट् आवश्यक पूर्वक अणुव्रत के धारण करने वाले श्रावक हैं वे नियम से स्वर्ग को जाते हैं तथा वहाँ पर महान् ऋद्धि के धारी देव होकर चिरकाल तक निवास करते हैं और पीछे वे इस मृत्युलोक में आकर शुभकर्म के योग से अत्यन्त उत्तम कुल में मनुष्य जन्म को पाकर तथा वैराग्य को धारण कर समस्त बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह का नाशकर सीधे सिद्धालय को पधारते हैं तथा वहाँ

पर अनन्त सुख के भोगने वाले होते हैं। इस प्रकार जब अणुव्रत आदि भी मुक्ति के कारण हैं तो भव्यों को चाहिए कि वे षट् आवश्यक पूर्वक अणुव्रतों को प्रयत्न से धारण करें।

अब आचार्य बताते हैं कि धर्म व मोक्ष ये दो पुरुषार्थ ही उपादेय है

पुन्सोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो सम्मतो
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते॥२५॥

अर्थ—चारों पुरुषार्थों में मनुष्य के लिए अविनाशी तथा उत्तम सुख का भंडार केवल मोक्ष पुरुषार्थ है किन्तु मोक्ष के अतिरिक्त अर्थ, काम आदि पुरुषार्थ विपरीत धर्म के भजने वाले हैं इसलिए वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने योग्य हैं तथा धर्म नामक पुरुषार्थ यदि मोक्ष का कारण होवे तो वह अवश्य ग्रहण करने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नाना प्रकार के भोग विलासों का कारण होवे तो वह भी सर्वथा नहीं मानने योग्य है तथा ऐसे भोगविलास के कारण धर्म पुरुषार्थ को ज्ञानीजन पाप ही कहते हैं।

भावार्थ—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इस प्रकार चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं उन सबमें अविनाशी तथा अनंत सुख का भंडार मोक्ष ही उत्तम पुरुषार्थ है इसलिए विद्वानों को वही ग्रहण करने योग्य है। परन्तु इससे विपरीत अर्थ आदि पुरुषार्थ हैं वे विनाशीक तथा दुख के कारण हैं इसलिए सर्वथा त्यागने योग्य हैं। यदि धर्म नामक पुरुषार्थ मोक्ष का कारण होवे वह तो विद्वानों को सदा ग्रहण करने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नाना प्रकार के भोगों का कारण होवे तो वह पाप ही है इसलिए सर्वथा वह त्याग करने योग्य ही है। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे मोक्ष पुरुषार्थ के लिए तो सर्वथा ही प्रयत्न करें तथा यदि धर्म नामक पुरुषार्थ मोक्ष का साधन होवे तो उसके लिए भी भलीभाँति प्रयत्न करें किन्तु इनसे अतिरिक्त पुरुषार्थों को पाप के कारण समझकर उनके लिए कदापि प्रयत्न न करें।

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः परं
नान्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयाज्जीवः सुखी जायते।
सर्वं तु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत्तद्दुःखमेव स्फुटम्॥२६॥

अर्थ—भव्यजीव अणुव्रत तथा महाव्रत को मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही धारण करते हैं किन्तु उनके धारण करने से उनको अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं है क्योंकि निश्चयनय से जीव को सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही होती है तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो अणुव्रत, महाव्रत आदि व्रत आचरण किए जाते हैं वे सफल समझे जाते हैं किन्तु जो व्रत मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं हैं संसार के ही कारण हैं वे दुख स्वरूप ही हैं यह भलिभाँति स्पष्ट है। इसलिए भव्य जीवों को मोक्ष के लिए ही व्रतों को

धारण करना चाहिए।

देशव्रतोद्योतन नामक अधिकार को समाप्त करते हुए आचार्य इस व्रतोद्योतन नामक अधिकार का फल दिखाते हैं—

यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम्।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम्॥२७॥

अर्थ—जो देशव्रतोद्योतन संसार में भव्य जीवों को इन्द्र, चक्रवर्ती आदि समस्त कल्याणों का देने वाला है और सबसे अंत में अनन्त सुखों का भंडार जो मोक्ष उसका देने वाला है तथा जिसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना आदि अनेक गुण उनसे होता है और जिसकी रचना श्री पद्मनन्दि नामक आचार्य ने ही की है ऐसा वह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इस संसार में जयवंत रहे।

भावार्थ—यह देशव्रतोद्योतन क्रम से इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े कल्याणों की प्राप्ति करा कर अंत में मोक्ष को देता है तथा मनुष्यपना उत्तम कुल आदि अनेक गुणों से ही उसकी प्राप्ति होती है और जिसकी रचना आचार्य श्री पद्मनन्दि ने की है ऐसा यह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इस संसार में जयवंत रहे।

इस प्रकार इस पद्मनन्दि पंचविंशतिका में देशव्रतोद्योतन नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥
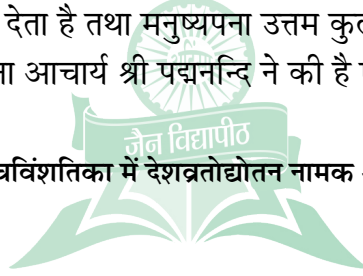
८.

सिद्ध स्तुति

(शार्दूलविक्रीडित)

सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनोऽवधिदृशः पश्यन्ति नो यान् परे
यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं [1]स्वच्छं भमेकं यथा।
सिद्धानामहमप्रमेयमहसां तेषां लघुर्मानुषो
मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महत्या वशः॥१॥

अर्थ—परमाणु पर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को देखने वाले भी अवधि ज्ञानी पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म जिन सिद्धों को नहीं देख सकते हैं तथा जिनकी ज्ञान की महिमा में ये तीनों लोक निर्मल नक्षत्र के समान स्थित मालूम पड़ते हैं और जो अपरिमित तेज के धारी हैं उन सिद्धों की स्तुति को मैं अत्यन्त छोटा मनुष्य तथा अज्ञानी किस प्रकार कर सकता हूँ? अर्थात् मैं उनकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हूँ तो भी प्रबल भक्ति से प्रेरित हुआ मैं उनकी स्तुति करता हूँ।

भावार्थ—जो पदार्थ स्थूल तथा छोटा और परिमित होवे तथा उसका वर्णन करने वाला योग्य होवे तो उस का वर्णन किया जा सकता है किन्तु सिद्ध तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं जिनको परमाणु पर्यंत पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाला अवधिज्ञानी भी नहीं देख सकता है तथा अत्यन्त महान् है क्योंकि यह असंख्यात प्रदेशी भी लोक उनके ज्ञान में एक नक्षत्र के समान झलकता है अर्थात् उनके ज्ञान के कोने में यह तीन लोक समा रहा है और वे अपरिमित तेज के धारी हैं इसलिए अपरिमित भी हैं और मैं अत्यन्त छोटा तथा अज्ञानी मनुष्य हूँ फिर मैं किस प्रकार उनकी स्तुति करने के लिए समर्थ हो सकता हूँ? तो भी मुझे उनकी भक्ति प्रेरणा करती है इसलिए कुछ उनकी स्तुति करता हूँ।

निःशेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वया
देवास्ते ऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यै यतन्ते तराम्।

---

१. क. पुस्तक में खस्तम्भमेकम् यह भी पाठ है तथा उसका आशय यह है कि भगवान् के ज्ञान में यह तीनों लोक आकाश में खड़े हुए स्तंभ के समान मालूम पड़ता है।

सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैः
युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान् नमामो वयम्॥२॥

अर्थ—समस्त प्रकार के देवों के मुकुटों में लगी हुई जो मणि उनसे जिनके चरणों के युग्म पूजित हैं ऐसे उत्कृष्टदेव तीर्थंकर भी जिस उच्चपद-सिद्धपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ऐसे समस्त लोक के शिखर पर विराजमान तथा कलंक रहित अत्यन्त विस्तीर्ण ज्ञान आदि क्षायिक गुणों के धारी सिद्धों को प्रतिदिन हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—समस्त देव आकर तीर्थंकर भगवान् की सेवा, पूजा आदि करते हैं इसलिए यद्यपि संसार में तीर्थंकर भी एक प्रधान पद है तो भी वे तीर्थंकर सदा उस सिद्ध पद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहते हैं तथा जो सिद्ध तीनलोक के शिखर पर विराजमान हैं, निर्दोष, विस्तीर्ण क्षायिक ज्ञान आदि गुणों के धारी हैं ऐसे सिद्धों को सदा हम नमस्कार करते हैं।

ये लोकाग्रविलम्बिनस्तदधिकं धर्मास्तिकायं विना
नो याताः सहजस्थिरामलसद्दृग्बोधसन्मूर्तयः।
संप्राप्ताः कृतकृत्यतामसदृशाः सिद्धा जगन्मङ्गलं
नित्यानन्दसुधारसस्य च सदा पात्राणि ते पान्तु वः॥ ३॥

अर्थ—जो सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं तथा जो धर्मास्तिकाय की सहायता से लोक के अग्रभाग में गये हैं और जिनका स्वरूप स्वाभाविक तथा निश्चल जो निर्मल ज्ञान और दर्शन उससे शोभायमान है और जो कृतकृत्य है और जिनकी उपमा को कोई भी धारण नहीं कर सकता और जो समस्त जगत् का मंगल करने वाले हैं तथा जो अविनाशी आनन्दरूपी अमृत के पात्र हैं ऐसे सिद्ध भगवान् आपकी रक्षा करें अर्थात् ऐसे सिद्ध भगवान् के लिए मेरा सदा नमस्कार है।

ये जित्वा निजकर्मकर्कशरिपून् प्राप्ताः पदं शाश्वतं
येषां जन्मजरामृतिप्रभृतिभिः सीमापि नोल्लंघ्यते।
येष्वैश्वर्यमचिन्त्यमेकमसमज्ञानादिसंयोजितं
ते सन्तु त्रिजगच्छिखाग्रमणयः सिद्धा मम श्रेयसे॥४॥

अर्थ—जो सिद्ध महाराज अपने समस्त कठोर कर्मरूपी बैरियों को जीतकर अविनाशी सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं और जन्म, जरा, मरण आदिक अठारह दोष जिनके पास भी नहीं फटकने पाते तथा जो अनन्तज्ञानादि से किए हुए अचिंत्य ऐश्वर्य के धारी हैं वे तीन जगत् के शिखामणि सिद्ध भगवान् मेरे कल्याण के लिए हों अर्थात् ऐसे सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ।

सिद्धो[१] बोधमिति स बोध उदितो ज्ञेयप्रमाणो भेवद्
ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदत्यात्मेति सर्वस्थितः।

१. शुद्धो।

मूषायां मदनोज्झिते हि जठरे यादृङ् नभस्तादृशः
प्राक्कायात्किमपि प्रहीण इति वा सिद्धः सदानन्दति॥५॥

अर्थ—निष्कलंक वह शुद्धात्मा तो ज्ञान प्रमाण कहा गया है और वह ज्ञान ज्ञेय (पदार्थ) प्रमाण है तथा वे ज्ञेय लोकालोक प्रमाण हैं इसलिए इस युक्ति से तो आत्मा समस्त जगह पर मौजूद है अर्थात् व्यापक है किन्तु मनुष्याकार एक मोम को पुतली बनाकर तथा उसके ऊपर मिट्टी का लेप चढ़ाकर, और उस पुतली को तपाकर मोम निकल जाने के पीछे जो उस मूषा में पुरुषाकार आकाश रह जाता है उसी प्रकार सिद्धावस्था के प्रथम शरीर से कुछ कमती आत्म प्रदेशों के आकाश स्वरूप भी वह शुद्धात्मा है अर्थात् अव्यापक भी है इसलिए व्यापकत्व, अव्यापकत्व ऐसे दोनों धर्मों से संयुक्त सिद्ध परमेष्ठी सदा जयवंत हैं।

भावार्थ—सिद्धों का ज्ञान लोकालोक के पदार्थों का प्रकाश करने वाला है तथा वह ज्ञान आत्मा स्वरूप ही है इसलिए इस ज्ञानगुण की अपेक्षा से सिद्धों की आत्मा व्यापक है किन्तु सिद्धों की आत्मा के प्रदेश चरम शरीर से कुछ कम रहते हैं इसलिए प्रदेशों की अपेक्षा से वह आत्मा चरम शरीर में कुछ कम भी है अतः व्यापक नहीं भी है।

दृग्बोधौ परमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात्
वीर्यं विघ्नविघाततोऽप्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः।
आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रे न गोत्रं विना
सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्दुःखं सुखं चाक्षजम्॥६॥

अर्थ—ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण के नाश हो जाने से तो सिद्धों के अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन हैं और मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उनको अनन्त सुख की प्राप्ति हुई है और वीर्यान्तराय कर्म के नाश हो जाने के कारण उनको अनन्त वीर्य की प्राप्ति हुई है तथा नाम कर्म के अभाव से उनकी कोई मूर्ति नहीं है और आयु कर्म के नाश हो जाने के कारण न उनके जन्म न मरण हैं तथा गोत्र कर्म का नाश हो गया है इसलिए उनको कोई गोत्र भी नहीं है और वेदनीय कर्म के नाश हो जाने के कारण सिद्धों के इन्द्रियजन्य सुख-दुख भी नहीं हैं।

भावार्थ—जब तक आत्मा के साथ ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण का सम्बन्ध रहता है तब तक अनन्तज्ञान तथा अनन्तदर्शन की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु सिद्धों के ज्ञान तथा दर्शन के स्वरूप को सर्वथा ढकने वाले ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण दोनों नष्ट हो गये हैं इसलिए वे अनन्तज्ञान तथा अनन्तदर्शन के धारी हैं। उसी प्रकार जब तक मोहनीय तथा अंतरायकर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहता है तब तक तो अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु सिद्धों के इन दोनों मोहनीय तथा अंतरायकर्म का भी अभाव है इसलिए वे अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य से सहित हैं तथा नामकर्म के उदय से आकार बनता है किन्तु सिद्धों के नामकर्म का अभाव है इसलिए उनकी कोई मूर्ति

आकार भी नहीं है तथा आयुकर्म के नाश से जन्म तथा मरण होता है किन्तु सिद्धों के आयुकर्म का अभाव है इसलिए वे जन्म-मरण से रहित हैं और गोत्रकर्म की कृपा से उच्च गोत्री तथा नीच गोत्री समझे जाते हैं उनके गोत्रकर्म का सर्वथा नाश हो गया है इसलिए उनका कोई गोत्र भी नहीं है और साता तथा असाता वेदनीयकर्म के उदय से इन्द्रियजन्य सुख तथा दुख होता है किन्तु सिद्धों के समस्त प्रकार के वेदनीयकर्म का नाश हो गया है इसलिए वे इन्द्रियजन्य सुख और दुख से रहित हैं।

यैर्दु:खानि समाप्नुवन्ति विधिवज्जानन्ति पश्यन्ति नो
वीर्यं नैव निजं भजन्त्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ।
कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्ते सदा
सिद्धा नित्यचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किम्॥७॥

अर्थ—संसार में जिन कर्मों की कृपा से संसारी जीव नाना प्रकार के दुखों को सहन करते हैं तथा वास्तविक रीति से पदार्थों के स्वरूप को न तो जानते हैं और न देखते ही हैं तथा जिन कर्मों की कृपा से जीव सामर्थ्य को भी नहीं प्राप्त करते हैं उन कर्मों को जिन्होंने दुर्घर्ष ध्यान के द्वारा जड़ से नष्ट कर दिया है वे सिद्ध भगवान् क्या अनन्त विज्ञान आदि अनन्त चतुष्टयरूपी अमृत नदी के स्वामी (समुद्र) अर्थात् अनन्त चतुष्टय के धारी नहीं हैं? अवश्य ही हैं।

भावार्थ—जिन सिद्ध भगवान् ने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि समस्त गुणों को रोकने वाले कर्मों का नाश किया है वे सिद्ध अनन्त चतुष्टय के धारी हैं।

एकाक्षाद्बहुकर्मसंवृतमतेर्द्व्यक्षादिजीवाः सुख-
ज्ञानाधिक्ययुता भवन्ति किमपि क्लेशोपशान्तेरिह।
ये सिद्धास्तु समस्तकर्मविषमध्वान्तप्रबन्धच्युताः
सद्बोधाः सुखिनश्च ते कथमहो न स्युस्त्रिलोकाधिपाः ॥८॥

अर्थ—बहुत कर्मों से छिपा हुआ है ज्ञान जिनका ऐसे एकेन्द्री जीवों की अपेक्षा अब कुछ दुखों की शान्ति से दो इन्द्री आदिक जीव अधिक सुखी तथा अधिक ज्ञानवान हैं तो जो समस्त कर्मरूपी भयंकर अंधकार के सम्बन्ध से रहित है और जो तीनों लोकों के स्वामी हैं ऐसे सिद्ध भगवान् क्यों नहीं सबकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ ज्ञान के धारी तथा अधिक सुखी होंगे।

भावार्थ—जैसा-जैसा ज्ञान अधिक-अधिक बढ़ता जाता है वैसा-वैसा सुख भी अधिक बढ़ता चला जाता है एकेन्द्री से, दो इन्द्री का ज्ञान कुछ अधिक है इसलिए वह एकेन्द्री की अपेक्षा अधिक सुखी है इसी रीति से दो इन्द्री से ते इन्द्री तथा ते इन्द्री से चौ इन्द्री, चौ इन्द्री से पंचेन्द्री अधिक ज्ञानी तथा सुखी हैं तो सिद्धों के समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश हो गया है इसलिए वे तो सर्व जीवों से अधिक ज्ञानी तथा सुखी हैं ही।

यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दु:खप्रदैः प्रग्रहैः
बद्धोऽन्यैश्च नरो रुषा घनतरैरापादमामस्तकम्।

एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः
किं न स्युः सुखिनः सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः॥९॥

अर्थ—कोई मनुष्य किसी मनुष्य को, क्रोध से अत्यन्त दुख के देने वाले तथा कठिन बन्धनों से पैर से लगाकर मस्तक पर्यन्त चारों ओर से बांधे उस बन्धन की यदि एक भी रस्सी ढीली हो जावे तो वह बंधा हुआ भी जीव सुख मानता है फिर जो समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह के बन्धन से रहित हैं ऐसे सिद्ध भगवान् क्यों नहीं सुखी होंगे? अर्थात् अवश्य ही होंगे।

भावार्थ—आचार्यवर, सिद्धों में सुख की अधिकता का वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पैर से लेकर शिर पर्यन्त कठिन बन्धनों से बंधा हुआ है यदि उस बन्धन की एक भी लड़ी ढीली हो जावे तो पैर से शिर तक बंधा हुआ भी वह जीव अपने को सुखी मानता है तब जो सिद्ध भगवान् समस्त प्रकार के बाह्य तथा अभ्यन्तर कर्मों के बन्धनों से रहित हैं वे क्यों नहीं सुखी होंगे? अर्थात् समस्त बन्धनों से रहित होने के कारण वे अनन्त सुख के भण्डार अवश्य ही हैं इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

सर्वज्ञः कुरुते परं तनुभृतः प्राचुर्यतः कर्मणां
रेणूनां गणनं किलाधिवसतामेकं प्रदेशं घनम्।
इत्याशास्वखिलासु बद्धमहसो दुःखं न कस्माद् भवेत्
मुक्त्या यस्य तु सर्वतः किमिति नो जायेत सौख्यं परम् ॥१०॥

अर्थ—आत्मा के एक प्रदेश में सघन रीति से व्याप्त इतने अधिक परमाणु हैं कि उनकी गिनती सर्वज्ञ को छोड़कर दूसरा कोई नहीं कर सकता इस रीति से आत्मा के प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणु के चिपटने के कारण जिस आत्मा का तेज चारों ओर से रुक गया है अर्थात् न जो आत्मा भलीभाँति पदार्थों को जान ही सकता है और न देख ही सकता है ऐसे उस आत्मा को क्यों नहीं दुख होगा? अवश्य ही होगा। किन्तु जिसने समस्त कर्मों को जड़ से उखाड़ दिया है अर्थात् जिसकी आत्मा के प्रदेशों के साथ किसी भी कर्म का बन्धन नहीं है ऐसे सिद्ध भगवान् को तो अनन्त सुख क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा।

सिद्ध ही अत्यन्त तृप्त है इस बात को आचार्य बतलाते हैं—

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुत्तृण्मुखा व्याधयः
तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छान्तये युज्यते।
सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभिः
नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम्॥११॥

अर्थ—जिन जीवों के कर्म के उदय से उत्पन्न हुए क्षुधा-तृषा आदिक रोग हैं उन जीवों को उन रोगों की शान्ति के लिए अन्न, जल आदि का आश्रय करना पड़ता है किन्तु सिद्ध भगवान् के तो कर्म

ही नहीं है तथा कर्मों के अभाव से उनको अन्न, जल आदि का आश्रय भी नहीं करना पड़ता। इसलिए निश्चय से अविनाशी और आत्मा से ही उत्पन्न हुए ऐसे सुखरूपी अमृत समुद्र में मग्न सिद्ध ही अत्यन्त तृप्त है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—संसारी जीवों को कर्म के उदय से नाना प्रकार के क्षुधा-तृषा आदि रोगों का सामना करना पड़ता है तथा क्षुधा-तृषा आदि के होने से उनको, उनकी शान्ति के लिए अन्न, जल आदि का आश्रय करना पड़ता है तथा उस अन्न-जल से ही वे अपने को तृप्त मानते हैं किन्तु वास्तव में उससे तृप्ति नहीं हो सकती क्योंकि फिर वेदना के होने पर उनको पीड़ा होगी तथा उनको जल आदि का आश्रय करना पड़ेगा। किन्तु जिन्होंने समस्त कर्मों का नाश कर दिया है इसलिए जिनको अन्न आदि की भी आवश्यकता नहीं है वे ही तृप्त और सिद्ध हैं। इसलिए समस्त जीवों की अपेक्षा सिद्ध ही अत्यन्त तृप्त हैं।

सिद्धज्योतिरतीवनिर्मलतरज्ञानैकमूर्ति स्फुरद्
वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम्।
सद्बुध्द्याथ विकल्पजालरहितस्तद्रूपतामापतं
तादृग्जायत एव देवविनुतस्त्रैलोक्यचूडामणिः॥१२॥

अर्थ-जिस प्रकार बत्ती स्फुरायमान दीपक के संग से दीपपने को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल जो ज्ञान उस ज्ञानस्वरूप स्फुरायमान है मूर्ति जिसकी ऐसी सिद्ध ज्योति की आराधना करने से मुनिगण भी उस स्थिर सिद्ध पद को प्राप्त हो जाते हैं अथवा समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित होकर जो योगीश्वर श्रेष्ठ बुद्धि से उन सिद्धों के स्वरूप को प्राप्त होकर उनके स्वरूप का ध्यान करता है वह भी समस्त देवों में वंदनीय तथा तीन लोक का चूड़ामणि उन सिद्धों के समान हो जाता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते
नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव यत्।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढां
सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लभ्यते॥१३॥

अर्थ—जो सिद्ध ज्योति सूक्ष्म भी है और महान् भी है, शून्य भी है तथा शून्य नहीं भी है, विनाशीक भी है और नित्य भी है और है भी, नहीं भी है तथा एक भी है, अनेक भी है इस प्रकार अनेक धर्म को लिए हुए है तो भी स्याद्वाद से जिसकी प्रतीति दृढ़ है ऐसी अमूर्तिक तथा ज्ञान, सुख स्वरूप सिद्धों को ज्योति (तेज) को संसार में कोई मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है, सब नहीं।

भावार्थ—सिद्धों की ज्योति सूक्ष्म तो इसलिए है कि वह अमूर्त है इसलिए कोई भी इन्द्रिय उसको प्रत्यक्ष नहीं कर सकती तथा महान् इसलिए है कि समस्त लोकालोक के जानने वाले केवली भगवान्

उसको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा पुद्गलादि परद्रव्य और उनके स्पर्श, रस आदि गुणों से रहित होने के कारण तो शून्य है किन्तु सदा अपने केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों से विराजमान है इसलिए शून्य भी नहीं है तथा यद्यपि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अगुरुलघु गुण के द्वारा प्रतिक्षण वह विनाशीक भी है तो भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा उसमें नाश तथा उत्पाद धर्म नहीं हैं इसलिए वह नित्य भी है तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा से उसका अभाव है तो भी स्वद्रव्य, स्वकाल, स्वक्षेत्र, स्वभाव की अपेक्षा वह मौजूद ही है और अपने स्वरूप को छोड़कर पररूप को प्राप्त नहीं होती। इसलिए यद्यपि वह एकरूप है तो भी ज्ञान से अनेक पदार्थों को प्रत्यक्ष करती है इसलिए अनेक रूप भी है इस प्रकार वह सिद्ध ज्योति अनेक धर्मस्वरूप होने पर भी स्याद्वाद से उसकी प्रतीति दृढ़ है अर्थात् स्याद्वाद सिद्धान्त के आश्रय से उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता तथा अमूर्तिक है और ज्ञानमय तथा सुखमय है और कोई मनुष्य ही उसको प्राप्त कर सकता है, हर एक मनुष्य नहीं।

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो
धौता यस्य मतिः स एव मनुते तत्त्वं विमुक्तात्मनः।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमतेः साक्षादुपादेयतां
भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वं रूपमेकं परम्॥१४॥

अर्थ—जिस पुरुष की बुद्धि स्याद्वादरूपी जल से भरे हुए विस्तीर्ण सागर में स्नान करने से निर्मल हो गई (धुल गई) है अर्थात् जो स्याद्वाद का जानकार है वही मनुष्य सिद्धों के स्वरूप को जानता है तथा वही बुद्धिमान् उन सिद्धों के स्वरूप को साक्षात् रीति से प्राप्त होता है अथवा अपने से किया हुआ जो भेद उसके दूर हो जाने पर अपना जो स्वरूप है वही सिद्धों का स्वरूप है अर्थात् जब तक आत्मा में मेरा-तेरा भेद रहता है तब तक तो आत्मा मलिन ही है किन्तु जिस समय यह भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है उस समय मलिनता रहित होने के कारण अपनी आत्मा का स्वरूप ही सिद्धस्वरूप है। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे स्याद्वाद के स्वरूप को भलीभाँति पहचान कर सिद्धों के स्वरूप को पहचानें।

दृष्टिस्तत्त्वविदः करोत्यविरतं शुद्धात्मरूपे स्थिता
शुद्धं तत्पदमेकमुल्वणमतेरन्यत्र चान्यादृशम्।
स्वर्णात्तन्मयमेव वस्तु घटितं लोहाच्च मुक्त्यर्थिना
मुक्त्वा मोहविजृम्भितं ननु पथा शुद्धेन संचर्यताम् ॥१५॥

अर्थ—जिस प्रकार सोने से बना हुआ पात्र सुवर्ण स्वरूप ही होता है तथा लोह से बना हुआ पात्र लोहस्वरूप ही होता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मस्वरूप में निश्चल रीति से ठहरी हुई तत्त्व ज्ञानी पुरुष की दृष्टि तो निर्मल देदीप्यमान जो एक अविनाशी मोक्षपद उसको प्राप्त कराती है और तत्त्वज्ञान रहित पुरुष की दृष्टि शुद्धात्म स्वरूप से अतिरिक्त स्थान में ठहरने के कारण मोक्ष से भिन्न जो नरक, तिर्यञ्च, निगोद आदि स्थान उन स्थानों को प्राप्त करती है। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि मोक्ष के

अभिलाषी मनुष्यों को मोह के उत्पन्न करने वाले मार्ग को छोड़कर निश्चय से शुद्धमार्ग से ही गमन करना चाहिए।

निर्दोषश्रुतचक्षुषा षडपि हि द्रव्याणि दृष्ट्वा सुधी-
रादत्ते विशदं स्वमन्यमिलितं स्वर्णं यथा धावकः।
यः कश्चित् किल निश्चिनोति रहितः शास्त्रेण तत्त्वं परं
सोऽन्धो रूपनिरूपणं हि कुरुते प्राप्तो मनः शून्यताम् ॥१६॥

अर्थ—जिस प्रकार सुनार अन्य धातुओं से मिले हुए भी सुवर्ण को नेत्रों से जुदा कर लेता है उसी प्रकार विद्वान् पुरुष निष्कलंकशास्त्ररूपी नेत्र से छहों द्रव्यों को भलीभाँति देखकर अन्य द्रव्यों से मिले हुए भी अपने निर्मल आत्मस्वरूप को जुदाकर ग्रहण करते हैं किन्तु जो मनुष्य शास्त्र के बिना देखे ही उत्कृष्ट तत्त्व का निश्चय करते हैं वे मन रहित तथा अंधे होकर रूप को देखना चाहते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—जब तक छद्मस्थ अवस्था रहती है तब तक बिना शास्त्र के सुने तथा देखे कदापि निर्मल स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकते इसलिए आत्मा के निर्मल स्वरूप को देखने के अभिलाषी मनुष्यों को अवश्य शास्त्र को देखना तथा सुनना चाहिए किन्तु जो अज्ञानी पुरुष बिना शास्त्र के सुने, देखे ही उत्कृष्ट स्वरूप को देखना चाहता है वह मनुष्य जिस प्रकार मन रहित तथा अंधा मनुष्य रूप को नहीं देख सकता उसी प्रकार कदापि उत्कृष्ट स्वरूप को नहीं देख सकता है।

यो हेयेतरबोधसंभृतमतिर्मुञ्चन् स हेयं परं
तत्त्वं स्वीकुरुते तदेव कथितं सिद्धत्वबीजं जिनैः।
नान्यो भ्रान्तिगतः स्वतोऽथ परतो हेये परेर्थेऽस्य तद्
दुष्प्रापं शुचि वर्त्म येन परमं तद्धाम संप्राप्यते॥१७॥

अर्थ—जिस मनुष्य को यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार का ज्ञान है वह मनुष्य त्यागने योग्य जो वस्तु है उसको छोड़कर ग्राह्यस्वरूप को ग्रहण करता है और वह ग्राह्यस्वरूप का स्वीकार ही सिद्धपने का कारण है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है तथा जो मनुष्य त्यागने योग्य अपने से भिन्न पदार्थों में अपने आप तथा पर के उपदेश से भ्रान्त (भ्रम सहित) है उस अज्ञानी को अत्यन्त निर्मल मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती और जब निर्मल मार्ग की ही प्राप्ति नहीं हुई तो वह उत्कृष्ट मोक्षस्थान भी, उसको प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस मनुष्य को हेयोपादेय का ज्ञान है वही पुरुष अपने से भिन्न त्यागने योग्य वस्तुओं को त्यागकर तथा निज ज्ञानानन्दस्वरूप को ग्रहण कर क्रम से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है किन्तु जिस पुरुष को हेयोपादेय का ज्ञान नहीं है इसलिए जो अपने से भिन्न सर्वथा त्यागने योग्य वस्तुओं को भी अपनी वस्तु मानता है वह कदापि मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता और उसको मुक्ति का मार्ग

ही नहीं सूझ सकता है। इसलिए मोक्षाभिलाषी पुरुषों को चाहिए कि वे सर्वथा छोड़ने योग्य वस्तुओं को छोड़कर अपने ज्ञानानंदस्वरूप को ही ग्रहण करें।

साङ्गोपाङ्गमपि श्रुतं बहुतरं सिद्धत्वनिष्पत्तये
येऽन्यार्थं परिकल्पयन्ति खलु ते निर्वाणमार्गच्युताः।
मार्गं चिन्तयतोऽन्वयेन तमतिक्रम्यापरेण स्फुटं
निश्शेषंश्रुतमेति तत्र विपुले साक्षाद्विचारे सति॥१८॥

अर्थ—अंग तथा उपांग सहित जितना भी शास्त्र है वह समस्त सिद्धपनेकी प्राप्ति के लिए ही है किन्तु जो अज्ञानी मनुष्य उसको अन्य प्रयोजन के लिए कल्पना करते हैं वे निश्चय से मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग का उनको अंशमात्र भी ज्ञान नहीं है क्योंकि विचारशील होने पर परंपरा से आये हुए द्रव्यश्रुत को छोड़कर यदि वह भावश्रुत से भी मार्ग का चिंतन करे तो भी उनको स्फुट रीति से समस्त शास्त्र की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—चाहे द्रव्यश्रुत हो, चाहे भावश्रुत हो समस्त ही शास्त्रों से सिद्धपने की प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष शास्त्र को अन्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए मानते हैं वे अज्ञानी ही हैं ऐसा समझना चाहिए।

निश्शेषश्रुतसम्पदः शमनिधेराराधनायाः फलं
प्राप्तानां विषये सदैव सुखिनामल्पैव मुक्तात्मनाम्।
उक्ता भक्ति वशान्मयाप्यविदुषा या सापि गीः साम्प्रतं
निःश्रेणिर्भवतादनन्तसुखतद्धामारुरुक्षोर्मम ॥१९॥

अर्थ—जिन्होंने आराधना के फल को प्राप्त कर लिया है तथा जो सदा काल सुखी हैं ऐसे सिद्धों के विषय में जो मुझ अपंडित ने भक्ति के वश से थोड़ी सी वाणी कही है अर्थात् जो कुछ भक्ति पूर्वक उनकी थोड़ी सी स्तुति की है वह थोड़ी सी ही वाणी (स्तुति) समस्त शास्त्ररूपी संपदा के धारी तथा शमी मुझ अनन्त सुखमय मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने की इच्छा करने वाले के लिए निःश्रेणी (सीढ़ी) के समान है।

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यन्तिकं
नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यविचलं मुक्त्यर्थिनां मानसे।
एकीभूतमिदं वसत्यविरतं संसारभारोज्झितं
शान्तं जीवघनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः॥२०॥

अर्थ—यद्यपि जो सिद्धस्वरूप तेज समस्त लोक को देखता है तथा समस्त लोक को जानता है और सब से अंत में होने वाले आत्मीक सुख को प्राप्त है और उत्पाद-व्यय तथा ध्रौव्य से सहित है तो भी मोक्षाभिलाषी मनुष्यों के मन में वह संसार में भार स्वरूप जो जन्म मरणादि उनसे रहित शान्त

तथा ज्ञानस्वरूप और अपने से भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित सदा एकरूप ही विराजमान है।

त्यक्त्वा न्यासनयप्रमाणविवृती: सर्वं पुन: कारकं
सम्बन्धं च तथा त्वमित्यहमिति प्रायान् विकल्पानपि।
सर्वोपाधिविवर्जितात्मनि परं शुद्धैकबोधात्मनि
स्थित्वा सिद्धिमुपाश्रितो विजयते सिद्ध: समृद्धो गुणै: ॥२१॥

भावार्थ—नाम, स्थापना आदि निक्षेपों को छोड़कर तथा नैगम आदि नय को त्यागकर और प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण के व्यापार को छोड़कर और कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों को छोड़कर तथा समस्त सम्बन्ध को, और तू, मैं इत्यादि समस्त विकल्पों को भी छोड़कर जो सिद्ध भगवान् समस्त प्रकार के कर्म आदि उपाधियों से रहित होकर तथा शुद्ध और ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा में लीन होकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं वे समस्त अनन्त विज्ञान आदि गुणों से सदा वृद्धि को प्राप्त, सिद्ध भगवान् सदा इस लोक में विशेष रीति से जयवंत हैं अर्थात् ऐसे सिद्ध भगवान् को मैं हाथ जोड़कर विशिष्ट रीति से नमस्कार करता हूँ।

तैरेव प्रतिपद्यतेऽत्र रमणीस्वर्णादिवस्तु प्रियं
तत्सिद्धैकमह: सदन्तरदृशा मन्दैर्न यैर्दृश्यते।
ये तत्तत्त्वरसप्रभिन्नहृदया-स्तेषामशेषं पुन:
साम्राज्यं तृणवद्वपुश्च परवद्भोगाश्च रोगा इव ॥२२॥

अर्थ—जिन मनुष्यों ने अंतरंग दृष्टि से उस अलौकिक सिद्धस्वरूप तेज को नहीं देखा है उन्हीं मूर्ख मनुष्यों को स्त्री, सुवर्ण आदिक पदार्थ प्रिय मालूम पड़ते हैं किन्तु जिन भव्य जीवों का हृदय उन सिद्धों के स्वरूप रूपी रस से भिद गया है वे भव्य जीव समस्त साम्राज्य को तृण के समान जानते हैं तथा शरीर को पर (बैरी) समझते हैं और उनको भोग, रोग के समान मालूम होते हैं।

भावार्थ–जब तक मनुष्यों को वास्तविक पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता तब तक वे अवास्तविक पदार्थों को भी वास्तविक मानते हैं किन्तु जिस समय उनकी दृष्टि वास्तविक पदार्थों पर पड़ जाती है उस समय वे उस वास्तविक पदार्थ के सामने अवास्तविक पदार्थों को अंशमात्र भी वास्तविक नहीं समझते। मनुष्यों को ग्रहण करने योग्य वास्तविक पदार्थ सिद्धस्वरूप हैं और उससे भिन्न त्याग करने योग्य सब अवास्तविक हैं इसलिए जब तक मनुष्यों की दृष्टि उस सिद्धस्वरूप तेज पर नहीं पड़ती है तब तक वे मनुष्य अवास्तविक स्त्री, पुत्र, सुवर्ण, धन, धान्य आदि को ही वास्तविक प्रिय मानते हैं किन्तु जिस समय उनको सिद्धस्वरूप तेज का अनुभव हो जाता है उस समय वे सिद्धस्वरूप के सामने किसी भी साम्राज्य, शरीर, भोग आदि पदार्थों को उत्तम नहीं मानते और वास्तव में ये उत्तम पदार्थ भी नहीं है इसलिए भव्य जीवों को सिद्धस्वरूप तेज की ओर ही अपनी दृष्टि देनी चाहिए तथा उसी का अनुभव करना चाहिए।

वन्द्यास्ते गुणिन-स्त एव भुवने धन्यास्त एव ध्रुवं
सिद्धानां स्मृतिगोचरं रुचिवशान्नामापि यैर्नीयते।
ये ध्यायान्ति पुनः प्रशस्तमनसस्तान् दुर्गभूभृद्दरी-
मध्यस्थाः स्थिरनासिकाग्रिमदृशस्तेषां किमु ब्रूमहे ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रीतिपूर्वक सिद्धों के नाम का भी स्मरण करते हैं वे मनुष्य भी जब संसार में वंदन योग्य तथा गुणी और धन्य समझे जाते हैं तब जो मनुष्य पवित्र चित्त से किले, पर्वतों की गुफा के मध्य में बैठकर तथा नाक के अग्रभाग में दृष्टि लगाकर उन सिद्धों का ध्यान तथा उनके स्वरूप का मनन चिंतन करते हैं आचार्य कहते हैं उनकी हम क्या कहें? अर्थात् वे उनसे भी अधिक धन्य हैं। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे उन सिद्धों के स्वरूप का भलीभाँति ध्यान करें यदि ध्यान न हो सके तो उनके नाम को अवश्य ही स्मरण करें।

यः सिद्धे परमात्मनि प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणी।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ॥२४॥

अर्थ—विस्तीर्ण ज्ञान ही है एक स्वरूप जिनका ऐसे सिद्धों में जो पुरुष ज्ञानी है अर्थात् सिद्धों के स्वरूप का जो भलीभाँति जानने वाला है वास्तविक रीति से वही समस्त विद्वानों में मुख्य है ऐसा समझना चाहिए और यदि न्यायशास्त्र तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के जानकार भी हुए तथा हृदय से शून्य ही रहे तो उनसे कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि जो वेधने योग्य पदार्थ में निशान को करता है वही बाण कहलाता है।

भावार्थ—जो बाण वेधने योग्य पदार्थों में निशान करता है वही जिस प्रकार बाण कहलाता है अन्य नहीं, उसी प्रकार न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों को भलीभाँति अध्ययन करके जो मनुष्य सिद्धों के स्वरूप का जानकार है वही वास्तविक रीति से विद्वानों में अग्रणी विद्वान् है किन्तु न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों को भलीभाँति पढ़कर जिसने सिद्धों के स्वरूप को नहीं पहचाना वह अंशमात्र भी विद्वान् नहीं। इसलिए भव्यजीवों को चाहिए कि वे न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों को भलीभाँति जानकर सिद्धों के स्वरूप के ज्ञाता बनें।

सिद्धात्मा परमः परं प्रविलसद्बोधः प्रबुद्धात्मना
येनाज्ञायि स किं करोति बहुभिः शास्त्रैर्बहिर्वाचकैः।
यस्य प्रोद्गतरोचिरुज्ज्वलतनुर्भानुः करस्थो भवेत्
ध्वान्तध्वंसविधौ स किं मृगयते रत्नप्रदीपादिकान् ॥२५॥

अर्थ—प्रबुद्ध है आत्मा जिसकी ऐसे जिस भव्य जीव ने देदीप्यमान ज्ञान के धारी तथा सर्वोत्कृष्ट ऐसे सिद्ध भगवान् के स्वरूप को जान लिया है उस भव्य जीव को बाह्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन है?

अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि जिस मनुष्य के हाथ में जिसकी किरण उदित हो रही है ऐसा प्रकाशमान सूर्य मौजूद है वह मनुष्य अंधकार के नाश करने के लिए क्या रत्न तथा प्रदीप आदि पदार्थों का अन्वेषण करता है? कदापि नहीं।

भावार्थ—रत्न तथा प्रदीप आदि पदार्थों की अपेक्षा अंधकार के नाश के लिए ही की जाती है। यदि हाथ में स्थित प्रकाशमान सूर्य से ही अंधकार का नाश हो गया तो फिर जिस प्रकार प्रदीप आदि की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती उसी प्रकार न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन सिद्धस्वरूप के जानने के लिये किया जाता है यदि उस सिद्ध स्वरूप का ज्ञान पहले से ही मौजूद है तो पुनः न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन, बिना प्रयोजन का ही है ऐसा समझना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्र च्युतकर्मबन्धनतया सर्वत्र सद्दर्शनाः
सर्वत्राखिलवस्तुजातविषयव्यासक्तबोधत्विषः।
सर्वत्र स्फुरदुन्नतोन्नतसदानंदात्मका निश्चलाः
सर्वत्रैव निराकुलाः शिवसुखं सिद्धाः प्रयच्छन्तु नः॥२६॥

अर्थ—जिन सिद्धों के समस्त आत्म प्रदेशों से कर्म बंध छूट गया है तथा जिनके समस्त आत्म प्रदेशों में समीचीन दर्शन मौजूद है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के धारी हैं और समस्त पदार्थों के समूह को जानने वाली सम्यग्ज्ञानरूपी किरण जिनके समस्त आत्म प्रदेशों में व्याप्त है तथा जिनके सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट चिदानंद स्वरूप तेज स्फुरायमान है और जो निश्चल तथा निराकुल है ऐसे सिद्ध भगवान् हमारे लिए मोक्षसुख को प्रदान करें।

भावार्थ—जो समस्त कर्मों से रहित हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के धारी हैं और निश्चल तथा समस्त प्रकार की आकुलता से रहित हैं ऐसे सिद्ध भगवान् हमारे लिए मोक्ष रूपी सुख को प्रदान करें अर्थात् ऐसे सिद्धों के हम सेवक हैं।

आत्मोत्तुङ्गगृहं प्रसिद्धबहिराद्यात्मप्रभेदक्षणं
बह्वात्माध्यवसानसंगतलसत्सोपानशोभान्वितम्।
तत्रात्मा विभुरात्मनात्मसुहृदो हस्तावलम्बी समा-
रुह्यानन्दकलत्रसंगतभुवं सिद्धः सदा मोदते॥२७॥

अर्थ—जहाँ पर बहिरात्मा तथा अंतरात्मा के भेद को वास्तविक रीति से देख सकते हैं और जो आत्मा का अध्यवसान (चिंतन) रूप जो मनोहर सीढ़ी उससे शोभायमान है ऐसा यह आत्मारूपी ऊँचा मकान है उस पर चढ़कर आत्मरूपी मित्र का अवलम्बी अर्थात् अपने को स्वयं आप ही आधार तथा चिदानंदस्वरूप स्त्री से सहित प्रभु आत्मा जो सिद्ध है सदा हर्ष संयुक्त निवास करता है।

सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं ते एव दृग्बोधने
सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं तन्मे प्रियं नेतरत्।
इत्यालोच्य दृढं त एव च मया चित्ते धृताः सर्वदा
तद्रूपं परमं प्रयातु मनसा हित्वाभयं भीषणम्॥२८॥

अर्थ—जो सिद्धों की गति है वही तो एक सुगति है तथा जो उनका सुख है वही वास्तविक सुख है और वे सिद्ध ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हैं इसलिए ये तथा इनसे भिन्न और भी जो सिद्धों का स्वरूप है वह समस्त मुझे प्रिय है किन्तु इनसे अतिरिक्त और मुझे कुछ भी प्रिय नहीं है ऐसा मन में दृढ़ श्रद्धान करके मैंने सर्वकाल उन्हीं सिद्धों का ध्यान किया है। इसलिए मन से समस्त भयंकर संसार का भय छूटकर मुझे उत्कृष्ट उन्हीं सिद्धों के स्वरूप की प्राप्ति हो ऐसी आशा सहित हूँ।

ते सिद्धा परमेष्ठिनो न विषया वाचामतस्तान् प्रति
प्रायो वच्मि यदेव तत्खलु नभस्यालेख्यमालिख्यते।
तन्नामापि मुदे स्मृतं तत इतो भक्त्याथ वाचालित-
स्तेषां स्तोत्रमिदं तथापि कृतवानम्भोजनन्दी मुनिः ॥२९॥

अर्थ—इस अधिकार को समाप्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि वे अलौकिक गुण के धारी भगवान् सिद्ध परमेष्ठी वचन के तो विषय ही नहीं हैं इसलिए मैं जो अनेक गुणों का स्तवन अथवा उनके विषय में कुछ वर्णन करना चाहता हूँ वह आकाश में चित्रकारी करता हूँ ऐसा मालूम होता है (अर्थात् जिस प्रकार आकाश में चित्रकारी करना कठिन बात है उसी प्रकार सिद्धपरमेष्ठी के विषय में भक्ति पूर्वक वर्णन करना अत्यन्त कठिन है) तो भी उन सिद्धों का स्मरण किया हुआ नाम भी हर्ष का करने वाला होता है। इस कारण भक्ति से वाचालित होकर मुझ पद्मनन्दि नामक मुनि ने यह उन सिद्धों की स्तुति की है।

भावार्थ—सिद्ध परमेष्ठी दृष्टि के अगोचर अमूर्तिक पदार्थ हैं इसलिए जब वे दृष्टिअगोचर हैं देखने में ही नहीं आते हैं तो वे वचन के अगोचर भी हैं इसलिए उनकी स्तुति तथा उनके विषय में वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है तो भी मेरी जो उन सिद्धों में भक्ति है उसने मुझे वाचालित किया है इसीलिए मैंने यह कुछ उन सिद्धों की स्तुति की है।

इस प्रकार पद्मनन्दी आचार्य विरचित इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
सिद्धस्तुतिरूप अधिकार समाप्त हुआ ॥८॥

९.
आलोचना

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्यानन्दनिधिं भवन्तममलं तत्त्वं मनो गाहते
त्वन्नामस्मृतिलक्षणो यदि महामन्त्रोऽस्त्यनन्तप्रभः।
यानं च त्रितयात्मके यदि भवेन्मार्गे भवद्दर्शिते
को लोकेऽत्र सतामभीष्टविषये विघ्नो जिनेश प्रभो॥१॥

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! सज्जनों का मन अंतरंग तथा बहिरंग मल से रहित होकर तत्त्वस्वरूप तथा वास्तविक आनन्द के निधान आपको अवगाहन (आश्रयण) करता है और यदि उनके मन में आपके नाम का स्मरणरूप अनंतप्रभा का धारी महामंत्र मौजूद है तथा आपसे प्रकट किए हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी मोक्षमार्ग में यदि उनका गमन है तो उन सज्जनों को अभीष्ट की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आ सकता।

भावार्थ—यदि सज्जनों के मन में आपका ध्यान होवे तथा आपका नाम स्मरणरूप महामंत्र मौजूद होवे और यदि वे मोक्षमार्ग में गमन करने वाले होवें तो उनके अभिलषित की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आ सकता।

निस्सङ्गत्वमरागिताथ समता[१] कर्मक्षयो बोधनं
विश्वव्यापि समं दृशा तदतुलानन्देन वीर्येण च।
ईदृग्देव तवैव संसृतिपरित्यागाय जातः क्रमः
शुद्धस्तेन सदा भवच्चरणयोः सेवा सतां सम्मता॥२॥

अर्थ—और भी आचार्य स्तुति करते हैं कि हे जिनेन्द्रदेव! संसार के त्याग के लिए परिग्रह रहितपना तथा रागरहितपना और समता तथा सर्वथा कर्मों का नाश और अनंतदर्शन, अनंत सुख और अनंतवीर्य के साथ समस्त लोकालोक को प्रकाश करने वाला केवलज्ञान ऐसा क्रम आपके ही हुआ था किन्तु आपसे भिन्न किसी देव के यह क्रम नहीं था इसलिए आप ही शुद्ध हैं तथा आपके चरणों की सेवा ही सज्जन पुरुषों को करने योग्य है।

---
१. शमता।

भावार्थ—आपने ही संसार से मुक्त होने के लिए हे भगवन् समस्त परिग्रह का त्याग किया है तथा रागभाव को छोड़ा है और समता को धारण किया है तथा अनन्त विज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख और अनंतदर्शन आपके ही प्रकट हुए हैं इसलिए आप ही शुद्ध तथा सज्जनों की सेवा के पात्र हैं।

यद्येतस्य दृढा मम स्थितिरभूत्त्वत्सेवया निश्चितं
त्रैलोक्येश बलीयसोऽपि हि कुतः संसारशत्रोर्जयम्।
प्राप्तस्यामृतवर्षहर्षजनकं सद्यन्त्रधारागृहं
पुंसः किं कुरुते शुचौ खरतरो मध्याह्नकालातपः॥३॥

अर्थ—हे तीनलोक के ईश यदि मेरे निश्चय से आपकी सेवा में दृढ़पना है तो मुझे अत्यन्त बलवान् भी संसाररूपी बैरी का जीतना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल के वर्षण से हर्ष को करने वाले उत्तम फव्वारा सहित घर को प्राप्त कर लिया है उस पुरुष का जेठ मास की अत्यन्त तीक्ष्ण भी दोपहर की धूप कुछ भी नहीं कर सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार फव्वारा सहित उत्तम घर में बैठे हुए पुरुष का जेठमास की अत्यन्त कठोर भी दोपहर की धूप कुछ नहीं कर सकती उसी प्रकार यदि मैं निश्चय से आपकी सेवा में दृढ़ रीति से स्थित हूँ तो मुझे बलवान् भी संसाररूपी बैरी कुछ भी त्रास नहीं दे सकता।

यः कश्चिन्निपुणो जगत्त्रयगतानर्थानशेषांश्चिरं
सारासारविवेचनैकमनसा मीमांसते निस्तुषम्।
तस्य त्वं परमेक एव भगवन् सारो ह्यसारं परं
सर्वं मे भवदाश्रितस्य महती तेनाभवन्निर्वृतिः॥४॥

अर्थ—यह पदार्थ सार है और यह असार है इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एकचित्त होकर जो कोई बुद्धिमान् मनुष्य तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को बाधारहित गहरी दृष्टि से विचार करता है उस पुरुष की दृष्टि में हे भगवन्! आप ही एक सारभूत पदार्थ हैं और आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असारभूत ही हैं अतः आपके आश्रय से ही मुझे परम संतोष हुआ है।

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं सौख्यं तथात्यन्तिकं
वीर्यं न प्रभुता च निर्मलतरा रूपं स्वकीयं तव।
सम्यग्योगदृशा जिनेश्वर चिरात्तेनोपलब्धे त्वयि
ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥५॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! समस्त लोकालोक को एक साथ जानने वाला तो आपका ज्ञान है और समस्त लोकालोक को एक साथ देखने वाला आपका दर्शन है और आपके अनंत सुख और अनन्त बल हैं तथा प्रभुपना भी आपका अतिशय निर्मल है और शरीर भी आपका देदीप्यमान है इसलिए यदि योगीश्वरों ने समीचीन योगरूपी नेत्र से आपको प्राप्त कर लिया तो क्या उन्होंने न जान लिया? और

क्या उन्होंने न देख लिया? तथा क्या उन्होंने न पा लिया?

भावार्थ—यदि योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टि से अनन्त गुणों के धारी आपको देख लिया तो उन्होंने सब कुछ देख लिया और सब कुछ जान लिया तथा सब कुछ प्राप्त कर लिया।

त्वामेकं त्रिजगत्पतिं परमहं मन्ये जिनं स्वामिनं
त्वामेकं प्रणमामि चेतसि दधे सेवे स्तुवे सर्वदा।
त्वामेकं शरणं गतोऽस्मि बहुना प्रोक्तेन किञ्चिद्भवे-
दित्थं तद्भवतु प्रयोजनमतो नान्येन मे केनचित्॥६॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूँ और आपको ही अष्टकर्मों का जीतने वाला तथा अपना स्वामी मानता हूँ और केवल आपको ही भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ और सदा आपका ही ध्यान करता हूँ तथा आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ और केवल आपको ही मैं अपना शरण मानता हूँ अधिक कहने से क्या? यदि कुछ संसार में प्राप्त होवे तो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसी से भी मेरा प्रयोजन न रहें।

भावार्थ—हे भगवन्! आपसे ही मेरा प्रयोजन रहे, आपसे भिन्न अन्य से मेरा किसी प्रकार का प्रयोजन न रहे यह विनयपूर्वक प्रार्थना है।

पापं कारितवान्यदत्र कृतवानन्यैः कृतं साध्विति
भ्रान्त्याहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च।
काले सम्प्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुन-
स्तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते स्वं निन्दतस्ते पुरः॥७॥

अर्थ—हे जिनेश्वर! भूतकाल में जो पाप मैंने भ्रम से, मन-वचन-काय-के द्वारा दूसरों से कराये हैं तथा स्वयं किए हैं और दूसरों को पाप करते हुए अच्छा कहा है तथा उसमें अपनी सम्मति दी है और वर्तमान में जो पाप मैं मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराता हूँ तथा स्वयं करता हूँ और अन्य को करते हुए भला कहता हूँ और भविष्यत्काल में जो मैं मन-वचन-काय से पाप कराऊँगा तथा स्वयं करूँगा और दूसरे को करते हुए अच्छा मानूँगा वे समस्त पाप आपके सामने अपनी निन्दा करने वाले मेरे सर्वथा मिथ्या हों।

भावार्थ—भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में जिन पापों का मैंने मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से उपार्जन किया है तथा करूँगा और करता हूँ उन समस्त पापों का अनुभव कर हे जिनेश्वर! मैं आपके सामने अपनी निन्दा करता हूँ इसलिए वे समस्त पाप मेरे मिथ्या हों।

लोकालोकमनन्तपर्यययुतं कालत्रयीगोचरं
त्वं जानासि जिनेन्द्र पश्यसि तरां शश्वत्समं सर्वतः।

स्वामिन् वेत्सि ममैकजन्मजनितं दोषं न किञ्चित्कुतो
हेतोस्ते पुरतः स वाच्य इति मे शुद्ध्यर्थमालोचितुम्॥८॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! यदि तुम भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों के गोचर नाना पर्यायों सहित लोक तथा अलोक को चारों ओर से एक साथ जानते हो तथा देखते हो तो हे स्वामिन्! मेरे एक जन्म में होने वाले पापों को क्या तुम नहीं जानते हो? अर्थात् अवश्य ही जानते हो इसलिए अपनी स्वयं निंदा करता हुआ जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूँ सो केवल शुद्धि के लिए ही करता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन्! जब तुम अनंत भेद सहित लोक तथा अलोक को एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो आप मेरे समस्त दोषों को भी भलीभाँति जानते हो, फिर भी जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूँ सो केवल आपके सुनाने के लिए नहीं किन्तु शुद्धि के लिए ही करता हूँ।

आश्रित्य व्यवहारमार्गमथ वा मूलोत्तराख्यान् गुणान्
साधोर्धारयतो मम स्मृतिपथप्रस्थायि यद्दूषणम्।
शुद्ध्यर्थं तदपि प्रभो तव पुरः सज्जोऽहमालोचितुं
निःशल्यं हृदयं विधेयमजडैर्भव्यैर्यतः सर्वथा॥९॥

अर्थ—व्यवहारनय को आश्रय करके और मूलगुण तथा उत्तरगुणों को धारण करने वाले मुझ मुनि को जिस दूषण का भलीभाँति स्मरण है उस दूषण की शुद्धि के अर्थ आलोचना करने के लिए हे प्रभो जिनेन्द्र! मैं आपके सामने सावधानी से बैठा हुआ हूँ क्योंकि ज्ञानवान् भव्य जीवों को सदा अपना मन माया-मिथ्या-निदान इन तीनों शल्यों से रहित ही रखना चाहिए।

सर्वोप्यत्र मुहुर्मुहुर्जिनपते लोकैरसंख्यैर्मित-
व्यक्ताव्यक्तविकल्पजालकलितः प्राणी भवेत्संसृतौ।
तत्तावद्भिरयं सदैव निचितो दोषैर्विकल्पानुगैः
प्रायश्चित्तमियत्कुतः श्रुतगतं शुद्धिर्भवत्सन्निधेः॥१०॥

अर्थ—हे भगवन्! इस संसार में समस्त जीव बारंबार असंख्यात लोक प्रमाण प्रकट तथा अप्रकट नाना प्रकार के विकल्पों से सहित हैं और जितने विकल्पों से सहित ये जीव हैं उतने ही नाना प्रकार के दुखों से सहित भी हैं किन्तु जितने विकल्प हैं उतने प्रायश्चित शास्त्र में नहीं हैं इसलिये उन समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों की शुद्धि आपके पास में ही होती है।

भावार्थ—यद्यपि दूषणों की शुद्धि प्रायश्चित के करने से भी होती है किन्तु हे भगवन्! जितने दूषण हैं उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं कहे गये हैं इसलिए समस्त दूषणों की शुद्धि आपके समीप में ही होती हैं।

भावान्तःकरणेन्द्रियाणि विधिवत्संहृत्य बाह्याश्रया-
देकीकृत्य पुनस्त्वया सह शुचिज्ज्ञानैकसन्मूर्तिना।
निःसङ्गः श्रुतसारसंगतमतिः शान्तो रहः प्राप्तवान्
यस्त्वां देव समीक्षते स लभते धन्यो भवत्सन्निधिम् ॥११॥

अर्थ—हे भगवन्! समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित और समस्त शास्त्रों का जानने वाला तथा क्रोधादि कषायों से रहित और एकान्तवासी जो भव्यजीव समस्त बाह्य पदार्थों से मन तथा इन्द्रियों को हटाकर तथा अखंड और निर्मल सम्यग्ज्ञानरूपी मूर्ति के धारी आपमें स्थिर कर आपको देखता है वह मनुष्य आपकी समीपता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब तक मन तथा इन्द्रिय का व्यापार बाह्य पदार्थों में लगा रहता है तब तक कोई भी मनुष्य आपके स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु जो मनुष्य मन तथा इन्द्रियों को बाह्य पदार्थ से हटा लेता है वही वास्तविक रीति से शास्त्रों का भलीभाँति ज्ञानी होकर और शान्त तथा एकान्तवासी होकर मन तथा इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों से हटाकर तथा आपके स्वरूप में मन लगाकर आपको देख लिया है उसी मनुष्य ने आपके समीपपने को प्राप्त किया है ऐसा भलीभाँति निश्चित है।

त्वामासाद्य पुराकृतेन महता पुण्येन पूज्यं प्रभुं
ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं तल्लभ्यते निश्चितम्।
अर्हन्नाथ परं करोमि किमहं चेतो भवत्सन्निधा-
वद्यापि ध्रियमाणमप्यतितरामेतद्बहिर्धावति॥१२॥

अर्थ—पूर्वभव में कष्ट से संचय किए हुए बड़े भारी पुण्य से जिस मनुष्य ने हे भगवन्! तीन लोक के पूजनीक आपको पा लिया है उस मनुष्य को उस उत्तमपद की प्राप्ति होती है जिसको निश्चय से ब्रह्मा-विष्णु आदि भी नहीं पा सकते परन्तु हे अर्हज्जिनेन्द्र तथा हे नाथ! मैं क्या करूँ? आपके समीप में लगाया हुआ भी मेरा चित्त प्रबल रीति से बाह्य पदार्थों की ओर ही दौड़ता है।

भावार्थ—सहसा यदि कोई मनुष्य चाहे कि मैं आपको प्राप्त कर लूँ वह स्वप्न में भी नहीं कर सकता किन्तु पूर्व में संचय किए हुए बड़े भारी पुण्य से ही आपकी प्राप्ति होती है इसलिए हे भगवन्! जिस मनुष्य ने आपको प्राप्त कर लिया है उस मनुष्य को उस उत्तम पद की प्राप्ति होती है जिस पद को ब्रह्मा-विष्णु आदि के भक्तों की तो क्या बात? स्वयं ब्रह्मा-विष्णु भी प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु हे जिनेन्द्र! इन समस्त बातों को जानता हुआ भी मेरा चित्त आपके समीप में लगाया हुआ भी बाह्य पदार्थों में दौड़-दौड़ कर जाता है। यह बड़ा खेद है।

संसारो बहुदुःखदः सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते
त्यक्त्वार्थादि तपोवनं वयमितास्तत्रोज्झितः संशयः।

एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेर्नाद्यापि सिद्धिर्यतो
वातालीतरलीकृतं दलमिव भ्राम्यत्यदो मानसम्॥१३॥

अर्थ—हे जिनेश! यह संसार तो नाना प्रकार के दुखों को देने वाला है और अवास्तविक सुख का स्थान है अथवा वास्तविक सुख का देने वाला मोक्ष है इसलिए उसी मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमने समस्त धन-धान्य आदि परिग्रहों का त्याग किया और हम तपोवन को भी प्राप्त हुए तथा हमने समस्त प्रकार का संशय भी छोड़ दिया तथा अत्यन्त कठिन व्रत भी धारण किए किन्तु अभी तक उन कठिन व्रतों के धारण करने से भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि पवन के समूह से कंपाये हुये पत्ते के समान यह हमारा मन रातदिन बाह्य पदार्थों में भ्रमण करता रहता है॥१३॥

झम्पाः कुर्वदितस्ततः परिलसद्बाह्यार्थलाभाद्धद-
न्नित्यं व्याकुलतां परां गतवतः कार्यं विनाप्यात्मनः।
ग्रामं वासयदिन्द्रियं भवकृतो दूरं सुहृत् कर्मणः
क्षेमं तावदिहास्ति कुत्र यमिनो यावन्मनो जीवति॥१४॥

अर्थ—हे भगवन्! जो मन बाह्य पदार्थों को मनोहर मानकर उनकी प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ भटकता है और जो ज्ञानस्वरूप भी आत्मा को बिना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गाँव को बसाने वाला है अर्थात् इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों की विषयों में स्थिति होती है और जो संसार के पैदा करने वाले कर्मों का परम मित्र है अर्थात् आत्मारूपी घर में सदा कर्मों को लाता रहता है ऐसा मन जब तक जीवित रहता है तब तक मुनियों को कदापि कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—जब तक आत्मा में कर्मों का आवागमन लगा रहता है तब तक आत्मा सदा व्याकुल ही बना रहता है। वे कर्म आत्मा में मन के द्वारा लाये जाते हैं क्योंकि मन के सहारे से ही इन्द्रियाँ रूप आदि के देखने में प्रवृत्त होती हैं तथा रूप आदि के देखने से रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, फिर उनसे ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों की उत्पत्ति होती है इसलिये उन कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा सदा व्याकुल ही रहता है और जब आत्मा ही व्याकुल रहा तब मुनियों को कल्याण की प्राप्ति भी कैसे हो सकती है इसलिए कल्याण का रोकने वाला मन ही है।

नूनं मृत्युमुपैति यातममलं त्वां शुद्धबोधात्मकं
त्वत्तस्तेन बहिर्भ्रमत्यविरतं चेतो विकल्पाकुलम्।
स्वामिन् किं क्रियतेऽत्र मोहवशतो मृत्योर्न भीः कस्य तत्
सर्वानर्थपरंपराकृदहितो मोहः स मे वार्यताम् ॥१५॥

अर्थ—निर्मल तथा अखंड ज्ञानस्वरूप आपको पाकर मेरा मन मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इसलिए हे जिनेन्द्र! नाना प्रकार के विकल्पों से युक्त मेरा चित्त आपसे बाह्य समस्त पदार्थों में ही

निरन्तर घूमता फिरता है क्या किया जाये? क्योंकि मृत्यु से सर्व ही डरते हैं। अतः यह सविनय प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के अनर्थों को करने वाला तथा अहितकारी इस मेरे मोह को नष्ट करो।

भावार्थ—जब तक मोह का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहेगा तब तक चित्त मेरा-तेरा करने से बाह्य पदार्थों में घूमता ही रहेगा और जब तक चित्त घूमता रहेगा तब तक सदा आत्मा में कर्मों का आवागमन भी लगा ही रहेगा तथा इस रीति से आत्मा सदा व्याकुल ही रहेगा इसलिए हे भगवन्! इस सर्वथा नाना प्रकार के अनर्थों के करने वाले मेरे मोह को नष्ट करो जिससे मेरी आत्मा को शान्ति मिले।

मोह ही समस्त कर्मों में बलवान् है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

सर्वेषामपि कर्मणामतितरां मोहो बलीयानसौ
धत्ते चञ्चलतां बिभेति च मृतेस्तस्य प्रभावान्मनः।
नो चेज्जीवति को म्रियेत क इह द्रव्यत्वतः सर्वदा
नानात्वं जगतो जिनेन्द्र भवता दृष्टं परं पर्ययैः ॥१६॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों के मध्य में मोह ही अत्यन्त बलवान् कर्म है और इसी मोह के प्रभाव से यह मन जहाँ-तहाँ चंचल होकर भ्रमण करता है और मरण से डरता है यदि यह मोह नहीं होवे तो निश्चयनय से न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इस जगत् को अनेक प्रकार देखा है वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से ही देखा है द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नहीं, इसलिए हे भगवन्! इस मेरे मोह को ही सर्वथा नष्ट कीजिये।

(शार्दूलविक्रीडित)

वातव्याप्तसमुद्रवारिलहरीसंघातवत्सर्वदा
सर्वत्रक्षणभङ्गुरं जगदिदं संचित्य चेतो मम
सम्प्रत्येतदशेषजन्मजनकव्यापारपारस्थितं
स्थातुं वाञ्छति निर्विकारपरमानन्दे त्वयि ब्रह्मणि॥१७॥

अर्थ—पवन से व्याप्त ऐसा जो समुद्र उसकी जो जल लहरी उनके समूह के समान सर्वकाल तथा सर्व क्षेत्रों में यह जगत् क्षण भर में विनाशीक है ऐसा भलीभाँति विचार कर यह मेरा मन इस समय हे जिनेन्द्र! समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले जो व्यापार उनसे रहित होकर निर्विकार परमानन्दस्वरूप परब्रह्म जो आप हैं सो आपमें ही ठहरने की इच्छा करता है।

एनः स्यादशुभोपयोगत इतः प्राप्नोति दुःखं जनो
धर्मः स्याच्च शुभोपयोगत इतः सौख्यं किमप्याश्रयेत्।
द्वन्द्वं द्वन्द्वमिदं भवाश्रयतया शुद्धोपयोगात्पुनः
नित्यानन्दपदं तदत्र च भवानर्हन्नहं तत्र च॥१८॥

अर्थ—जिस समय अशुभ उपयोग रहता है उस समय तो पाप की उत्पत्ति होती है तथा उस पाप से जीव नाना प्रकार के दुखों को प्राप्त होते हैं और जिस समय शुभ उपयोग रहता है उस समय धर्म (पुण्य) की उत्पत्ति होती है तथा धर्म से जीवों को सुख मिलता है और ये दोनों पाप-पुण्यरूपी द्वन्द्व संसार के ही कारण हैं अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता रहता है किन्तु शुद्धोपयोग से अविनाशी तथा आनन्दस्वरूप पद की प्राप्ति होती है और हे जिनेन्द्र! आप तो उस पद में निवास करते हैं तथा मैं शुद्धोपयोगरूपी पद में निवास करता हूँ।

भावार्थ—उपयोग के तीन भेद हैं पहला अशुभोपयोग, दूसरा शुभोपयोग, तीसरा शुद्धोपयोग। उनमें आदि के जो दो उपयोग हैं उनसे तो संसार में ही भटकना पड़ता है क्योंकि जिस समय जीवों का उपयोग अशुभ होगा, उस समय उनको पाप का बंध होगा तथा पाप के बंध होने से उनको नाना प्रकार की खोटी-खोटी गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा। और जिस समय उपयोग शुभ होगा, उस समय उस शुभयोग की कृपा से उनको राजा-महाराजा आदि पदों की प्राप्ति होगी इसलिए वह भी संसार को ही बढ़ाने वाला है। किन्तु जिस समय उस शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी, उस समय संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु निर्वाण की प्राप्ति ही होगी। इसलिए हे भगवन्! मैं शुद्धोपयोग में ही स्थित रहना चाहता हूँ।

यन्नान्तर्न बहिः स्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम्।
कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्यहारवर्णोज्झितं
स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्ति तदहं ज्योतिःपरं नापरम्॥१९॥

अर्थ—जो आत्मस्वरूप तेज न तो भीतर स्थित है और न बाहर स्थित है तथा न दिशा में ही स्थित है और न मोटा है न महीन है तथा आत्मारूपी तेज न तो पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसकलिंग भी नहीं है और न भारी है और न हल्का है तथा जो तेज कर्म, स्पर्श, शरीर, गंध, संख्या, वचन, वर्ण से रहित है और जो निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन स्वरूप है मूर्ति जिसकी ऐसा है उसी उत्कृष्ट तेजस्वरूप मैं हूँ किन्तु आत्मस्वरूप उत्कृष्ट तेज से भिन्न नहीं हूँ।

(शार्दूलविक्रीडित)

एतेनैव चिदुन्नतिक्षयकृता कार्यं विना वैरिणा
शश्वत्कर्मखलेन तिष्ठति कृतं नाथावयोरन्तरम्।
एषोऽहं स च ते पुरः परिगतो दुष्टोऽत्र निस्सार्यतां
सद्रक्षेतरनिग्रहो नयवतो धर्मः प्रभोरीदृशः॥२०॥

अर्थ—हे भगवन्! चैतन्य की उन्नति को नाश करने वाले और बिना कारण ही सदा बैरी इस दुष्ट कर्म ने आपमें तथा मुझमें भेद डाल दिया है किन्तु कर्मशून्य अवस्था में जैसी आपकी आत्मा है वैसी

ही मेरी आत्मा है तथा इस समय यह कर्म आपके सामने मौजूद है इसलिए इस दुष्ट को हटा दें क्योंकि नीतिवान् प्रभुओं का यही धर्म है कि वे सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार अनन्त विज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख तथा अनन्तदर्शन आदि गुण स्वरूप आपकी आत्मा है उसी प्रकार उन्हीं गुणों से सहित मेरी भी आत्मा है किन्तु भेद इतना ही है कि आपके तो वे गुण प्रकट हो गये है और मेरे उन गुणों की प्रकटता नहीं हुई है उस भेद का करने वाला यह कर्म ही है, क्योंकि कर्मों की कृपा से ही उस मेरे स्वभाव पर आवरण पड़ा हुआ है तथा इस समय हम दोनों आपके सामने मौजूद हैं इसलिए इस दुष्ट को दूर करो क्योंकि आप तीनों लोक ों के स्वामी हैं और नीतिवान् स्वामी का यह धर्म है कि वह सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें।

आधिव्याधिजरामृतप्रभृतयः सम्बन्धिनो वर्ष्मण
स्तद्भिन्नस्य ममात्मनो भगवतः किं कर्तुमीशा जडाः।
नानाकारविकारकारिण इमे साक्षान्नभोमण्डले
तिष्ठन्तोऽपि न कुर्वते जलमुचस्तत्र स्वरूपान्तरम्॥२१॥

अर्थ—हे भगवन्! नाना प्रकार के आकार तथा विकारों को करने वाले मेघ आकाश में रहते हुए भी जिस प्रकार आकाश के स्वरूप का कुछ भी हेर–फेर नहीं करते। उसी प्रकार आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि भी मेरा कुछ नहीं कर सकते क्योंकि ये समस्त शरीर के विकार जड़ हैं तथा मेरी आत्मा ज्ञानवान् और शरीर से भिन्न है।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश अमूर्तिक है इसलिए रंग–बिरंगे भी मेघ उसके ऊपर कुछ भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते तथा उसके स्वरूप का परिवर्तन भी नहीं कर सकते उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनमय अमूर्तिक पदार्थ है। इसलिए इस पर भी आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि कुछ भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते क्योंकि ये मूर्तिक शरीर के धर्म हैं और आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है।

संसारातपदह्यमानवपुषा दुःखं मया स्थीयते
नित्यं नाथ यथा स्थलस्थितिमता मत्स्येन ताम्यन्मनः।
कारुण्यामृतसंगशीतलतरे त्वत्पादपङ्केरुहे
यावद्देव समर्पयामि हृदयं तावत्परं सौख्यवान्॥२२॥

अर्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार जल से बाहर स्थल में बिना पानी के मछली तड़फड़ाती है उसी प्रकार संसाररूपी संताप से जिसका शरीर जल रहा है ऐसा मैं सदा दुःखित ही रहता हूँ किन्तु जब तक करुणारूपी जल के संग से जो अत्यन्त शीतल हैं ऐसे आपके चरण कमलों में मैं अपने मन को लगाता हूँ तब तक मैं अत्यन्त सुखी रहता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार स्थल में पड़ी हुई मछली दुःखित रहती है उसी प्रकार इस नाना प्रकार के

दुखों से भरे हुए संसार में मैं भी सदा संतप्त रहता हूँ तथा जिस प्रकार वही मछली जब तक जल के भीतर रहती है तब तक सुखी रहती है उसी प्रकार जब तक मेरा मन करुणामयी रस से अत्यन्त शीतल आपके चरण कमलों में प्रविष्ट रहता है तब तक मैं भी सुखी रहता हूँ इसलिए हे भगवन्! आपके चरण कमलों को छोड़कर मेरा मन दूसरी जगह न प्रवेश करें जिससे मैं दुखी रहूँ यही प्रार्थना है।

साक्षग्राममिदं मनो भवति यद्बाह्यार्थसम्बन्धभाक्
तत्कर्म प्रविजृम्भते[1] पृथगहं तस्मात्सदा सर्वथा।
चैतन्यात्तव तत्तथेति यदि वा तत्रापि तत्कारणं
शुद्धात्मन्मम निश्चयात्पुनरिह त्वय्येव देव स्थितिः॥ २३॥

अर्थ—हे भगवान्! इन्द्रियों के समूह से सहित जो मेरा मन बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध करता है उसी से नाना प्रकार के कर्म मेरी आत्मा के साथ आकर बंधते हैं किन्तु वास्तविक रीति से मैं उन कर्मों से सर्वकाल में तथा सर्वक्षेत्र में जुदा ही हूँ तथा आपके भी चैतन्य से भी सर्वथा वे कर्म जुदे ही हैं अथवा उस चैतन्य से कर्मों के भेद करने में आप ही कारण हैं इसलिए हे शुद्धात्मन्! हे जिनेन्द्र! निश्चय से मेरी स्थिति आप ही में है।

भावार्थ—यदि निश्चयनय से देखा जावे तो हे जिनेन्द्र! आप तथा मैं समान ही हूँ क्योंकि निश्चयनय से आपकी आत्मा भी कर्मबंध से रहित है तथा मेरी आत्मा के साथ भी किसी प्रकार कर्मों का बंधन नहीं रहता है इसलिए हे भगवन्! मेरी स्थिति निश्चय से आपके स्वरूप में ही है।

किं लोकेन किमाश्रयेण किमुत द्रव्येण कायेन किं
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं तैर्विकल्पैरपि।
सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमत्तो भव-
न्नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यतितरामालेन किं बन्धनम्॥२४॥

अर्थ—हे आत्मन्! न तो मुझे लोक से काम है और न दूसरे के आश्रय से काम है तथा न तुझे द्रव्य से प्रयोजन है और न शरीर से प्रयोजन है तथा तुझे वचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं और प्राणों से भी प्रयोजन नहीं तथा नाना प्रकार के विकल्पों से भी कुछ काम नहीं क्योंकि ये समस्त पुद्गल द्रव्य की ही पर्यायें हैं और तेरे से भिन्न हैं तो भी बड़े खेद की बात है कि तू इनको अपना मानकर आश्रय करता है सो क्या तू दृढ़ बंधन को प्राप्त नहीं होगा? अवश्य ही होगा।

भावार्थ—हे आत्मन्! तू तो निर्विकार चैतन्यस्वरूपी है और समस्त लोक तथा शरीर, इन्द्रिय, द्रव्य, वचन आदि समस्त पदार्थ पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं और तुझसे सर्वथा भिन्न हैं ऐसा होने पर भी यदि तू इनको अपना समझकर आश्रय करेगा तो तू अवश्य ही बंधन को प्राप्त होगा इसलिए इन

१. प्रतिजृम्मते।

समस्त पर पदार्थों से ममता को छोड़कर शुद्धानंद चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान कर, जिससे तू कर्मों से न बंधे।

धर्माधर्मनभांसि काल इति मे नैवाहितं कुर्वते
चत्वारोऽपि सहायतामुपगतास्तिष्ठन्ति गत्यादिषु।
एकः पुद्गल एव सन्निधिगतो नोकर्मकर्माकृति-
वैरी बन्धकृदेष सम्प्रति मया भेदासिना खण्डितः॥२५॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य मेरे किसी प्रकार के अहित को नहीं करते हैं किन्तु ये चारों द्रव्य गति, स्थिति आदि कामों में सहकारी हैं इसलिए ये मेरे सहायी होकर ही रहते हैं। परन्तु नोकर्म (तीन शरीर, छह पर्याप्ति) तथा कर्म है स्वरूप जिसका ऐसा तथा समीप में रहने वाला और बंध का करने वाला एक पुद्गल ही मेरा बैरी है इसलिए उसी को इस समय मैंने भेदरूपी तलवार से खंड-खंड उड़ा दिये हैं।

भावार्थ—मुझसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल ये पाँच द्रव्य भिन्न हैं उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य तो मेरा किसी प्रकार अहित नहीं करते किन्तु मेरी सहायता ही करते हैं अर्थात् धर्मद्रव्य तो मेरे गमन में सहकारी है तथा अधर्मद्रव्य ठहरने में सहकारी है और आकाशद्रव्य मुझे अवकाश दान देता है इसलिए अवकाश दान देने में वह भी मुझे सहकारी है और कालद्रव्य से परिवर्तन होता है इसलिए परिवर्तन करने में वह भी सहकारी है परन्तु एक पुद्गलद्रव्य ही मेरे बड़े भारी अहित का करने वाला है क्योंकि नोकर्म तथा कर्मस्वरूप में परिणत होकर पुद्गलद्रव्य मेरे आत्मा के साथ बंध को प्राप्त होता है तथा उसकी कृपा से मुझे नाना प्रकार की गतियों में भ्रमण करना पड़ता है और सत्यमार्ग भी नहीं सूझता है इसलिए इस समय भेदविज्ञान से मैंने उसका खंडन किया है।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषकृतैर्यथा परिणमेद्रूपान्तरैः पुद्गलो
नाकाशादिचतुष्टयं विरहितं मूर्त्या तथा प्राणिनाम्।
ताभ्यां कर्मघनं भवेदविरतं तस्मादियं संसृति-
स्तस्यां दुःखपरम्परेति विदुषां त्याज्यौ प्रयत्नेन तौ॥२६॥

अर्थ—जीवों के नाना प्रकार के रागद्वेष के करने वाले परिणामों से जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार अमूर्तिक द्रव्य रागद्वेष के करने वाले परिणामों से परिणमित नहीं होते तथा उस राग-द्वेष के द्वारा प्रबल कर्मों की उत्पत्ति होती है और उस कर्म से संसार होता है तथा संसार में नाना प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं इसलिए कल्याण की अभिलाषा करने वाले सज्जनों को चाहिए कि वे राग तथा द्वेष को सर्वथा छोड़ दें।

भावार्थ—पुद्गल के अनेक परिणाम होते हैं उनमें रागद्वेषरूप जो पुद्गल के परिणाम हैं उनसे

सदा कर्म आत्मा में आकर बंधते रहते हैं और उन कर्मों से आत्मा को संसार में घूमना पड़ता है तथा वहाँ पर नाना प्रकार के दुख सहन करने पड़ते हैं इसलिए भव्य जीवों को ऐसे परम अहित के करने वाले राग-द्वेषों का त्याग अवश्य ही कर देना चाहिए।

किं बाह्येषु परेषु वस्तुषु मनः कृत्वा विकल्पान् बहून्
रागद्वेषमयान् मुधैव कुरुषे दुःखाय कर्माशुभम्।
आनन्दामृतसागरे यदि वसस्यासाद्य शुद्धात्मनि
स्फीतं तत्सुखमेकतामुपगतं त्वं यासि रे निश्चितम् ॥२७॥

अर्थ—हे मन! बाह्य तथा तुझसे भिन्न जो स्त्री, पुत्र आदि पदार्थ हैं उनमें रागद्वेषस्वरूप अनेक प्रकार के विकल्पों को करके क्यों दुख के लिए तू व्यर्थ अशुभ कर्म को बांधता है। यदि तू आनंद रूपी जल के समुद्र में शुद्धात्मा को पाकर उसमें निवास करेगा, तो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी सुख को अवश्य प्राप्त करेगा। इसलिए तुझे आनंद स्वरूप शुद्ध आत्मा में ही निवास करना चाहिए और उसी का ही ध्यान तथा मनन करना चाहिए।

इत्याध्याय[1] हृदि स्थिरं जिन भवत्पादप्रसादात्सती
मध्यात्मैकतुलामयं जन इतः शुद्ध्यर्थमारोहति।
एवं कर्तुममी च दोषिणमितः कर्मारयो दुर्धराः
तिष्ठन्ति प्रसभं तदत्र भगवन् मध्यस्थसाक्षी भवान् ॥२८॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आपके चरण कमलों की कृपा से पूर्वोक्त बातों को भलीभाँति मन में चिंतन कर जिस समय यह प्राणी शुद्धि के लिए अध्यात्मरूपी तुला (तखड़ी) पर चढ़ता है उस समय उसको दोषी बनाने के लिए कर्म रूपी भयंकर बैरी मौजूद हैं इसलिए हे भगवन्! ऐसी दशा में आप ही मध्य में बैठकर साक्षी हैं।

भावार्थ—तराजू के दो पलड़े होते हैं उनमें से अध्यात्मरूपी एक पलड़े पर तो शुद्धि के लिए यह प्राणी चढ़ता है और दूसरे में कर्मरूपी बैरी उस प्राणी को दोषी बनाने के लिए मौजूद हैं और हे भगवन्! आप उन दोनों के बीच में साक्षी हैं इसलिए आपको पूरी तौर से न्याय करना चाहिए।

विकल्परूप ध्यान तो संसारस्वरूप है और निर्विकल्पध्यान मोक्षस्वरूप है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

द्वैतं संसृतिरेव निश्चयवशाद्द्वैतमेवामृतं
संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिदं पर्यङ्ककाष्ठागतम्।
निर्गत्यादिपदाच्छनैः शबलितादन्यत्समालम्बते
यः सो ऽसंज्ञ इति स्फुटं व्यवहृतेर्ब्रह्मादिनामेति च॥२९॥

१. इत्यास्थाय।

अर्थ—द्वैत सविकल्पक ध्यान तो वास्तविक रीति से संसार स्वरूप है तथा अद्वैत (निर्विकल्पक) ध्यान मोक्षस्वरूप है। यह संसार तथा मोक्ष में अंत दशा को प्राप्त संक्षेप से कथन है तथा जो मनुष्य इन दोनों में से आदि का जो द्वैतपद है उससे धीरे से हटकर अद्वैतपद को आलम्बन करता है वह पुरुष वास्तविक रीति से नाम रहित हो जाता है अथवा उसी पुरुष को व्यवहार नय से ब्रह्मा, धाता आदि नाम से पुकारते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष सविकल्पध्यान को करने वाला है वह तो संसार में ही घूमा करता है किन्तु जो पुरुष निर्विकल्पकध्यान को आचरण करता है वह मोक्ष में जाकर सिद्धपद को प्राप्त करता है तथा सिद्धों का निश्चयनय से कोई नाम न होने से वह नाम रहित हो जाता है अथवा व्यवहारनय से उसी को ब्रह्मा आदि नाम से भी पुकारते हैं।

चारित्रं यदभाणि केवलदृशो देव त्वया मुक्तये
पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम्।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः
संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम॥३०॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव! जो आपने केवलज्ञानरूपी दृष्टि से मुक्ति के लिए चारित्र का वर्णन किया है उस चारित्र को इस भयंकर कलिकाल में मेरे समान मनुष्य बड़ी कठिनता से धारण कर सकता है किन्तु पूर्व काल में संचित जो पुण्य उससे जो मेरी आपमें दृढ़ भक्ति है वही, हे जिन! मुझे संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान हो अर्थात् मुझे संसार समुद्र से वही भक्ति पार कर सकेगी।

भावार्थ—बिना कर्मों का नाशकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और कर्मों का नाश आपके द्वारा वर्णन किए हुए चारित्र (तप) से होता है उस तप को शक्ति के अभाव से इस पंचम काल में हे भगवन्! मुझ सरीखा मनुष्य धारण नहीं कर सकता इसलिए हे भगवन्! यही प्रार्थना है कि भाग्य के उदय से जो आपमें मेरी दृढ़ भक्ति है उसी से मेरे कर्म नष्ट हो जावे और मुझे मोक्ष की प्राप्ति होवे।

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयाऽनन्तशः।
तन्नापूर्वमिहास्ति किञ्चिदपि मे हित्वा विमुक्तिप्रदां
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं तां देव पूर्णां कुरु॥३१॥

अर्थ—इस संसार में भ्रमणकर मैंने इन्द्रपना, निगोदपना और बीच में अन्य भी समस्त प्रकार की योनि अनंत बार प्राप्त की हैं इसलिए इन पदवियों में से कोई भी पदवी मेरे लिए अपूर्व नहीं है किन्तु मोक्षपद को देने वाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी अभी तक नहीं मिली है। इसलिए हे भगवन्! यह प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी को ही पूर्ण करो।

भावार्थ—यद्यपि संसार में बहुत सी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदवी हैं और वे समस्त पदवी मैंने प्राप्त भी कर ली हैं किन्तु हे भगवन्! जो पदवी सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूपी सुख के देने वाली है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी को अभी तक मैंने नहीं प्राप्त की है इसलिए यह विनयपूर्वक प्रार्थना है कि कृपा कर मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी को पूर्णतया प्रदान करें।

श्रीवीरेण मम प्रसन्नमनसा तत्किञ्चिदुच्चैः पद-
प्राप्त्यर्थं परमोपदेशवचनं चित्ते समारोपितम्।
येनास्तामिदमेकभूतलगतं राज्यं क्षणध्वंसि यत्
त्रैलोक्यस्य च तन्न मे प्रियमिह श्रीमज्जिनेश प्रभो ॥३२॥

अर्थ—बाह्य तथा अभ्यंतर लक्ष्मी से शोभित ऐसे श्री वीरनाथ भगवान् ने अपने प्रसन्नचित्त से सबसे ऊँचे पद की प्राप्ति के लिए जो मेरे चित्त में उपदेश जमाया है अर्थात् उपदेश दिया है उस उपदेश के सामने क्षण भर में विनाशीक ऐसा पृथ्वी का राज्य मुझे प्रिय नहीं है यह बात तो दूर रही किन्तु हे प्रभो हे जिनेन्द्र! उस उपदेश के सामने तीन लोक का राज्य भी मुझे प्रिय नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि संसार में पृथ्वी का राज्य तथा तीन लोक का राज्य मिलना भी एक उत्तम बात है किन्तु हे भगवन्! प्रसन्नचित्त से श्रीवीरनाथ भगवान् ने जो मुझे उपदेश दिया है उसके सामने वे दोनों बातें मुझे इष्ट नहीं है इसलिए मैं ऐसे उपदेश का ही प्रेमी हूँ।

सूरेः पङ्कजनन्दिनः कृतिमिमामालोचनामर्हता-
मग्रे यः पठति त्रिसन्ध्यममलश्रद्धानताङ्गो नरः।
योगीन्द्रैश्चिरकालरूढतपसा यत्नेन यन्मृग्यते
तत्प्राप्नोति परं पदं स मतिमानानन्दसद्म ध्रुवम्॥३३॥

अर्थ—श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है ऐसा जो मनुष्य श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा की गई आलोचना नाम की कृति को तीनों काल श्रीअर्हन्तदेव के सामने पढ़ता है वह बुद्धिमान मनुष्य उस पद को प्राप्त होता है जिस पद को चिरकाल पर्यन्त तपकर बड़े-बड़े मुनि घोर प्रयत्न करने पर प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल तीनों कालों में श्रीअर्हन्तदेव के सामने आलोचना का पाठ पढ़ता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है इसलिए मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही श्रीअर्हन्तदेव के सामने पद्मनन्दि आचार्य द्वारा बनाई हुई आलोचना नामक कृति का तीनों काल पाठ करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
आलोचना नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥९॥

१०.
सद्बोधचन्द्रोदय

(शार्दूलविक्रीडित)

यज्जानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तुं गिरा
प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां सम्माति चाकाशवत्।
यत्र स्वानुभवस्थितेऽपि विरला लक्ष्यं लभन्ते चिरा-
त्तन्मोक्षैकनिबन्धनं विजयते चित्तत्त्वमत्यद्भुतम् ॥१॥

अर्थ—मोक्षरूपी सुख के देने वाले जिस आत्मतत्त्व को भलीभाँति जानता हुआ तथा बुद्धिमान् भी बृहस्पति वाणी से कुछ भी वर्णन नहीं कर सकता है यदि किसी रीति से वर्णन भी करे तो भी अत्यन्त विस्तीर्ण होने के कारण आकाश के समान मनुष्यों के हृदय में उसको समाविष्ट नहीं कर सकता है और स्वानुभव में स्थित होकर विरले ही प्राणी जिस आत्मतत्त्व को लक्ष्य में लाते हैं ऐसा वह अत्यन्त आश्चर्य का करने वाला आत्मतत्त्व सदा इस लोक में जयवन्त है।

भावार्थ—यह आत्मतत्त्व कठिन तो इतना है कि जिसको साधारण पंडितों की तो क्या बात साक्षात् बृहस्पति भी वर्णन नहीं कर सकते और विस्तृत इतना है कि वह किसी के हृदय में आकाश की तरह प्रविष्ट नहीं हो सकता अर्थात् जिस प्रकार आकाश अधिक लम्बा चौड़ा है इसलिए वह किसी जगह पर नहीं आ सकता उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व भी इतना विस्तृत है कि साधारण रीति से मनुष्य समझ नहीं सकते और अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पर विरले ही मनुष्य इस आत्म तत्त्व को लक्ष्य में ला सकते हैं ऐसा समस्त मोक्ष आदि उत्तम सुखों का देने वाला आत्मतत्त्व सदा इस लोक में जयवंत है।

नित्यानित्यतया महत्तनुतयानेकैकरूपत्ववत्
चित्तत्त्वं सदसत्तया च गहनं पूर्णं च शून्यं च यत्
तज्जीयादखिलश्रुताश्रयशुचिज्ञानप्रभाभासुरो
यस्मिन् वस्तुविचारमार्गचतुरो यः सोऽपि संमुह्यति ॥२॥

अर्थ—जो चैतन्यरूपी तत्त्व नित्य तथा अनित्यपने से और गुरु तथा लघुपने से तथा एकरूप और अनेकरूपपने से तथा सत्‌रूप और असत्‌रूपपने से अत्यन्त गहन है और जो पूर्ण तथा शून्य भी है ऐसा आत्मतत्त्व सदा इस लोक में जयवंत है जिस आत्मतत्त्व में समस्त शास्त्रों के अभ्यास से पाई हुई जो ज्ञान की प्रभा उससे देदीप्यमान तथा वास्तविक पदार्थों के विचार करने में चतुर मनुष्य भी मुग्ध हो जाता है अर्थात् उसको भी इस चैतन्य (आत्म) तत्त्व का पता नहीं लगने पाता।

भावार्थ—जो चैतन्यरूपी तत्त्व, द्रव्य की अपेक्षा तो नित्य है तथा पर्याय की अपेक्षा अनित्य है और जो संसारावस्था में कर्मों के जरिये से भारी होने पर भी कर्मरहित अवस्था में हल्का है तथा जो स्वद्रव्य की अपेक्षा एकरूप है तथा पर्याय की अपेक्षा अनेकरूप है और जो स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत्स्वरूप है तथा पर-चतुष्टय की अपेक्षा असत् स्वरूप है तथा जो चैतन्यरूपी तत्त्व स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा पूर्ण है तथा परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा शून्य है ऐसा यह अत्यन्त गहन आत्मतत्त्व इस लोक में सदा जयवंत है और समस्त शास्त्रों के अभ्यास से जिन महापुरुषों ने ज्ञानरूपी प्रभा को पाकर अपनी आत्मा को देदीप्यमान बनाया है और वास्तविक पदार्थों के विचार करने में जिनकी बुद्धि अत्यन्त प्रवीण है ऐसे महापुरुष भी उस आत्म तत्त्व की खोज नहीं कर सकते हैं अर्थात् वास्तविक रीति से उनको भी आत्म तत्त्व का पता नहीं लगता।

सर्वस्मिन्नणिमादिपङ्कजवने रम्येऽपि हित्वा रतिं
यो दृष्टिं शुचिमुक्तिहंसवनितां प्रत्यादराद्दत्तवान्।
चेतोवृत्तिनिरोधलब्धपरमब्रह्मप्रमोदाम्बुभृत्-
सम्यक् साम्यसरोवरस्थितिजुषे हंसाय तस्मै नमः॥३॥

अर्थ—जो हंस अत्यन्त मनोहर अणिमा आदि स्वरूप कमल वन से अपनी प्रीति को हटाकर अत्यन्त पवित्र मोक्षरूपी हंसिनी में अपनी दृष्टि को देता हुआ ऐसे उस चित्त की वृत्ति के रोकने से प्राप्त हुआ जो परब्रह्म का उत्तम आनंद वही हुआ जल उससे भरा हुआ जो मनोहर समतारूपी सरोवर उसमें स्थिति करने वाले प्रिय हंस के लिये नमस्कार है।

भावार्थ—हंस का अर्थ आत्मा भी है तथा हंस भी है। जिस प्रकार हंस अत्यन्त मनोहर कमल वन को छोड़कर और अत्यन्त शुभ्र हंसिनी में दृष्टि को लगाकर जल के भरे हुए उत्तम सरोवर में प्रीतिपूर्वक निवास करता है उसी प्रकार जो आत्मा अणिमा-महिमा आदिक ऋद्धियों की कुछ भी इच्छा न कर तथा अति आदर से मोक्ष में दृष्टि लगाकर समता में लीन होता है उस आत्मा के लिये नमस्कार है।

(रथोद्धत)

सर्वभावविलये विभाति यत् सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः।
चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः॥४॥

अर्थ—चारों तरफ से प्रकाशरूप तथा नाना प्रकार के कल्याणों को देने वाला और आश्चर्यकारी जो चैतन्यरूपी तेज समीचीन समाधि से जिनकी आत्मा व्याप्त है ऐसे महामुनियों के समस्त रागद्वेष आदि विभावों के नाश होने पर प्रकट होता है उस चैतन्यरूपी तेज के लिए नमस्कार होवे।

भावार्थ—यदि सामान्यतया देखा जाये तो जीवमात्र में चैतन्यरूपी तेज मौजूद है किन्तु जो चैतन्यरूपी तेज समस्त रागादि भावों के नाश होने पर प्रकट होता है और जो चौतरफा प्रकाशरूप तथा समस्त प्रकार के कल्याणों का देने वाला है उस चैतन्यरूपी तेज के लिए नमस्कार है।

विश्ववस्तुविधृतिक्षमं लसज्जालमन्तपरिवर्जितं गिराम्।
अस्तमेत्यखिलमेकहेलया यत्र तज्जयति चिन्मयं महः॥५॥

अर्थ—जो चैतन्यरूपी तेज समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है और स्वयं प्रकाशस्वरूप है तथा अंत से रहित है और यदि समस्त वाणी युगपत् मिल जावें तो भी उसका वर्णन नहीं कर सकती हैं अर्थात् जो वाणी के अगोचर है ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज सदा इस लोक में जयवंत है।

(रथोद्धता)

नो विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरम्।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वपुषो जडात्मनः॥६॥

अर्थ—समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित जो चैतन्यरूपी तेज किसी भी रीति से मन के भी गोचर नहीं हो सकता, वह चैतन्यरूपी तेज कर्मों से पैदा हुए नाना प्रकार के विकल्प वही है रूप जिसका तथा जड़स्वरूप ऐसे शरीर के गोचर कब हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।

अब आचार्य इस बात को बताते हैं कि वह चैतन्यरूपी तत्त्व मन आदि के प्रत्यक्ष न होकर भी स्वानुभव गम्य है—

चेतसो न वचसोऽपि गोचरस्तर्हि नास्ति भविता खपुष्पवत्।
शङ्कनीयमिदमत्र नो यतः स्वानुभूतिविषयस्ततोऽस्ति तत्॥७॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य इस बात की शंका करें कि चैतन्यरूपी तेज न तो मनके गोचर है और न वचन के गोचर है इसलिए आकाश के फूल के समान उसका नास्तित्व हो जायेगा तो आचार्य समाधान देते हैं कि ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह चैतन्यरूपी तत्त्व स्वानुभव से जाना जाता है इसलिए नास्तित्व न होकर उसका अस्तित्व ही है।

भावार्थ—आकाश का फूल न तो विचार में ही आ सकता है और न उसको देख तथा सुन ही सकते हैं तथा उसको वचन से भी नहीं कह सकते हैं। इसलिए जिस प्रकार उसका अस्तित्व नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार आत्मतत्त्व का भी अस्तित्व नहीं बन सकता क्योंकि यह भी न तो मन के गोचर है और न वचन के गोचर है। यदि कोई इस प्रकार की शंका करे तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उसकी इस

प्रकार की शंका सर्वथा अयुक्त है क्योंकि वह चैतन्य तत्त्व मन तथा वचन के गोचर न होने पर भी स्वानुभवगोचर है इसलिए आकाश के फूल के समान उसकी नास्ति न कहकर अस्ति ही कहनी चाहिए।

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वान्तमन्तमुपयाति तद्बहिः।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणान्न भूतले॥८॥

अर्थ—जिस समय मन परमात्मा में स्थित होता है उस समय उस मन का नाश हो जाता है। लेकिन यदि वह मन उस परमात्मा को छोड़कर जहाँ-तहाँ बाहर भ्रमण करता है और पृथ्वीतल में मरण से कौन नहीं डरता है? अर्थात् सर्व ही डरते हैं।

भावार्थ—जब तक मन का सम्बन्ध इस आत्मा के साथ में रहता है तब तक वह मन बाह्य पदार्थों में घूमता रहता है इसलिए आत्मा की परिणति भी बाह्य पदार्थों में लगी रहती है किन्तु जिस समय वह आत्मा परमात्मा हो जाता है उस समय इस मन का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय इसकी बाह्य पदार्थों में परिणति नहीं लगती। इसीलिए मन परमात्मा में स्थित न होकर बाह्य पदार्थों में ही घूमता रहता है क्योंकि पृथ्वी तल में जब सब मरण से डरते हैं तो अपने मरण का मन को भी पूरा-पूरा भय है।

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः॥९॥

अर्थ—यदि निश्चय से देखा जावे तो चैतन्यरूपी तत्त्व आत्मा में है आत्मा से भिन्न किसी भी स्थान में नहीं है किन्तु जो मनुष्य आत्मा से भिन्न किसी दूसरे स्थान में चैतन्यरूपी तत्त्व रहता है ऐसा समझते हैं तथा जानते हैं वे मूढ़बुद्धि मनुष्य वैसा ही काम करते हैं जैसा कि मुट्ठी में रखी हुई वस्तु को वन में जाकर ढूँढ़ना।

भावार्थ—मुट्ठी में रखी हुई भी वस्तु का वन में जाकर ढूंढ़ना जिस प्रकार व्यर्थ है उसी प्रकार अपने से भिन्न स्थान में चैतन्य का मानना तथा देखना वृथा है। इसलिए चैतन्य तत्त्व के खोज करने वाले उत्तम पुरुषों को चैतन्य तत्त्व अपने में ही समझना चाहिए अपने से भिन्न स्थान में नहीं।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जो मनुष्य आत्मीक वस्तु में तत्पर हैं वे ही उत्कृष्ट ध्यान के पात्र हैं—

तत्परः परमयोगसम्पदां पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः।
नापरेण चलितो यथेप्सितः स्थानलाभविभवो विभाव्यते॥१०॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य, मार्ग तो दूसरा है परन्तु उसको छोड़कर दूसरे मार्ग से चले तो कदापि उसको अभीष्ट स्थान का लाभ नहीं हो सकता। किन्तु ठीक मार्ग पर चले तभी वह अपने अभीष्ट स्थान

पर पहुँच सकता है। उसी प्रकार जो पुरुष आत्मा में आसक्त हैं वे ही मनुष्य उत्कृष्ट ध्यान के पात्र हैं, किन्तु जो मनुष्य आत्मा में आसक्त नहीं है, बाह्य पदार्थों में ही आसक्त है वे कदापि उत्कृष्ट ध्यान के पात्र नहीं और न हो ही सकते हैं इसलिए उत्कृष्ट ध्यान के प्रेमी उत्तम पुरुषों को आत्मा में अवश्य आसक्त रहना चाहिए।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जो तपस्वी आत्मस्वरूप में लक्ष्य नहीं देते वे मूर्ख हैं—

साधु लक्ष्यमनवाप्य चिन्मये यत्र सुष्ठु गहने तपस्विनः।
अप्रतीतिभुवमाश्रिता जडा भान्ति नाट्यगतपात्रसन्निभाः॥११॥

अर्थ—अत्यन्त गहन ऐसे जिस चैतन्यरूपी तत्त्व में भलीभाँति लक्ष्य न देकर जो तपस्वी अज्ञानमयी भूमि के आश्रित हैं अर्थात् अज्ञानी बन रहे हैं वे तपस्वी जड़ हैं और वे नाटक के पात्र के समान शोभित होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार नाटक का पात्र कभी राजा, कभी मंत्री, स्त्री आदि नाना प्रकार के वेषों को धारण करता है किन्तु वह वास्तविक राजा, मंत्री, स्त्री नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार तपस्वी का वेष धारण कर जो तपस्वी चैतन्यरूपी तत्त्व की ओर अपना लक्ष्य नहीं देते वे तपस्वी कहलाने के योग्य नहीं और वे जड़ हैं इसलिए तपस्वियों को चैतन्यरूपी तत्त्व पर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिए।

भूरिधर्मयुतमप्यबुद्धिमानन्धहस्तिविधिनावबुध्य यत्।
भ्राम्यति प्रचुरजन्मसङ्कटे पातु वस्तदतिशायि चिन्महः॥१२॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष अंधहस्तिन्याय के समान अनेक धर्मों से सहित ऐसे चैतन्यतत्त्व को जानकर भी अनेक जन्म संकटों में भ्रमण करता है। ऐसा वह अत्यन्त अतिशय का भंडार चैतन्यरूपी तेज हमारी रक्षा करे।

भावार्थ—अंधे के आँखों के न होने के कारण वह हाथी के समस्त स्वरूप को नहीं देख सकता इसलिए हाथी के समस्त स्वरूप के अज्ञानी उस अन्धे द्वारा बतलाया हुआ हाथी का स्वरूप जिस प्रकार प्रमाणभूत नहीं माना जाता, उसी प्रकार अज्ञानी द्वारा जाना हुआ अनेकान्तात्मक चैतन्य तेज प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। अतएव अज्ञानी चैतन्यस्वरूप को जानता हुआ भी संसार में ही भ्रमण करता रहता है इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा अतिशयशाली चैतन्यरूपी तेज सदा हमारी रक्षा करे।

कर्मबंधकलितोप्यबंधनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं किलात्मनः॥१३॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मों के बंधन से सहित होकर भी कर्म बंधन से रहित है तथा द्वेष और राग से मलिन होने पर भी जो निर्मल है और देहधारी होने पर भी जो देह से रहित है इसलिए आचार्य कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—इस श्लोक में विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिए आचार्य विरोध को दिखाते हैं कि जो कर्म बंधन से सहित है वह कर्म बंधन से रहित कैसे हो सकता है ? और जो समल है वह निर्मल कैसे हो सकता है ? और जो देहसहित है वह देह रहित कैसे हो सकता है ? अब आचार्य विरोध का परिहार करते हैं, यद्यपि अशुद्ध-निश्चयनय से आत्मा कर्मबंधन से सहित है तथापि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा कर्मबंधन से रहित ही है तथा आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से रागद्वेष से मलिन है तो भी शुद्धनिश्चयनय से वह निर्मल है और आत्मा व्यवहारनय से शरीर से सहित है तो भी शुद्धनिश्चयनय से उसका कोई शरीर नहीं है।

भावार्थ—किसी अपेक्षा से आत्मा कर्मबंधन से सहित है तथा किसी अपेक्षा से कर्मबंधन से रहित है और किसी अपेक्षा से रागद्वेष से मलिन है तथा किसी अपेक्षा से निर्मल है और किसी अपेक्षा से आत्मा शरीर सहित है तथा किसी अपेक्षा से शरीर से रहित है। इस प्रकार आत्मा अनेक धर्मात्मक है एक धर्मात्मक नहीं ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि अनेकान्तात्मक वस्तु में किसी प्रकार का विरोध नहीं आ सकता—

(रथोद्धता)

निर्विनाशमपि नाशमाश्रितं शून्यमप्यतिशयेन सम्भृतम्।
एकमेव गतमप्यनेकतां तत्त्वमीदृगपि नो विरुद्ध्यते॥१४॥

अर्थ—जो अनेकान्तात्मक तत्त्व नाश रहित होने पर भी नाश से सहित है और शून्य होने पर भी संपूर्ण है (भरा हुआ है) तथा एक होने पर भी अनेक है। ऐसा होने पर भी उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

भावार्थ—समस्त पदार्थों की सिद्धि किसी न किसी अपेक्षा के द्वारा ही होती है। यदि पदार्थों की सिद्धि में अपेक्षा न मानी जाये अर्थात् यदि उनकी सिद्धि एकान्त रीति से ही की जाये तो कदापि उनकी निर्दोष सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए अनेकान्तात्मक तत्त्व में किसी प्रकार का दोष आकर उपस्थित नहीं होता क्योंकि अपेक्षा से ही अनेकान्तात्मक तत्त्व की स्थिति है। जैसे-यदि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा की जाये तो तत्त्व नाश से रहित है और यदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा की जाये तो तत्त्वों का नाश भी है और यदि परद्रव्यचतुष्टय की अपेक्षा की जावे तो तत्त्व शून्य भी है तथा स्वद्रव्यचतुष्टय की अपेक्षा की जावे तो तत्त्व शून्यता से रहित भी है और शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से एक भी है तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से अनेक भी है। इस रीति से अस्तित्व-नास्तित्वादि अनेक धर्म तत्त्व में मौजूद हैं तथा वे सब अपेक्षा से माने गये हैं। इसलिए उसमें किसी प्रकार का विरोध भी नहीं है ऐसा निश्चय से समझना चाहिए।

आत्मीक तत्त्व के पाने वाले ही स्वस्वरूप के पाने वाले समझे जाते हैं इस बात को आचार्य दिखाते हैं–

विस्मृतार्थपरिमार्गणं यथा यस्तथा सहजचेतनाश्रितः।
स क्रमेण परमेकतां गतः स्वस्वरूपपदमाश्रयेद् ध्रुवम्॥१५॥

अर्थ–मूर्छित हुआ मनुष्य, जिस प्रकार सावधान होकर अपनी भूली हुई चीज को ढूँढ़ता है पीछे शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है। उसी प्रकार जो मनुष्य अनादिकाल से भूले हुए अपने स्वाभाविक चैतन्य को आश्रय कर क्रम से साम्यभाव को धारण करता है वह मनुष्य निश्चय से आत्मस्वरूप को आश्रय करता है अर्थात् उसको आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत्।
इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा॥१६॥

अर्थ–जो-जो बात मन में होवे (अर्थात् जिस-जिस बात की मन में इच्छा होवे) उसी-उसी बात को सबसे पहले छोड़ देवें। इस प्रकार जिस समय में समस्त उपाधि का नाश हो जाता है उसी समय में आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ–ज्ञान दर्शन की परिपूर्णता ही आत्मा का स्वरूप है और जिस समय में इस अखण्ड ज्ञान तथा दर्शन की प्राप्ति हो जाती है उसी को स्वस्वरूप की प्राप्ति कहते हैं, किन्तु जब तक कर्म जनित राग-द्वेष अथवा इच्छा आदि उपाधियों का सम्बन्ध इस आत्मा के साथ रहता है तब तक आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए स्वस्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक भव्य जीवों को चाहिए कि वे जिस समय चित्त में इच्छा आदिक उपाधि उत्पन्न होवे उसी समय उनका त्यागकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करें।

संहृतेषु स्वमनोऽनिलेषु यद्भाति तत्त्वममलात्मनः परम्।
तद्गतं परमनिस्तरङ्गतामग्निरुग्र इह जन्मकानने॥१७॥

अर्थ–पाँचों इन्द्रियों के तथा मन के और श्वासोच्छ्वास के संकुचित होने पर जो आत्मा का निर्मल तथा उत्कृष्ट स्वरूप उदित होकर शोभित होता है ऐसा वह अत्यन्त निश्चल आत्मतत्त्व संसाररूपी वन के लिए भयंकर अग्नि के समान है।

भावार्थ–जिस प्रकार वन में लगी हुई अग्नि समस्त वन को भस्म कर देती है उसी प्रकार परमात्मतत्त्व भी समस्त संसार का नाश करने वाला है अर्थात् परमात्मतत्त्व के प्राप्त होने पर संसार का सर्वथा नाश हो जाता है।

निर्विकल्प पदवी का आश्रय करने वाला ही संयमी मोक्ष पद को प्राप्त होता है इस बात को आचार्य दिखाते हैं–

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोऽहमित्यपि।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि लभते परं पदम्॥१८॥

अर्थ—मैं समस्त कर्मों से रहित मुक्त हूँ ऐसा भी संयमियों को नहीं मानना चाहिए तथा मैं समस्त कर्मों से सहित हूँ ऐसा भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि निर्विकल्प पदवी को आश्रय करने वाला ही संयमी मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

भावार्थ—मैं कर्म से रहित हूँ यह भी विकल्प है तथा मैं कर्म से सहित हूँ यह भी विकल्प है और जिस संयमी के जब तक ऐसा विकल्प रहता है तब तक उसकी कदापि मुक्ति नहीं होती। इसलिए जो संयमी मोक्षाभिलाषी हैं उनको निर्विकल्पक पदवी का ही आश्रय करना चाहिए।

अब आचार्य द्वैत तथा अद्वैतभाव का निषेध वर्णन करते हैं—

कर्मचाहमिति च द्वये सति द्वैतमेतदिह जन्मकारणम्।
एक इत्यपि मतिः सती न यत्साप्युपाधिरचिता तदङ्गभृत्[१]॥१९॥

अर्थ—हे जीव! कर्म तथा मैं दो हूँ इस प्रकार का द्वैत भी जीवों को संसार का कारण है अर्थात् इस प्रकार के द्वैत से भी जीवों को नाना प्रकार के भवों में भ्रमण करना पड़ता है। तथा मैं एक हूँ यह भी बुद्धि ठीक नहीं क्योंकि उपर्युक्त दोनों प्रकार की बुद्धि उपाधिजन्य हैं।

भावार्थ—मैं द्वैत हूँ तथा एक हूँ इस प्रकार के दोनों भाव असत्य हैं क्योंकि ये संसार के उत्पन्न करने वाले हैं तथा कर्मजनित उपाधि से पैदा हुए हैं। इसलिए जो पुरुष मोक्षाभिलाषी हैं उनको इन दोनों भावों का त्याग कर निर्विकल्प पदवी का ही आश्रय करना चाहिए।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि शुद्ध भावना तो शुद्ध पद की कारण है और अशुद्ध भावना अशुद्ध पद की कारण है—

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृतीस्तदाश्रिते ॥२०॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्ण से सुवर्ण पात्र की उत्पत्ति होती है तथा लोह से लोहपात्र की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार शुद्ध परमात्मा की भावना करने से शुद्ध पद मोक्ष पद की प्राप्ति होती है तथा अशुद्ध भावना से अशुद्ध पद स्वर्ग-नरकादि पद की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—**''कारण सदृशानि कार्याणि भवन्ति''** अर्थात् कारण के समान ही कार्य उत्पन्न होते हैं इस नीति के अनुसार जो भव्य जीव निष्कलंक-शुद्ध, बुद्ध परमात्मा का ध्यान करते हैं उनको परमपद मोक्ष पद की प्राप्ति होती है अर्थात् वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं। और जो मनुष्य परमात्मा की भावना नहीं करते हैं उनको परमपद की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् उनको संसार में नरकादि गतियों में

१. भृतः।

भ्रमण करना पड़ता है।

परमार्थ को जानने वाले योगी को किसी प्रकार के सुख-दुख का अनुभव नहीं करना पड़ता इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृतेऽपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना॥२१॥

अर्थ—समस्त कर्म मुझसे भिन्न हैं इस प्रकार निरंतर अपने दिव्य सम्यग्ज्ञान रूपी चक्षु से देखने वाले तथा परमात्मा को भली-भाँति जानने वाले योगी के कर्म से उत्पन्न सुख-दुख के होने पर भी सुख-दुख की कल्पना नहीं होती।

भावार्थ—अपने से कर्म को भिन्न समझने वाला और परमार्थ को भली-भाँति जानने वाला योगीश्वर कर्म जनित सुख-दुख के होने पर भी अपने को सुखी दुखी नहीं मानता।

मानसस्य गतिरस्ति चेन्निरालम्ब एव पथि भास्वतो यथा।
योगिनो दृगवरोधकारकः सन्निधिर्न तमसां कदाचन॥२२॥

अर्थ—सूर्य के समान योगियों के मन की गति यदि निरालंब मार्ग में ही हो, तो कभी भी उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की प्रभा को रोकने वाले अंधकार की निकटता न होवे।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य निरावरण मार्ग में गमन करता है इसलिए उसका प्रकाश किसी के द्वारा रोका नहीं जाता। उसी प्रकार जिस योगी का मन निरालम्ब मार्ग में गमन करता है अर्थात् जिस समय योगी निरालम्ब ध्यान को करता है उस समय उस योगी के दर्शन, ज्ञानरूपी तेज को दर्शनावरण ज्ञानावरणरूपी अंधकार रोक नहीं सकता, इसलिए योगियों को सदा निरालम्ब ही ध्यान करना चाहिए।

रुग्जरादिविकृतिर्न मेऽञ्जसा सा तनोरहमितः सदा पृथक्।
मीलितेऽपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः॥२३॥

अर्थ—नाना प्रकार के विकारों से सहित मेघों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जिस प्रकार आकाश में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता क्योंकि वे विकार मेघों के हैं। उसी प्रकार रोग, वृद्धावस्था आदि नाना प्रकार के विकार शरीर के विकार ही हैं मेरे (आत्मा के) विकार नहीं हैं क्योंकि शरीर से मैं सदा जुदा हूँ।

भावार्थ—मूर्तिक पदार्थों में ही विकार होता है अमूर्तिक पदार्थों में नहीं। आकाश अमूर्तिक है इसलिए अनेक प्रकार के विकार सहित मेघों के सम्बन्ध होने पर भी जिस प्रकार आकाश में विकार नहीं होता। उसीप्रकार आत्मा में भी विकार नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है। जो रोग वृद्धावस्था आदि विकार हैं वे शरीर के विकार हैं तथा शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है।

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वह्निना न गगनं तदाश्रितम्॥२४॥

अर्थ—यदि किसी कारण से मकान में अग्नि लग जावे तो उस अग्नि से मकान ही जलता है किन्तु उसके भीतर रहा हुआ आकाश नहीं जलता। उसी प्रकार शरीर में किसी कारण से व्याधि उत्पन्न हो जाये तो उस व्याधि से शरीर ही नष्ट होता है उसके भीतर रहे हुए आत्मा का नाश नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार मकान में लगी हुई अग्नि से मकान ही जलता है उसी प्रकार शरीर में उत्पन्न व्याधि से शरीर ही नष्ट होता है किन्तु अग्नि से जिस प्रकार मकान के भीतर रहा हुआ आकाश नहीं जलता उसी प्रकार व्याधि से शरीर के भीतर रहा हुआ चैतन्यस्वरूप आत्मा भी नष्ट नहीं होता।

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः॥२५॥

अर्थ—समस्त प्रकार की रागद्वेष आदि उपाधियों से रहित तथा सम्यग्ज्ञान स्वरूप जो कोई वस्तु है वही हमारी है, किन्तु इससे भिन्न थोड़ी सी भी वस्तु हमारी नहीं है। इस प्रकार जो योग का निश्चय है वही मोक्ष का कारण है किन्तु इससे भिन्न योग का निश्चय मोक्ष का कारण नहीं।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि योग से ही तो आत्मा बंधन को प्राप्त होता है और योग से ही मोक्ष को प्राप्त होता है—

योगतो हि लभते विबंधनं योगतो हि किल मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा॥२६॥

अर्थ—ध्यान से ही तो मनुष्य बंधन को प्राप्त होता है तथा ध्यान से ही मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह ध्यान का मार्ग अत्यन्त कठिन है, किन्तु जो भव्यजीव मोक्ष के अभिलाषी हैं उनको यह समस्त ध्यान का मार्ग गुरु के उपदेश से समझना चाहिए।

भावार्थ—ध्यान अनेक प्रकार का होता है उनमें जो मनुष्य जैसा ध्यान करता है उसको उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषियों को चाहिए कि वे मोक्ष के कारणभूत ध्यान को ही गुरु के उपदेश से समझें और संसार का जो कारण ध्यान है उसकी ओर दृष्टि न देवें।

शुद्धज्ञान स्वरूप वस्तु ही रमणीक स्थान है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव नः।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते यदपरापि रम्यता॥२७॥

अर्थ—जो वस्तु शुद्धबोधस्वरूप है अर्थात् निर्मल सम्यग्ज्ञान स्वरूप है वही हमारा रमणीय स्थान है किन्तु जो मनुष्य निर्मल सम्यग्ज्ञान से अतिरिक्त भी रमणीयता है, इस बात को कहते हैं वह वास्तविक रमणीयता नहीं किन्तु वह मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुआ प्रमाद ही है।

भावार्थ—निर्मल सम्यग्ज्ञान स्वरूप ही रमणीय है किन्तु इससे भिन्न कोई भी पदार्थ रमणीय नहीं है, यदि कोई मनुष्य इससे भिन्न पदार्थ को भी रमणीय माने तो उसका प्रमाद ही समझना चाहिए।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदन्तरम्॥२८॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य पंडितो! यदि तुम अपने पापों का नाश करना चाहते हो तो अत्यन्त पवित्र तथा आश्चर्य के करने वाले उत्तम इस आत्मज्ञान स्वरूपी तीर्थ में ही स्नान करो क्योंकि जो अंतरंग का मल अन्य करोड़ों तीर्थों में स्नान करने पर भी नष्ट नहीं होता है वह अंतरंग का मल इस आत्मज्ञान स्वरूप तीर्थ में एक समय स्नान करने पर ही नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—पाप से भयभीत होकर करोड़ों मनुष्य काशी, प्रयाग आदि स्थानों पर गंगा आदि नदियों में स्नान करते हैं तथा अपने को मल रहित शुद्ध मानते हैं। परन्तु गंगा आदि नदियों में स्नान करने से बाह्य मल का ही नाश होता है रागद्वेष आदि अंतरंग मल का नाश नहीं होता, और वास्तविक रीति से अंतरंग मल का नाश ही वास्तविक सुख का मूल है। इसलिए आचार्यवर उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवों! यदि तुम अंतरंग मल का नाश करना चाहते हो तो तुमको इस परम पवित्र आत्मा रूपी तीर्थ में ही स्नान करना चाहिए क्योंकि जो अंतरंग मल दूसरे-दूसरे करोड़ों तीर्थों में स्नान करने पर भी नष्ट नहीं होता वह अंतरंग मल आत्म रूपी पवित्र तीर्थ में एक बार ही स्नान करने से निश्चय से पलभर में नष्ट हो जाता है।

चित्समुद्रतटबद्धसेवया जायते किमु न रत्नसंचयः।
दुःखहेतुरमुतस्तु दुर्गतिः किं न विप्लवमुपैति योगिनः॥२९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष बड़े उत्साह के साथ चैतन्यरूपी समुद्र के तीर की भली-भाँति सेवा करते हैं क्या उनको सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की प्राप्ति नहीं होती है? अवश्य ही होती है। तथा इस पाये हुए रत्न समूह से चैतन्यरूपी समुद्र की सेवा करने वाले मुनियों की क्या नाना प्रकार के दुखों को देने वाली नरक आदि खोटी गतियों का नाश नहीं होता? अवश्य ही होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र के तट पर रहने वाले मनुष्यों को नाना प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होती है तथा उन रत्नों की सहायता से वे धनिक हो जाते हैं और उनको दरिद्रता से पैदा हुआ दुख कुछ भी नहीं सता सकता। उसी प्रकार जो मुनि सदा अपनी आत्मा का चिंतन करने वाले हैं उनको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी रत्नों की प्राप्ति होती है तथा उन रत्नों की प्राप्ति होने पर उनको किसी प्रकार की नरक आदि गतियों में नहीं जाना पड़ता। इसलिए दुख से सदा भय करने वाले मनुष्यों को आत्मा का ही चिंतन करना चाहिए।

निश्चयावगमनस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि।
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि॥३०॥

अर्थ—परमात्मा में जो निश्चय तथा ज्ञान और स्थिति हैं उन्हीं को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र कहते हैं। और केवली भगवान् की दृष्टि में ये तीनों निश्चयनय से आत्मस्वरूप ही हैं अर्थात् आत्मा से भिन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कोई पदार्थ नहीं है।

भावार्थ—परमात्मा है इस प्रकार का जो निश्चय है सो तो सम्यग्दर्शन है। और परमात्मा को भलीभाँति जानना सम्यग्ज्ञान है। तथा परमात्मा में स्थिरता रखना सम्यक्चारित्र है और यदि निश्चयनय से देखा जावे तो ये आत्मस्वरूप ही हैं आत्मा से भिन्न नहीं है। तथा केवली भगवान् अपने केवलज्ञान तथा केवलदर्शन से इनको आत्मस्वरूप ही जानते हैं तथा देखते हैं।

प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद् दृगादयः।
बाह्यवेध्यविषये कृतश्रमाश्चिद्रणे प्रहतकर्मशत्रवः॥३१॥

भावार्थ—जिस प्रकार संग्राम में प्रत्यंचा सहित धनुष से छोड़े हुए बाणों से समस्त बैरी नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार चैतन्यरूपी संग्राम में शास्त्ररूपी प्रत्यंचा सहित बुद्धिरूपी धनुष से प्रेरित तथा बाह्य पदार्थों के वेधन करने में तत्पर जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी बाण हैं वे समस्त कर्मरूपी बैरियों को नष्ट करते हैं।

चित्तवाच्यकरणीयवर्जिता निश्चयेन मुनिवृत्तिरीदृशी।
अन्यथा भवति कर्मगौरवात् सा प्रमादपदवीमुपेयुषः॥३२॥

अर्थ—निश्चय करके मुनियों की जो प्रवृत्ति है वह मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से रहित है, किन्तु वह मुनि यदि प्रमाद पदवी को प्राप्त हो जावे अर्थात् प्रमादी बन जावे तो कर्म की गुरुता से उसकी प्रवृत्ति विपरीत ही अर्थात् मन-वचन-काय से सहित ही हो जाती है।

भावार्थ—निश्चयनय से मुनियों की प्रवृत्ति मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से रहित है किन्तु जिस समय वे प्रमादी बन जाते हैं उस समय प्रमाद के द्वारा उनकी आत्मा में कर्मों का आगमन होता है तथा पीछे कर्मों का बंध होता है उस समय कर्म के सम्बन्ध से उनकी प्रवृत्ति मन-वचन-काय से सहित ही होती है।

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः।
योगिनोऽणुसदृशं विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरम्॥३३॥

अर्थ—जिन योगियों के निर्मल ज्ञान में चर-अचर समस्त जगत् परमाणु के समान मालूम पड़ता है ऐसा वह योगियों का ज्ञानरूपी समुद्र, श्रेष्ठ समाधि रूप चन्द्रमा के उदय से वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय से समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार समाधि से निर्मल ज्ञान की वृद्धि होती है। तथा उस ज्ञान में समस्त जगत् बड़ा भी परमाणु के समान छोटा मालूम

पड़ता है अर्थात् अनंत भी जगत् उस ज्ञान में परमाणु के समान ही है।

कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोऽप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।
भेदबोधदहने हृदि स्थिते योगिनो झटिति भस्मसाद्भवेत्॥३४॥

अर्थ—पवित्र समाधिरूपी पवन से उदय को प्राप्त, ऐसे भेदज्ञान रूपी अग्नि, योगी के हृदय में स्थित होने पर प्रबल भी कर्मरूपी सूखे तृणों का समूह शीघ्र ही भस्मीभूत हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सूखे तृणों में पड़ी हुई थोड़ी-सी भी चिनगारी (अग्नि का फुलिंगा) जिस समय पवन की सहायता से बढ़ जाती है उस समय बहुत तृणों के समूह को पलभर में भस्म कर देती है। उसी प्रकार जिस समय मुनियों के मन में (मेरी आत्मा भिन्न है और ये स्त्री, पुत्र, मित्र आदि पदार्थ भिन्न हैं ऐसा) स्वपर का भेदविज्ञान समाधिरूपी पवन से उदय को प्राप्त हो जाता है उस समय जितने कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध मौजूद है वे समस्त कर्म पलभर में नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जिन मनुष्यों को अपनी आत्मा से कर्मों के जुदा करने की अभिलाषा है उनको चाहिए कि वे निर्मल समाधि से भेदज्ञान को उदित करें जिससे उनके समस्त कर्म आत्मा से शीघ्र जुदे हो जावें।

अब आचार्य इस बात को बताते हैं कि समाधिरूपी कल्पवृक्ष मुनियों को वांछित फल को देने वाला है—

चित्तमत्तकरिणा न चेद्धतो दुष्टबोधवनवन्हिनाथवा।
योगकल्पतरुरेष निश्चितं वाञ्छितं फलति मोक्षसत्फलम्॥३५॥

अर्थ—यदि यह समाधिरूपी कल्पवृक्ष मन रूपी मतवाले हाथी से नष्ट न किया जाये और दुष्ट-ज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूपी वनाग्नि से भस्म न किया जाये तो वह अवश्य ही वांछित मोक्ष रूपी श्रेष्ठ फल को देता है।

भावार्थ—जिस प्रकार वन में खड़े हुए कल्पवृक्ष को यदि मत्त हाथी नष्ट न करें अथवा वन की अग्नि भस्म न करें तो वह अवश्य ही उत्तम तथा मिष्ट फल को देता है। उसी प्रकार यह समाधि भी यदि खोटे विषयों में प्रवृत्त मन से नष्ट न होवे और मिथ्याज्ञान पूर्वक न की जाये तो अवश्य ही मोक्ष को देने वाली होती है। इसलिए जो मुनि मोक्षरूपी उत्तम फल के इच्छुक है उनको चाहिए कि वे मन को अपने वश में रखें और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही समाधि का आचरण करें अन्यथा उनको उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होगी।

जबतक मन में परमात्मा का ज्ञान नहीं होता है तभी तक बुद्धि शास्त्रों में भटकती फिरती है इस बात को आचार्य समझाते हैं—

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः।
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः॥३६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जब तक चित्त परमात्मा के ज्ञान से भेद को प्राप्त नहीं होता है तभी तक बुद्धिमान् पुरुष की बुद्धि रूपी नदी सदा शास्त्रों में आगे-आगे दौड़ती चली जाती है।

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष शास्त्र का स्वाध्याय इसीलिए करते हैं कि किसी रीति से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होवे किन्तु जिस समय चित्त परमात्मा के ज्ञान से अभिन्न हो जाता है अर्थात् जिस समय मन में परमात्मा का ज्ञान हो जाता है उस समय बुद्धिमान् की बुद्धि शास्त्र की ओर नहीं जाती है।

संसार में चैतन्यरूपी दीपक ही देदीप्यमान है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

यः कषायपवनैरचुम्बितो बोधवन्हिरमलोल्लसद्दृशः।
किं न मोहतिमिरं विखण्डयन्[१] भासते जगति चित्प्रदीपकः॥३७॥

अर्थ—जिस चैतन्य रूपी दीपक का पवन ने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि मौजूद है तथा जिसकी दशा निर्मल और देदीप्यमान है ऐसा चैतन्य रूपी दीपक मोह रूपी अंधकार को नाश करता हुआ क्या जगत् में प्रकाशमान नहीं है? अवश्य ही है।

भावार्थ—जो दीपक पवन द्वारा स्पृष्ट नहीं है अर्थात् जिसका पवन ने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें अग्नि मौजूद है तथा जिसमें बत्ती उत्तम है ऐसा दीपक जिस प्रकार अंधकार का नाश करता है और प्रकाशमान रहता है। उसी प्रकार जिस चैतन्य के साथ क्रोधादि कषायों का सम्बन्ध नहीं है और जिसमें सम्यग्ज्ञान मौजूद है तथा जिसकी स्थिति निर्मल और देदीप्यमान है ऐसा चैतन्य अवश्य ही मोह को नाशकर संसार में प्रकाशमान रहता है।

जो बुद्धि आत्मस्वरूप से भिन्न बाह्य पदार्थों में भ्रमण करती है वह बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं इस बात को आचार्य समझाते हैं—

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता॥३८॥

अर्थ—जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी कुल-गृह उससे निकली हुई है अतएव जो बाह्य शास्त्र रूपी वन में विहार करने वाली है। और अनेक प्रकार के विकल्पों को धारण करने वाली है ऐसी वह बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं, किन्तु कुलटा स्त्री के समान निकृष्ट है।

भावार्थ—जिस प्रकार अपने घर से निकलकर बाह्य वनों में भ्रमण करने वाली और अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों को धारण करने वाली स्त्री कुलटा समझी जाती है और निकृष्ट समझी जाती है। उसी प्रकार जो बुद्धि अपने चैतन्य रूपी मन्दिर से निकलकर बाह्य शास्त्रों में विहार करने वाली हैं और अनेक विकल्पों को धारण करने वाली है अर्थात् स्थिर नहीं है ऐसी बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं समझी जाती। इसलिए अपनी आत्मा के हित के अभिलाषियों को चाहिए कि वे अपने आत्मा के

१. विषडंयन्, विडम्बयन्।

स्वरूप से भिन्न पदार्थों में अपनी बुद्धि को भ्रमण न करने देवें और स्थिर रखें। उसी समय उनकी बुद्धि उत्तम बुद्धि हो सकती है।

हेय और उपादेय दोनों प्रकार के पदार्थों में जो भव्य जीव हेय को छोड़कर उपादेय को ग्रहण करता है वही मोक्ष को जाता है इस बात को आचार्य दिखलाते हैं–

यस्तुहेयमितरच्च भावयन्नाद्यतो हि परमाप्तुमीहते।
तस्य बुद्धिरुपदेशतो गुरोराश्रयेत् स्वपदमेव निश्चलम्॥३९॥

अर्थ–जो भव्यजीव हेय तथा उपादेय पदार्थों का रात–दिन चिंतन करता है और उन दोनों में त्यागने योग्य पदार्थों को त्याग करता है। उस भव्य जीव की बुद्धि उत्तम गुरु के उपदेश से चैतन्य रूपी जो अविनाशी स्थिर पद है उसको प्राप्त होती है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

भावार्थ–संसार में भव्य जीवों को त्यागने योग्य पदार्थ तो स्त्री–पुत्र–धन–धान्य आदिक पदार्थ हैं और ग्रहण करने योग्य चैतन्यस्वरूप है इस प्रकार का विचार कर जो भव्य जीव स्त्री, पुत्र, धान्य आदिक त्यागने योग्य पदार्थों का त्याग करता है उस मनुष्य की बुद्धि अवश्य ही निर्लोभी उत्तम गुरुओं के उपदेश से नहीं चलायमान तथा अविनाशी, चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होती है। इसलिए निश्चल चैतन्यस्वरूप के अभिलाषी भव्य जीवों को अवश्य ही हेय पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए।

जो मनुष्य मोह निद्रा में मग्न हैं उस मनुष्य को बाह्य पदार्थ भी स्व–स्वरूप ही मालूम पड़ते हैं इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं–

[1]सुप्त एष बहुमोहनिद्रया लंघितः स्वमवलादि पश्यति।
जाग्रतोच्चवचसा गुरोर्गतं संगतं सकलमेव दृश्यते॥४०॥

अर्थ–गाढ़ मोह रूपी निद्रा ने जिसके ऊपर अपना प्रभाव डाल रखा है अतएव जो मोह रूपी नींद में मग्न है वह मनुष्य अपने से भिन्न स्त्री पुत्र आदि को अपना मानता है, किन्तु जो मनुष्य जग रहा है उस मनुष्य को तो समस्त जगत् उत्तम गुरु के उपदेश से संयुक्त मात्र क्षणभंगुर ही मालूम पड़ता है।

भावार्थ–जब तक जीव मोह निद्रा में सोते रहते हैं तब तक उनको अपना पराया कुछ भी भेद नहीं मालूम पड़ता। इसीलिए वे जीव अपने से सर्वथा भिन्न स्त्री–पुत्र, धन–धान्य आदि पदार्थों को अपने स्वरूप ही समझते हैं। किन्तु जिस समय वे मोह निद्रा में मग्न नहीं रहते उस समय उनकी दृष्टि के सामने गुरु के उपदेश से समस्त जगत् क्षणभंगुर मालूम पड़ता है। अतएव वे अपने से भिन्न किसी पदार्थ में रत नहीं होते।

निर्मल समाधि की सिद्धि के लिए बुद्धिमान् पुरुषों को सर्व पदार्थों में समता ही धारण करनी

---

१. सुप्त एतदिह यह भी पुस्तक में पाठ है।

चाहिए इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिद्धये।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितम्॥४१॥

अर्थ—आचार्यवर कहते हैं कि बहुत कहाँ तक कहा जाये जो पुरुष बुद्धिमान् हैं अर्थात् जिन पुरुषों को इस बात का भली-भाँति ज्ञान है कि यह पदार्थ त्यागने योग्य है और यह पदार्थ ग्रहण करने योग्य है उनको चाहिए कि वे निर्मल योग की सिद्धि के लिए नाना प्रकार के कर्मों से पैदा हुई जो नाना प्रकार की उपाधियाँ उनसे सर्वथा रहित साम्य-भाव का आश्रय करें।

भावार्थ—जब तक पदार्थों में समता नहीं होती तब तक कदापि चित्त की एकाग्रता के न होने से निर्मल योग की प्राप्ति भी नहीं हो सकती इसलिए आचार्यवर उपदेश देते हैं कि अधिक कहने से क्या? जिन मनुष्यों को निर्मल योग के प्राप्त करने की अभिलाषा है उनको चाहिए कि वे समस्त प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हुई उपाधियों से सर्वथा रहित साम्य-भाव का ही अवलम्बन करें जहाँ-तहाँ व्यर्थ भटकते न फिरें।

आचार्यवर परमात्मा के नाम मात्र के लेने से ही क्या लाभ होता है इस बात को बतलाते हैं—

नाममात्रकथया परात्मनः भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम्॥४२॥

अर्थ—परमात्मा के नाममात्र के कथन से ही अनेक जन्मों में संचय किया हुआ पापों का समूह पलभर में नष्ट हो जाता है और उस आत्मा में विद्यमान जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय है वह तो मनुष्य को जगत् का पति ही बना देता है अर्थात् परमात्म पद को प्राप्त करा देता है।

भावार्थ—उस आत्मा की सिद्धि के लिए प्रयत्न करना तो दूर रहा किन्तु जो भव्य जीव उस परमात्मा का केवल नाम भी लेता है उस मनुष्य के जन्म-जन्म के पापों के समूह पलभर में नष्ट हो जाते हैं और उस आत्मा में विद्यमान जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं वे तो इसको परमात्मा ही बना देते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की ओर लक्ष्य देने से तो मनुष्य साक्षात् तीन लोक का पति (सिद्ध) हो जाता है। इसलिए जो मनुष्य जन्म-जन्म के पापों के नाश करने की इच्छा करने वाले हैं तथा तीनों लोकों के पति होना चाहते हैं उनको चाहिए कि वे अवश्य परमात्मा का नाम लेवें और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की ओर लक्ष्य देवे।

जो मनुष्य चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन है वह समस्त योगियों में उत्तम हैं इस बात को आचार्य कहते हैं—

चित्स्वरूपपदलीनमानसो यः सदा स किल योगिनायकः।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको दर्शनीय इति चात्मसन्निभः॥४३॥

अर्थ—जिस योगी का चित्त चैतन्यरूप मोक्षपद में लगा हुआ है वही योगी समस्त योगियों में उत्तम योगी है अर्थात् योगियों का ईश्वर है और वही योगीश्वर समस्त चैतन्यस्वरूप प्राणियों को अपने समान देखता है।

भावार्थ—यों तो वेष धारी बहुत से योगी संसार में देखने में आते हैं किन्तु वास्तविक योगी (योगियों का ईश्वर) वही योगी है जिसका चित्त सांसारिक सुखों से सर्वथा विरक्त है और चैतन्यस्वरूप उत्तम पद-मोक्षपद में लगा हुआ है तथा वही मनुष्य समस्त प्राणियों को अपने समान देखता है अन्य योगी नहीं।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जितने संसार भर में जीव मौजूद हैं उन सबको अपने समान ही देखना चाहिए तभी कार्यसिद्धि होती है—

अंतरङ्गबहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना।
आसितव्यमनिशं प्रयत्नतः स्वं परं सदृशमेव पश्यता॥४४॥

अर्थ—समस्त प्रकार के कार्यों की सिद्धि अंतरंग तथा बहिरंग योग से होती है इसलिए जो योगी स्व को तथा पर को समान देखने वाला है उसको बड़े भारी प्रयत्न से रहना चाहिए।

भावार्थ—यह लोक एकेन्द्रीभाव से पंचेन्द्री जीव पर्यंत सब जगह घी के घड़े के समान भरा हुआ है उन सब जीवों को जो मनुष्य अपने समान मानता है उसी को समस्त कार्यों की सिद्धि होती है किन्तु जो मनुष्य अपने से छोटे जीवों को तुच्छ समझता है, इसीलिए उनके मारने में भी नहीं डरता है उस मनुष्य को कदापि किसी उत्तम कार्य की सिद्धि नहीं होती इसलिए उत्तम कार्यों की सिद्धि के अभिलाषी भव्य जीवों को, स्व को और पर को समान ही देखना-मानना चाहिए।

योगियों का हृदय संसार के चरित्रों को देखकर कदापि विकार भाव को नहीं प्राप्त होता इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

लोक एष बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा।
पश्यतोऽस्य विकृतिर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः॥४५॥

अर्थ—अपने आप पैदा किए हुए जो नाना प्रकार के कर्म उनसे यह लोक अनेक भावों से सहित है इसलिए इस जड़ स्वरूप संसार को देखते हुए भी योगी का मन कदापि क्षोभ को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—जिस योगी को भली-भाँति आत्मा का ज्ञान हो गया है और जिसकी इच्छा मोक्ष स्थान में निवास करने की है उस योगी के मन में इस लोक को देखने से अंशमात्र भी क्षोभ नहीं होता क्योंकि अपने द्वारा उपार्जन किए कर्मों से यह लोक नाना परिणाममय होता है। यह इस लोक का

स्वभाव ही है इस बात को वह योगी भली-भाँति समझता है।

अब आचार्य लोक के उद्धार का उपाय बताते हैं—

सुप्त एष बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः।
शास्त्रमेतदधिगम्य साम्प्रतं सुप्रबोध इह जायतामिति॥४६॥

अर्थ—जिसका अंत नहीं है ऐसी जो गाढ़ मोहरूपी निद्रा उससे यह लोक चिरकाल से सोया हुआ है अब इस शास्त्र को जानकर जाग्रत दशा को प्राप्त हो।

भावार्थ—अनादिकाल बीत गया यह लोक मोह रूपी गाढ़ निद्रा में सोया हुआ है इसलिए इसको इस बात का भी ज्ञान नहीं कि कौन-सी वस्तु तो मुझे ग्रहण करने योग्य है और कौन-सी वस्तु मुझे छोड़ने योग्य है इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि अब हुआ तो हुआ किन्तु आगे के लिए शास्त्र के अभिप्राय को भली-भाँति जानकर जाग्रत अवस्था को प्राप्त हो, जिससे तुमको उत्तम सुख मिले, नहीं तो अनादिकाल तक तुमको संसार में ही रोना पड़ेगा।

चित्स्वरूपगगने जयत्यसावेकदेशविषयापि रम्यता।
ईषदुद्गतवचःकरैः परैः[1] पद्मनन्दिवदनेन्दुना कृता॥४७॥

अर्थ—पद्मनन्दि मुनि का जो मुख वही हुआ चन्द्रमा उससे कुछ उदय को प्राप्त ऐसी जो वचन रूपी उत्कृष्ट किरण उनसे की गई और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के गोचर ऐसी यह रम्यता चैतन्यत्व रूपी आकाश में चिरकाल तक जयवंत हो।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों से हुई रम्यता आकाश में रहती है उसी प्रकार पद्मनन्दि आचार्य के मुख से निकले हुए वचनों से हुई यह रम्यता भी सदा सब जगह पर चिरकाल तक जयवंत प्रवर्ते।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि यदि मोह बैरी विघ्न करने वाला संसार में न होता तो मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त सुलभ हो जाती—

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्ताशेषपरिग्रहः शमधनो गुप्तित्रयालंकृतः
शुद्धात्मानमुपाश्रितो भवति यो योगी निराशस्ततः।
मोक्षो हस्तगतोऽस्य निर्मलमतेरेतावतैव ध्रुवं
प्रत्यूहं कुरुते स्वभावविषमो मोहो न वैरी यदि॥४८॥

अर्थ—जिसने बाह्य तथा अभ्यंतर के भेद से समस्त परिग्रहों का नाश कर दिया है और जिसके शान्ति ही धन है तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन प्रकार की गुप्तियों से जो शोभित

१. करैः करैः।

है और जिसको शुद्धात्मा की प्राप्ति हो गई है और जो निराश है अर्थात् जिसकी किसी भी पदार्थ में अंशमात्र भी इच्छा नहीं रही है ऐसा योगी होता है। इसीलिए निर्मल है बुद्धि जिसकी ऐसे उस योगी के यदि स्वभाव से ही कुटिल मोह रूपी बैरी उस मोक्ष की प्राप्ति में विघ्न न करता तो परिग्रह आदि के रहितपने आदि कारणों से ही मोक्ष निश्चय से हस्तगत हो जाता अर्थात् उसकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो जाती।

भावार्थ—मोक्ष की प्राप्ति में अन्यान्य सामग्री के होते हुये भी यदि स्वभाव से ही कुटिल ऐसा मोह विघ्न करने वाला हो तो कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए जो मनुष्य मोक्ष के अभिलाषी हैं उनको सबसे पहले मोह रूपी प्रबल बैरी को जीत लेना चाहिए क्योंकि यही मोक्ष की प्राप्ति में विघ्न का करने वाला है और जब तक यह मौजूद रहता है तब तक मोक्ष की प्राप्ति में दूसरे-दूसरे कारण व्यर्थ ही है।

त्रैलोक्ये किमिहास्ति कोपि स सुरः किं वा नरः किं फणी
यस्माद्धीर्मम यामि कातरतया यस्याश्रयं चापदि।
उक्तं यत्परमेश्वरेण गुरुणा निश्शेषवाञ्छाभयं
भ्रान्तिक्लेशहरं हृदि स्फुरति चेच्चित्तत्त्वमत्यद्भुतम्॥४९॥

अर्थ—जो चैतन्य तत्त्व समस्त प्रकार के अभिलाषा, भय, भ्रम तथा दुखों को दूर करने वाला है और अत्यन्त आश्चर्य को करने वाला है ऐसा चैतन्य रूपी तत्त्व परमेश्वर श्रीगुरु द्वारा कहा गया, यदि मेरे हृदय में स्फुरायमान है, मौजूद है तो तीनों लोक में न तो कोई ऐसा देव है जिससे मुझे भय हो और न कोई ऐसा पुरुष तथा सर्प ही है जिससे मैं डरूँ और कातर होकर आपत्ति में किसी के सहारे जाऊँ।

भावार्थ—जब तक मनुष्य को चैतन्यस्वरूप का भली-भाँति ज्ञान नहीं होता तथा जब तक किसी पदार्थ की अभिलाषा रहती है और भय, भ्रम और दुख होते हैं तब मनुष्य एकदम कातर होकर उस इच्छा की पूर्ति के लिए तथा भय, भ्रम दुखों के दूर करने के लिए जहाँ-तहाँ देवी, देव आदिकों की सेवा के लिए भटकता फिरता है और उससे कुछ फल भी नहीं निकलता किन्तु मेरे हृदय में तो श्रीगुरुमहाराज के उपदेश से वह चैतन्य तत्त्व स्फुरायमान है जो चैतन्यस्वरूप तत्त्व समस्त प्रकार की इच्छाओं का पूरण करने वाला है और जिसकी कृपा से भय, भ्रम, दुख मेरे पास तक भी नहीं फटक पाते फिर मुझे क्या आवश्यकता है जो मैं जहाँ-तहाँ भटकूँ और इच्छा की पूर्ति के लिए तथा भय, भ्रम, दुख आदि को दूर करने के लिए किसी देवी, देव की सेवा करूँ ऐसा ''जिस मनुष्य को चैतन्यस्वरूप का ज्ञान हो गया है वह'' सदा विचार करता रहता है।

अब आचार्यवर श्रेष्ठ ज्ञान की महिमा को गाते हुए सद्बोध-चन्द्रोदय नामक अधिकार को समाप्त करते हैं—

तत्त्वज्ञानसुधार्णवं लहरिभिर्दूरं समुल्लासयन्
तृष्णापत्रविचित्रचित्तकमले संकोचमुद्रां दधत्।
सद्विद्याश्रितभव्यकैरवकुले कुर्वन् विकासश्रियं
योगीन्द्रोदयभूधरे विजयते सद्बोधचन्द्रोदयः॥५०॥

अर्थ—वह श्रेष्ठज्ञानी रूपी चन्द्रमा अथवा 'सद्बोधचन्द्रोदय' नामक अधिकार इस संसार में योगियों के जो इन्द्र अर्थात् बड़े–बड़े योगी वे ही हुए उदयाचल उनमें सदा जयवंत है जो सद्बोधचन्द्रोदय, तत्त्वज्ञानरूपी जो अमृतसमुद्र उसको कल्लोलों से दूर तक उछालने वाला है और तृष्णारूपी ही हैं पत्र जिसमें ऐसे जो नाना प्रकार के चित्तरूपी कमल उनको संकुचित करने वाला है तथा श्रेष्ठज्ञान का आधारभूत जो भव्यजीवरूपी 'कैरवकुल' अर्थात् रात्रिविकासी कमलों का समूह उसका विकास करने वाला है।

भावार्थ—जिस प्रकार उदयाचल में चन्द्रमा का उदय होता है उस समय समुद्र अपनी लहरों को दूर तक उछालता हुआ बढ़ता चला जाता है और सूर्यविकासी कमल संकुचित हो जाते हैं तथा रात्रिविकासी कमल विकसित हो जाते हैं उसी प्रकार जिस समय योगीश्वरों की आत्मा में श्रेष्ठ ज्ञान का उदय होता है अर्थात् जिस समय उनकी आत्मा सम्यग्ज्ञान को धारण करती है उस समय निरंतर उन योगियों का तत्त्वज्ञान बढ़ता ही चला जाता है और चित्त में जो कुछ किसी वस्तु की तृष्णा रहती है वह सब नष्ट हो जाती है और भव्य जीवों के मन को अत्यन्त प्रसन्नता हो जाती है अर्थात् उन श्रेष्ठ ज्ञान के धारी योगीश्वरों से वास्तविक सुख के मार्ग को सुनने से भव्य जीवों के चित्त को बड़ा भारी संतोष होता है ऐसा वह सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय चिरकाल तक इस संसार में जयवंत रहता है।

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
सद्बोधचन्द्रोदय नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥१०॥

११.
निश्चयपञ्चाशत

(आर्या)

दुर्लक्ष्यं जगति परं ज्योतिर्वाचां गण: कवीन्द्राणाम्।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार जल हीरा नामक रत्न के अंदर प्रवेश नहीं करता है और बाहरी भाग में ही रहा आता है उसी प्रकार जिस चैतन्यस्वरूप ज्योति में बड़े-बड़े कवियों की वाणी भी प्रवेश नहीं कर सकती बाहरी भाग में ही रह जाती है। ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज संसार में दुर्लक्ष्य है अर्थात् जिसको बड़ी कठिनाई से भी नहीं देख सकते।

भावार्थ—जो वस्तु दृष्टि के गोचर होवें अर्थात् जिसको देख सकें उसको तो कवि लोग वचन से कह सकते हैं उसका वर्णन कर सकते हैं किन्तु चैतन्यस्वरूप तेज संसार में इतना दुर्लक्ष्य है कि जिस प्रकार जल हीरा के मध्यभाग में प्रवेश नहीं कर सकता है, बाहरी भाग में ही रह जाता है उसी प्रकार कवियों की वाणी भी उसके अंतरंग में प्रवेश कर उसका वर्णन नहीं कर सकती किन्तु बाहर में ही लड़खड़ाती रह जाती हैं।

मनसोऽचिन्त्यं वाचामगोचरं यन्महस्तनोर्भिन्नम्।
स्वानुभवमात्रगम्यं चिद्रूपममूर्तमव्याद्व: ॥२॥

अर्थ—जिस चैतन्यरूपी तेज का मन से चिंतन नहीं कर सकते हैं और वाणी से भी वर्णन नहीं कर सकते हैं और जो शरीर से सर्वथा भिन्न है और केवल स्वानुभव से ही जाना जाता है ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज आप लोगों की रक्षा करें।

वपुरादि[१]परित्यक्ते मज्जत्यानंदसागरे मनसि।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योति:॥३॥

१. ख. पुस्तक में 'परेत्यक्त' यह भी पाठ है उसका अर्थ यह है कि शरीर आदि के जो पर हैं उनके त्याग होने पर

अर्थ—शरीर धन, धान्य आदि से रहित होने पर जिस समय चित्त आनन्दसागर में डूबता है उस समय जो तेज मालूम पड़ता है वह एक, तथा चैतन्यस्वरूपी उत्कृष्ट ज्योति इस संसार में जयवंत है।

भावार्थ—जब तक प्राणियों की, यह शरीर मेरा है, यह स्त्री मेरी है तथा ये पुत्र, धन, धान्य आदिक मेरे हैं इस प्रकार की शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि पदार्थों में ममता लगी रहती है तब तक किसी को भी उस उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपी तेज का अनुभव नहीं हो सकता किन्तु जिस समय शरीर आदि से ममता छूट जाती है और मन आनंदसागर में गोता मारता है उस समय जो तेज अनुभव में आता है वही चैतन्यस्वरूप उत्कृष्ट तेज है तथा वह तेज सदा इस लोक में जयवंत है।

अब आचार्य सच्चे गुरु को नमस्कार करते हैं—

स जयति गुरुर्गरीयान् यस्यामलवचनरश्मिभिर्झटिति।
नश्यति तन्मोहतमो यदविषयो दिनकरादीनाम्॥४॥

अर्थ—जिन गुरुओं के निर्मल वचनरूपी किरणों से जिसको सूर्य, चन्द्र आदि कभी नाश नहीं कर सकते ऐसा प्रबल मोहरूपी अंधकार बात ही बात में नष्ट हो जाता है ऐसे वे उत्तम गुरु सदा इस लोक में जयवंत हैं अर्थात् ऐसे गुरुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—यों तो संसार में वेषधारी बहुत से गुरु मौजूद हैं और अपने को जगद्गुरु के नाम से पुकारने का प्रयत्न भी करते हैं किन्तु वे बनावटी गुरु सच्चे गुरु नहीं हो सकते क्योंकि गुरु शब्द का अर्थ ही यह है जो मोहान्धकार को दूर करने वाला हो इसलिए जो अपने वचनों से मोहान्धकार को दूर करने वाले हैं वास्तव में वे ही गुरु हैं और उन्हीं गुरुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

मोक्ष दुःसाध्य है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

आस्तां जरादिदुःखं सुखमपि विषयोद्भवं सतां दुःखम्।
तन्मन्यते सुखं यत्तन्मुक्तौ सा च दुःसाध्या॥५॥

अर्थ—संसार में जो जीवों को जरा-मरण आदिक दुख होते हैं वे तो दुख ही हैं इसलिए वे तो दूर ही रहे परन्तु विषयों से उत्पन्न हुए सुख को जो जीव सुख मानते हैं वह भी सुख नहीं हैं दुख ही हैं क्योंकि वास्तविक सुख तो मोक्ष में ही है और वह मोक्ष अत्यन्त दुःसाध्य है।

भावार्थ—जरा-मरण आदि के दुख को तो सर्व मनुष्य दुख ही कहते हैं इसलिए वे तो दुख हैं ही किन्तु बहुत से अज्ञानी जीव इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुख को भी सुख कहते हैं सो उसको सुख कहना ठीक नहीं। वह सुख नहीं दुख ही है क्योंकि यदि वास्तविक सुख है तो मोक्ष में ही है और वह मोक्ष अत्यन्त दुख से साध्य है।

विषयादिक सुख तो सुलभ है किन्तु मोक्ष के लिए शुद्धात्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम्।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः॥६॥

अर्थ—जिनको चिरकाल से सुना है और जिनका परिचय तथा अनुभव किया है ऐसे समस्त काम, क्रोध, भोग, विकथा आदिक सर्व प्राणियों के जन्म के लिए हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति सबको सुलभ रीति से हो सकती है किन्तु मुक्ति के लिए शुद्ध जो आत्मज्योति उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ—काम, क्रोध, भोग, विकथा आदिक पदार्थ तो अनादिकाल से प्रत्येक जन्म में सुने गये हैं तथा उनका परिचय और अनुभव किया गया है इसलिए उनकी प्राप्ति तो संसार में अत्यन्त सुलभ है अर्थात् उद्बोधक कारण पाकर ही वे तो बहुत शीघ्र प्रकट हो जाते हैं। किन्तु मुक्ति के लिए शुद्ध आत्मा की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् इसकी प्राप्ति जल्दी नहीं हो सकती क्योंकि किसी जन्म में इसको भली-भाँति सुना भी नहीं है और न इसका परिचय तथा अनुभव किया है। इसलिए मोक्षाभिलाषियों को शुद्ध आत्मज्योति की प्राप्ति के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मा का अनुभव भी कठिन है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

बोधोऽपि यत्र विरलो [१]वृत्तिवाचामगोचरो[२] बाढम्।
अनुभूतिस्तत्र पुनर्दुर्लक्ष्यात्मनि परं गहनम्॥७॥

अर्थ—जिस आत्मा का ज्ञान भी अत्यन्त दुर्लभ है और जिसका वर्णन भी वाणी के अगोचर है अर्थात् वाणी से जिसका वर्णन नहीं कर सकते और जब उसका वाणी से वर्णन ही नहीं कर सकते तब उसका अनुभव तो अत्यन्त ही दुर्लक्ष्य है इसलिए आचार्य कहते हैं कि आत्मज्योति अत्यन्त गहन है।

भावार्थ—जो पदार्थ गहन नहीं होता है उसका ज्ञान तो कर सकते हैं अर्थात् उसको जान सकते हैं और जब उसको जान सकते हैं तब उसका वर्णन भी कर सकते हैं तथा वर्णन करने से उसका अनुभव भी हो सकता है। किन्तु आत्मा तो अत्यन्त गहन है इसलिए प्रथम तो उसको जान ही नहीं सकते, यदि किसी रीति से जान भी लेवे तो उसका वर्णन नहीं कर सकते, यदि कुछ उसका वर्णन भी कर सके, तो उसका अनुभव नहीं कर सकते इसलिए आत्मा का बोध, वर्णन, अनुभव सर्व ही कठिन है।

अब आचार्य इस बात को कहते है दोनों नयों में व्यवहारनय तो अज्ञानी जनों को समझाने के लिये है और शुद्धनय कर्मों के नाश के लिए है इसलिए शुद्धनय का कुछ वर्णन करता हूँ—

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रितं किंचित्॥८॥

अर्थ—जीव अज्ञानी हैं। उनके समझाने के लिए तो व्यवहारनय है और शुद्ध नय कर्मों के नाश के लिए है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि मोक्ष की इच्छा करने वाला 'मैं' अपने लिए शुद्ध नय का

---

१. विवृत्तिर्वाचा, २. गोचरे।

आश्रय कर कुछ कहता हूँ अर्थात् शुद्ध नय का वर्णन करता हूँ।

भावार्थ—यदि निश्चयनय से अनुभव किया जाये तो आत्मा एक अखंड पदार्थ है उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं लेकिन जिन पुरुषों के ज्ञान पर आवरण पड़ा हुआ है अर्थात् जो अज्ञानी हैं वे सहसा आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि आत्मा के गुणों को जुदा कर उनको आत्मा का स्वरूप समझाया जाता है और अखंड वस्तु को खंडरूप से जानना यह विषय व्यवहारनय का है इसलिये व्यवहारनय तो मूर्खों को समझाने के लिये है किन्तु उसके आश्रय से कर्मों का नाश नहीं हो सकता और शुद्धनय से जो पदार्थ जैसा है वह वैसा ही समझा जाता है। इसलिए पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को समझाने के कारण शुद्धनय कर्मों को नाश करने वाला है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में कारण है। इसलिए स्वयं मोक्ष को जाने की इच्छा करने वाले श्री आचार्य कहते हैं कि मैं अब इस ग्रन्थ में शुद्धनय का कुछ वर्णन करता हूँ।

प्रथम ही आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जो पुरुष निश्चयनय के अनुगामी हैं वे मोक्ष को जाते हैं—

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्॥९॥

अर्थ—व्यवहारनय तो असत्यार्थभूत कहा गया है और शुद्धनय सत्यार्थभूत कहा गया है और जो मुनि शुद्धनय के आश्रित हैं वे मुनि मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—अखंड पदार्थ को खंड रीति से जानना यह जो व्यवहारनय का विषय है। वह सत्यार्थभूत नहीं है। इसलिए व्यवहारनय भी सत्यार्थभूत नहीं है अतः जो जीव इस नय का आश्रय करते हैं उनको संसार में ही रुकना पड़ता है, मोक्ष को नहीं जाते। किन्तु जो जीव शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करते हैं उनको मोक्षपद की प्राप्ति होती है क्योंकि जो पदार्थ जैसा है वह शुद्ध निश्चयनय से उसी रीति से जाना जाता है। इसलिए जो जीव मोक्ष के अभिलाषी हैं उनको शुद्ध निश्चयनय का ही आश्रय करना चाहिए और यदि संसार में भटकना हो तो उनको संसार के प्रधान कारण व्यवहारनय का अवलम्बन करना चाहिए।

व्यवहारनय से तो तत्त्व का स्वरूप कुछ कह सकते हैं किन्तु निश्चयनय से तत्त्व अवाच्य है इस बात को आचार्य बतलाते हैं—

तत्त्वं वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम्।
गुणपर्ययादिविवृतेः प्रसरति तच्चापि शतशाखम्॥१०॥

अर्थ—निश्चयनय से तो तत्त्व वाणी के अगोचर है अर्थात् वचन से उसके स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते किन्तु वही तत्त्व व्यवहारनय की अपेक्षा से वाच्य है अर्थात् वचन से उसको कुछ कह सकते

हैं और पीछे वह तत्त्व गुणपर्याय आदि के विवरण से सैकड़ों शाखा रूप में परिणत हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही वृक्ष शाखा-प्रशाखाओं से अनेक प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार यद्यपि निश्चयनय से आत्मा अवाच्य तथा एक है तो भी व्यवहारनय से वह वाच्य अर्थात् वचन द्वारा वर्णन करने योग्य है। तथा गुण, पर्याय आदि भेदों से अनेक प्रकार का है।

व्यवहारनय भी हेय नहीं है किन्तु उपादेय और पूज्य है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

[१]मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यतः संतः।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्या॥११॥

अर्थ—मुख्य जो शुद्धनय उसमें उपचार से है विवरण जिसका ऐसा व्यवहारनय है उसकी सहायता से सज्जन पुरुष शुद्ध तत्त्व उसका अवलम्बन करते हैं इसलिए व्यवहारनय भी पूज्य ही है।

भावार्थ—यह भली-भाँति अनुभव है कि जन्म लेते ही जीव इतने बुद्धिमान् नहीं होते जो कि बिना प्रयास के ही वे असली तत्त्व को समझ लेवें, किन्तु उपदेश आदि के बल से ही उनको असली तत्त्व समझाया जाता है और असली तत्त्व का जो स्वरूप है वह व्यवहारनय को अवलम्बन करके समझाया जाता है। इसलिए असली तत्त्व के आश्रय करने में व्यवहारनय भी अवश्य कारण है अतः व्यवहारनय पूज्य ही है किन्तु हेय नहीं।

अब आचार्य निश्चय रत्नत्रय संसार का नाशक है इस बात को दिखाते हैं—

आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम्॥१२॥

अर्थ—आत्मा में जो निश्चय बोध स्थितिरूप रत्नत्रय हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय है वह संसार के नाश के लिए होता है और वह रत्नत्रय कोई जुदा पदार्थ नहीं हैं, किन्तु जिन भव्यजीवों की बुद्धि भूतार्थमार्ग में स्थित है अर्थात् शुद्ध निश्चयनय को आश्रय करने वाली है उन भव्यजीवों की आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप जो रत्नत्रय उस रत्नत्रयरूप है।

भावार्थ—जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय उस रत्नत्रयरूप जो आत्मा उस आत्मा का ध्यान करते हैं वे समस्त दुखों से छूट जाते हैं और सीधे मुक्ति को जाते हैं। इसलिए मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही रत्नत्रयस्वरूप आत्मा का आराधन करना चाहिए।

---

१. क. पुस्तक में मुख्योपचारविवृतिम् यह भी पाठ है तथा इस पाठ में इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि मुख्य जो शुद्धनय और उपचार जो व्यवहारनय इन दोनों के स्वरूप को व्यवहारनय की सहायता से जानकर भव्यजीव शुद्धतत्त्व का आश्रय करते हैं इसलिए व्यवहारनय भी पूज्य ही है हेय नहीं है।

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय आत्मा का अखंडरूप है इस बात को आचार्य बतलाते हैं–

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपम्।
तत्तत्र तत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः॥१३॥

अर्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्मा के अखंडरूप हैं इसलिए आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष परमात्मा में लीन हैं अर्थात् परमात्मा के आराधक हैं उनको सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति होती है और वे कृतकृत्य हो जाते हैं।

भावार्थ–जो मनुष्य आत्मा के आराधन करने वाले हैं उनको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिक आत्मा से भिन्न नहीं हैं, आत्मा के ही अखंड स्वरूप हैं और सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति से वे मनुष्य कृतकृत्य हो जाते हैं अर्थात् उनको संसार में कोई भी काम करने के लिए बाकी नहीं रहता। इसलिए जो मनुष्य कृतकृत्य होना चाहते हैं उनको अवश्य ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति करनी चाहिए।

अब आचार्यवर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के स्वरूप को कहते हैं–

अग्नाविवोष्णभावः सम्यग्बोधेऽस्ति दर्शनं शुद्धम्।
ज्ञातं प्रतीतमाभ्यां सत्स्वास्थ्यं भवति चारित्रम्॥१४॥

अर्थ–जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है उसी प्रकार से आत्मा में ज्ञान हैं इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति है इसका नाम सम्यग्दर्शन है और आत्मा का जो भलीभाँति ज्ञान है उसको निश्चयज्ञान कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित आत्मा, उस आत्मा में समीचीन स्वस्थता उसको चारित्र कहते हैं।

भावार्थ–आत्मा में निश्चल रीति से जो श्रद्धान है उसको तो सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसी आत्मा का जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में जो स्थिति है उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

अब आचार्य सम्यग्दर्शन आदि की सफलता का वर्णन करते हैं–

विहिताभ्यासा [१]बहिरर्थवेध्यसम्बन्धतो दृगादिशराः।
सफलाः शुद्धात्मरणे छिन्दितकर्मारिसंघाताः॥१५॥

अर्थ–बाह्य पदार्थ वे ही हुए बेध्य (निशान) उनके सम्बन्ध से किया गया है अभ्यास जिनका ऐसे जो सम्यग्दर्शन आदिक बाण हैं वे शुद्धात्मारूपी संग्राम में समस्त कर्मरूपी बैरियों को नाश करने में सफल होते हैं।

भावार्थ–नाना प्रकार के निशानों को मार-मार कर जिस बाण का अभ्यास किया गया है ऐसा वह बाण जिस समय बैरी का छेद करता है उस समय जिस प्रकार सफल समझा जाता है उसी प्रकार जिस समय सम्यग्दर्शन आदि के होते हुए समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं उस समय सम्यग्दर्शन आदिक

१. क. पुस्तक में ''बहिरर्थसम्बन्धिनः'' यह भी पाठ है।

सफल समझे जाते हैं।

सम्यग्ज्ञान की जब तक प्राप्ति नहीं होती है तब तक कदापि जीव सिद्ध नहीं हो सकता इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु॥१६॥

अर्थ—समस्त प्रकार की हिंसाओं से रहित और अकेला तथा समस्त प्रकार के उपद्रवों को (विघ्नों को) सहन करने वाला मुनि वृक्ष के समान वन में स्थित भी सम्यग्ज्ञान के बिना कभी भी सिद्ध नहीं बन सकता।

भावार्थ—जब तक मुनि सम्यग्ज्ञान को नहीं प्राप्त कर लेता तब तक चाहे वह हिंसा का त्यागी क्यों न हो और वह वन में अकेला ही क्यों न रहता हो तथा समस्त प्रकार के उपसर्गों को भलीभाँति सहने वाला क्यों न हो कभी भी सिद्ध पदवी को नहीं पा सकता। इसलिए सिद्धपद के अभिलाषियों को चाहिए कि वे सबसे पहले सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करें।

शुद्ध नय में स्थित कौन पुरुष हो सकता है, इस बात को आचार्यवर समझाते हैं—

अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमभ्रमोपेतः ।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य भ्रमरहित होकर आत्मा को अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, अयुत, अविशेष मानता है वही पुरुष शुद्धनय में स्थित है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्धनय का अवलम्बन करने वाला है वह मनुष्य, जिस प्रकार जल में पड़ा हुआ भी कमल का पत्र जल से अस्पृष्ट है अर्थात् जल के स्पर्श से रहित है उसी प्रकार आत्मा भी कर्मों के स्पर्श से रहित है अर्थात् विमुक्त है ऐसा देखता है तथा आत्मा कर्मों के बंधन से रहित है अर्थात् एक है यह भी देखता है और आत्मा कर्मस्वरूप नहीं है कर्मों से भिन्न है यह भी वह देखता है और आत्मा अविशेष है अर्थात् कर्मों द्वारा किए हुए जो मनुष्य, देव आदि नाना प्रकार के विशेष, उन से रहित है ऐसा भी देखता है।

नाटक समयसारकलशाभिषेक में भी कहा है—

''भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१॥''

अर्थ—जो कुछ जीव सिद्ध हुए हैं वे जीव स्वपर भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कुछ जीव बंधे हैं वे स्वपर भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हैं। इसलिए सिद्ध बनने की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को अवश्य ही भेदविज्ञान की ओर दृष्टि देनी चाहिए।

जो शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसको तो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है और जो अशुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसको अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। इस बात को आचार्य बतलाते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लौहं नरः कटकम्॥१८॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य सुवर्ण से सुवर्णमय ही कढ़ाई को बनाता है और लोह से लोहमय कढ़ाई को ही बनाता है। उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्धात्मा का ध्यान करता है उसको तो शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसको अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यह नियम है कि जिस प्रकार का कारण होता है कार्य भी उसी प्रकार का होता है। सुवर्ण से सुवर्णमय पात्र की तथा लोह से लोहमय पात्र की ही क्यों उत्पत्ति होती है? उसका कारण यही है कि उन दोनों का कारण सुवर्ण तथा लोहा है उसी प्रकार शुद्धात्मा की प्राप्ति में कारण शुद्धात्मा का ध्यान है और अशुद्धात्मा की प्राप्ति में अशुद्धात्मा का ध्यान है इसलिए जो मनुष्य शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं उनको तो शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं उनको अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है। अतः जो मनुष्य शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उनको शुद्ध आत्मा का ही ध्यान मनन करना चाहिए।

चारित्र से शुद्ध यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रहें तो जन्म नहीं हो सकता इस बात को आचार्य कहते हैं—

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशम्॥१९॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यक्चारित्र से शुद्ध जिस समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते हैं उस समय जन्म कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ—जब तक सूर्य का उदय नहीं होता है तभी तक निशा का अंधकार आकाश में व्याप्त रहता है किन्तु जिस समय सूर्य का उदय हो जाता है उस समय पलभर में रात्रि का अंधकार दूर भाग जाता है, उसी प्रकार जब तक आत्मा में अखंड सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती तभी तक संसार रहता है अर्थात् संसार में भटकना पड़ता है किन्तु जिस समय निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है, उस समय आत्मा को संसार में भटकना नहीं पड़ता।

मन को नाश कर देना चाहिए इस बात का आचार्य वर्णन करते हैं—

आत्मभुवि कर्मबीजाच्चित्ततरुर्यत्फलं फलति जन्म।
मुक्त्यर्थिना स दाह्यो भेदज्ञानोग्रदावेन ॥२०॥

अर्थ—आत्मारूपी भूमि में कर्मरूपी बीज से उत्पन्न हुआ मनरूपी वृक्ष, संसाररूपी फल को फलता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि जिनको जन्म से मुक्त होने की इच्छा है अर्थात् जो मुमुक्षु हैं उनको चाहिए कि वे भेदज्ञानरूपी जाज्वल्यमान अग्नि से उस चित्तरूपी वृक्ष को जलावें।

भावार्थ—जिस प्रकार भूमि में उत्पन्न हुआ वृक्ष फल को देता है उसी प्रकार जिस समय मन की सहायता से इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं उस समय नाना प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध आत्मा में होता है और फिर कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा को संसार में भटकना पड़ता है। इसलिये संसार को पैदा करने वाला मन ही है अत: भव्य जीवों को चाहिए कि वे इस मन को स्वपर के विवेक से सर्वथा नष्ट करें।

आत्मा को कर्म अशुद्ध बनाते हैं तो भी भव्य जीवों को भय नहीं करना चाहिए इस बात को आचार्य कहते हैं—

अमलात्मजलं समलं करोति मम कर्मकर्दमस्तदपि।
का भीति: सति निश्चितभेदकरज्ञानकतकफले॥२१॥

अर्थ—यद्यपि कर्मरूपी कीचड़ अत्यन्त निर्मल भी मेरे आत्मारूपी जल को गंदा करते हैं तो भी मुझे कोई भय नहीं क्योंकि निश्चय से स्वपर के भेद को करने वाला ज्ञानरूपी कतक (फिटकरी) फल मेरे पास मौजूद है।

भावार्थ—जिस प्रकार गंदे जल में यदि फिटकरी छोड़ दी जावे तो वह फिटकरी शीघ्र ही उस जल में रहे हुए कीचड़ को नष्ट कर देती है और जल को निर्मल बना देती है। उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा को मलिन कर रहे हैं तो भी स्वपर के भेदज्ञान से वह कर्मों से की हुई मलिनता पलभर में नष्ट हो जाती है। इसलिए यदि मेरी आत्मा में स्वपर का भेदविज्ञान है तो चाहे जितना कर्म मेरी आत्मा को मलिन करें मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है, ऐसा भेदज्ञानी सदा विचार करता रहता है।

और भी आचार्य कहते हैं—

अन्योहमन्यमेतच्छरीरमपि किं पुनर्न बहिरर्था:।
व्यभिचारी यत्र सुतस्तत्र किमरय: स्वकीया: स्यु:॥२२॥

अर्थ—मैं अन्य हूँ और यदि यह शरीर भी मुझसे अन्य है तो बाह्य जो स्त्री-पुत्र आदिक पदार्थ हैं वे तो मुझसे अवश्य ही भिन्न हैं क्योंकि यदि संसार में अपना पुत्र ही अनिष्ट का करने वाला हो जावे तो बैरी भी मेरे नहीं हो सकते अर्थात् वे तो अवश्य ही मेरे अनिष्ट के करने वाले होंगे।

भावार्थ—संसार में सबसे स्वकीय (अपना) पुत्र समझा जाता है। यदि वह भी मुझे दुख का देने वाला हो जावे और मेरे अनिष्टों का करने वाला हो जावे तो बैरी तो अवश्य ही अनिष्ट के करने

वाले होंगे क्योंकि वे पहले से ही स्वकीय (अपने) नहीं हैं। उसी प्रकार संसार में सबसे अधिक अपना सम्बन्धी शरीर है यदि वह भी आत्मा से भिन्न है तो स्त्री-पुत्र आदिक तो अवश्य ही भिन्न हैं ऐसा समझना चाहिए।

और भी आचार्यवर आत्मा, शरीर से जुदा है इस बात को बताते हैं—

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम्।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम्॥२३॥

अर्थ—यदि झोपड़ी में अग्नि लग जावे तो वह झोपड़े में लगी हुई अग्नि झोपड़े को ही जलाती है किन्तु उसके मध्य में रहे हुए आकाश को नहीं। उसी प्रकार जो शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं वे रोग उस शरीर को ही नष्ट करते हैं किन्तु उस शरीर में रहे हुए निर्मल ज्ञानमय आत्मा को नष्ट नहीं करते।

भावार्थ—जिस प्रकार अमूर्तिक आकाश का मूर्तिक अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती किन्तु वह मूर्तिक झोपड़े को ही जलाकर नष्ट कर देती है। उसी प्रकार आत्मा तो अमूर्तिक और निर्मल ज्ञानमय है इसलिए मूर्तिक शरीर के धर्म जो रोग आदिक हैं वे इस आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते किन्तु वे शरीर के ही नाश करने वाले होते हैं। इसलिए शरीर में रोग आदि के होने पर सज्जन पुरुषों को कभी भी नहीं डरना चाहिए।

क्षुधा आदिक जो दुख हैं वे शरीर में ही होते हैं इस बात का आचार्यवर वर्णन करते हैं—

वपुराश्रितमिदमखिलं क्षुधादिभिर्भवति किमपि यदसातम्।
नो निश्चयेन तन्मे यदहं बाधाविनिर्मुक्तः॥२४॥

अर्थ—भूख-प्यास आदि कारणों से जो दुख होता है वह समस्त दुख मेरे शरीर में ही होता है और निश्चयनय से वह शरीर मेरा नहीं है क्योंकि मैं समस्त प्रकार की बाधाओं से रहित हूँ।

भावार्थ—मैं तो निर्मल ज्ञानस्वरूप हूँ और शरीर जड़ पदार्थ है इसलिए वह मुझसे भिन्न है। यदि असातावेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा-तृषा आदि कारणों से दुख भी होवे तो वह दुख शरीर में होता है मुझे कोई दुख नहीं होता क्योंकि मैं समस्त प्रकार के दुखों से रहित हूँ।

क्रोध-मान आदिक भी आत्मा के धर्म नहीं हैं इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किन्तु कर्मसम्बन्धात्।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात्॥२५॥

अर्थ—जिस प्रकार लाल फूल के आश्रय से स्फटिक मणि लाल हो जाती है उसी प्रकार आत्मा में कर्म के सम्बन्ध से क्रोध आदि विकार पैदा हो जाते हैं, किन्तु वे क्रोधादि विकार आत्मा के विकार नहीं हैं।

भावार्थ—स्फटिकमणि स्वभाव से लाल नहीं है किन्तु उसका तो सफेद ही स्वभाव है परन्तु जिस समय उसके पास लाल फूल रख दिया जाता है तो उस लाल फूल के सम्बन्ध से वह भी लाल हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा स्वभाव से न तो क्रोधी है और न मानी, लोभी आदिक ही है किन्तु कर्मों के सम्बन्ध से वह क्रोधी, लोभी बन जाता है। इसलिए क्रोध आदि विकार आत्मा के विकार नहीं हैं किन्तु कर्मों के ही विकार हैं।

कर्मों से उत्पन्न हुए विकल्प भी शुद्ध आत्मा में नहीं हैं इस बात को आचार्य समझाते हैं—

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति॥२६॥

अर्थ—मुख के संयोग से उत्पन्न हुए विकार अर्थात् मलिन मुख के सम्बन्ध से जिस प्रकार दर्पण मलिन नहीं होता उसी प्रकार कर्म चाहे कितने ही विकल्प क्यों न करे किन्तु अत्यन्त शुद्धस्वरूप मुझ आत्मा का वे विकल्प कुछ नहीं कर सकते।

भावार्थ—जिस प्रकार मलिन मुख के सम्बन्ध से दर्पण मलिन नहीं होता, वह स्वच्छ ही बना रहता है। उसी प्रकार कर्मों से पैदा हुए नाना प्रकार के विकल्पों से मेरा आत्मा विकल्पी नहीं बन सकता, वह तो निर्मल ही रहेगा।

और भी आचार्य इसी विषय में कहते हैं—

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम्।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित्॥२७॥

अर्थ—बाह्य स्त्री, पुत्र आदि उपाधि तो दूर रही किन्तु शरीर, वचन और विकल्प भी मुझसे भिन्न हैं क्योंकि शरीर, वचन और विकल्प भी कर्म से किए गये हैं। मैं विशुद्ध हूँ इसलिए मेरा कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—जो कुछ कर्मों द्वारा की हुई उपाधि हैं वे समस्त उपाधि मुझसे भिन्न ही हैं। मेरी कोई भी नहीं हैं क्योंकि जिनसे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है ऐसे शरीर, वचन आदिक भी जब मुझसे भिन्न हैं तो स्त्री, पुत्र आदिक सर्वथा भिन्न मेरी आत्मा से भिन्न ही हैं।

कर्म तथा कर्मों से किए हुए सुख-दुःखादिक भी भिन्न हैं इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः॥२८॥

अर्थ—कर्म भी भिन्न हैं और कर्मों के जो सुख-दुख आदि कार्य हैं, वे भी भिन्न हैं और उन कर्मों के सुख दुख आदि कार्यों में निश्चय से मोही जीव ही हर्ष-विषाद करता है अन्य नहीं।

भावार्थ—जिस मनुष्य को हिताहित का विवेक नहीं है अर्थात् जो मोही है। वह मनुष्य ज्ञानावरणादि कर्मों को भी अपना मानता है और कर्मों के कार्य को भी अपना मानता है। इसलिए जिस

समय सातावेदनीयकर्म के उदय से कुछ सुख होता है उस समय हर्ष मानता है तथा असातावेदनीय कर्म के उदय से जिस समय दुख होता है उस समय विषाद करता है अर्थात् दुख मानता है किन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान् है अर्थात् जिस मनुष्य को यह वस्तु मेरे हित को करने वाली है और यह वस्तु मेरे अहित को करने वाली है इस बात का ज्ञान है, वह मनुष्य कर्म तथा कर्मों के कार्य को अपना नहीं मानता और सातावेदनीय कर्म के उदय से जिस प्रकार कुछ सुख होता है उस समय हर्ष नहीं मानता और जिस समय असातावेदनीय कर्म के उदय से दुख होता है उस समय विषाद नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि कर्म तथा कर्मों के जितने भी कार्य हैं, वे सब जड़ हैं और मैं चेतन हूँ इसलिए वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

मोक्ष का अभिलाषी पुरुष ही कुछ सुखी है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम्।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति॥२९॥

अर्थ—जिस प्रकार कर्म आत्मा का स्वरूप नहीं हैं उसी प्रकार उस कर्म का जो सुख-दुख आदि कार्य, उनकी जो कल्पना, उनका समूह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिए उन कर्मों में तथा कर्म के कार्य जो सुख-दुख आदिक हैं उनमें, जो मोक्ष की इच्छा करने वाला भव्यजीव आत्मबुद्धि से रहित है अर्थात् उनको अपना नहीं मानता है वही आत्मा (भव्यजीव) संसार में सुखी है।

भावार्थ—जब तक जीव अपने से सर्वथा भिन्न जो कर्म तथा कर्मों के सुख दुख आदि कार्य हैं उनको अपना मानता है तब तक उसको रंचमात्र भी सुख नहीं होता क्योंकि कर्म तथा कर्मों के कार्यों को अपनाने के कारण उसको संसार में भटकना पड़ता है और भटकने से उसको अनन्त नरकादि दुखों का सामना करना पड़ता है, किन्तु मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्य जीव कर्म तथा कर्मों के कार्य को अपनाते नहीं हैं अतः उनको ही सुख की प्राप्ति होती है अर्थात् वे ही सुखी होते हैं इसलिए मोक्षाभिलाषियों को चाहिए कि वे पर पदार्थों में आत्मबुद्धि न करें।

और भी आचार्यवर कर्म की भिन्नता का वर्णन करते हैं—

कर्मकृतकार्यजाते कर्मैव विधौ तथा निषेधे च।
नाहमतिशुद्धबोधो विधूतविश्वोपधिर्नित्यम्॥३०॥

अर्थ—कर्म द्वारा किए हुए जो सुख-दुःखरूप कार्य उन कार्यों के विधान में तथा निषेध में कर्म ही है अर्थात् कर्म ही कर्ता है किन्तु अत्यन्त निर्मल ज्ञान का धारी मैं नहीं हूँ क्योंकि मैं सदा समस्त प्रकार के, कर्मों से पैदा हुई जो उपाधियाँ उनसे रहित हूँ।

भावार्थ—कर्म के द्वारा जो राग, द्वेष, सुख, दुख, आदि कार्य होते हैं उन समस्त कार्यों का कर्ता, कर्म ही है किन्तु मेरी आत्मा उन सुख-दुख आदि कार्यों का कर्ता नहीं है क्योंकि मेरी आत्मा अत्यन्त शुद्ध

ज्ञान का धारी है और सदा समस्त प्रकार की जो कर्मजनित उपाधियाँ हैं उन उपाधियों से रहित है।

बाह्य विकारों को भी मोही जीव सदा आत्मस्वरूप ही मानता है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

बाह्यायामपि विकृतौ मोही जागर्ति सर्वदात्मेति।
किं नोपभुक्तहेमो [१]हेम ग्रावाणमपि मनुते॥३१॥

अर्थ—जो मनुष्य धतूरे को खा लेता है उस मनुष्य को जिस प्रकार पत्थर भी सोना मालूम पड़ता है उसी प्रकार जो मनुष्य मोही है अर्थात् जिस मनुष्य को हिताहित का ज्ञान नहीं है वह मनुष्य बाह्य स्त्री, पुत्र आदि विकृति को आत्मा ही मानता है।

भावार्थ—धूलि, मिट्टी, पत्थर आदिक पदार्थ यद्यपि सुवर्ण नहीं हैं किन्तु जिस मनुष्य ने धतूरा पी लिया है उसको वे सुवर्ण ही मालूम पड़ते हैं उसी प्रकार यद्यपि निश्चयनय से स्त्री, पुत्र, धन, धान्य पदार्थ जड़ पदार्थ हैं इसलिए अपने नहीं हैं तो भी जिन मनुष्यों की आत्मा पर प्रबल मोहरूपी पर्दा पड़ा हुआ है उनको वे सब विपरीत ही सूझते हैं अर्थात् मोही मनुष्य उन सबको अपना ही मानता है।

मोक्ष की इच्छा करने वाला मनुष्य इस बात का विचार करता रहता है—

सति द्वितीये चिन्ता कर्म ततस्तेन वर्तते जन्म।
एकोऽस्मि सकलचिन्तारहितोऽस्मि मुमुक्षुरिति नियतम्॥३२॥

अर्थ—द्वितीय वस्तु के होते हुए तो चिंता होती है और चिन्ता से कर्मों का आगमन होता है और कर्मों से जन्म होता है। इसलिए निश्चय से मोक्ष की इच्छा करने वाला मैं अकेला हूँ तथा समस्त प्रकार की चिंताओं से रहित हूँ।

भावार्थ—यह नियम है कि संसार में जो जीव दु:खित हैं वे कर्मों से बंधे हुए हैं इसीलिए दु:खित हैं और आत्मा के साथ जो कर्मों का बंध है वह चिंता से है और वह चिंता द्वितीय पदार्थों के होते हुए ही होती है। इसीलिए मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता रहता है कि निश्चय से मैं अकेला हूँ और समस्त प्रकार की चिंताओं से भी रहित हूँ।

और भी मोक्षाभिलाषी इस प्रकार का विचार करता रहता है—

यादृश्यपि तादृश्यपि परतश्चिंता करोति खलु बन्धम्।
किं मम तया मुमुक्षोः परेण किं सर्वदैकस्य[२]॥३३॥

अर्थ—चिंता जिस-जिस प्रकार की होती है उस-उस प्रकार की वह समस्त चिंता बंध को ही करने वाली होती है। मैं तो मोक्ष की इच्छा करने वाला हूँ इसलिए मुझे उस चिंता से क्या प्रयोजन है और मैं तो सदा एक हूँ इसलिए मुझे दूसरे पदार्थों से भी क्या प्रयोजन है।

---

१. हेमं। २. प्रयोजनं न।

भावार्थ—चिंता दो प्रकार की है एक तो शुभचिंता, दूसरी अशुभचिंता। उनमें शुभचिंता तो उसे कहते हैं जो शुभपदार्थों की चिंता की जाये, जिस प्रकार तीर्थंकर के आसन, आकार आदिक की और अशुभचिंता उसे कहते है जो अशुभ पदार्थों की चिंता की जाए जिस प्रकार स्त्री, पुत्र आदिक की चिंता, किन्तु ये दोनों ही चिंता बंध की ही कारण हैं क्योंकि शुभचिंता के करने से शुभकर्मों का बंध होता है और अशुभचिंता के करने से अशुभकर्मों का बंध होता है और पीछे संसार में भटकना पड़ता है। इसलिए मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता है कि मैं मुमुक्षु हूँ इसलिए मुझे चिंता से क्या प्रयोजन है और मैं सदा अकेला हूँ इसलिए मुझसे पर जो स्त्री, पुत्र, मित्र आदिक पदार्थ हैं उन पदार्थों से भी क्या प्रयोजन है।

मैं निर्मल ज्ञानस्वरूप तथा निर्विकार हूँ ज्ञानी इस बात का विचार करता है इस बात को आचार्य कहते हैं—

मयि चेतः परजातं तच्च परं कर्मविकृतिहेतुरतः।
किं तेन निर्विकारः केवलमहममलबोधात्मा॥३४॥

अर्थ—मेरी आत्मा में जो मन है वह मुझसे भिन्न है क्योंकि वह परपदार्थ से उत्पन्न हुआ है और जिससे मन उत्पन्न हुआ है ऐसा वह कर्म भी मुझसे भिन्न है क्योंकि वह विकार का करने वाला है और मैं तो निश्चय से विकार रहित हूँ और निर्मलज्ञान का धारी हूँ।

भावार्थ—यदि मन, पर न होता और कर्म, विकारों के करने वाले न होते तब तो मैं उनको अपना मानता किन्तु मन तो मुझसे सर्वथा पर है क्योंकि वह जड़कर्म से पैदा हुआ है और कर्म मुझे विकृत करने वाला है अर्थात् मेरे ज्ञानादि गुणों का घात करने वाला है इसलिए मैं उन दोनों को अपना कैसे मानूँ? इसलिए मैं तो विकार रहित हूँ तथा निर्मलज्ञान का धारी हूँ अर्थात् निर्मलज्ञानस्वरूप हूँ।

मोक्षाभिलाषियों को समस्त प्रकार की चिंताओं का त्याग कर देना चाहिए इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

त्याज्या सर्वा चिन्तेति बुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम्।
चन्द्रोदयायते यच्चैतन्यमहोदधौ झटिति॥३५॥

अर्थ—समस्त प्रकार की चिंता त्यागने योग्य हैं जिस समय इस प्रकार की बुद्धि होती है उस समय वह बुद्धि उस तत्त्व को प्रकट करती है जो तत्त्व चैतन्यरूपी प्रबल समुद्र में शीघ्र ही चन्द्रमा के समान आचरण करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार समस्त चिंताएं त्यागने योग्य हैं इस प्रकार की बुद्धि भी उस तत्त्व को प्रकट करती है कि जिस तत्त्व की प्रकटता से चैतन्यतत्त्व सदा बढ़ता ही चला जाता है। इसलिए मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही समस्त चिंताओं का त्याग कर देना चाहिए।

और भी आचार्यवर चैतन्य के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

चैतन्यमसम्पृक्तं कर्मविकारेण यत्तदेवाहम्।
तस्य च संसृतिजन्मप्रभृति न किंचित्कुतश्चिंता॥३६॥

अर्थ—जो चैतन्य, कर्मों के विकारों से अलिप्त है, वही चैतन्य मैं हूँ और उस चैतन्य का संसार में जन्म-मरण आदिक कुछ भी नहीं है फिर किससे चिंता करनी चाहिए।

भावार्थ—यदि चैतन्य में जन्म मरण आदिक होते तो चिंता होती किन्तु चैतन्य में तो न जन्म है और न मरण है और वह चैतन्य राग-द्वेष आदिक जो कर्मों के विकार हैं उनसे अलिप्त है और उसी चैतन्यस्वरूप मैं हूँ। इसलिए मुझे चिंता नहीं करनी चाहिए।

मन को वश में रखना चाहिए इस बात को आचार्य दिखलाते हैं—

चित्तेन कर्मणा त्वं बद्धो यदि बध्यते तया तदतः।
प्रतिबन्दीकृतमात्मन् मोचयति त्वां न सन्देहः॥३७॥

अर्थ—अरे आत्मा तू इस मन की कृपा से कर्मों से बंधा हुआ है यदि तू इस मन को बांध ले अर्थात् मन को वश में कर ले तो इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि बंधा हुआ तू छूट जायेगा।

भावार्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि तेरा सबसे अधिक बैरी मन है क्योंकि जब तक यह मन वश में नहीं होता तब तक इसी की कृपा से नाना प्रकार के कर्म आते हैं और तुझे बांधते हैं और इसी की कृपा से तू इस समय भी कर्मों से बंधा हुआ है यदि अब भी इसको वश में कर ले तो कर्मों से तू बंध नहीं सकता इसमें कुछ भी संदेह नहीं। इसलिए तुझे मन को अवश्य ही बांधना चाहिए।

मन को इस रीति से समझाना चाहिए—

नृत्वतरोर्विषयसुखच्छायालाभेन किं मनःपान्थ।
भवदुःखक्षुत्पीडित तुष्टोऽसि गृहाण फलममृतम्॥३८॥

अर्थ—''संसार का दुःखरूप जो क्षुधा उससे दुःखित हुआ अरे मनरूपी बटोही'' तू क्यों मनुष्यरूपी वृक्ष से विषयसुखरूपी छाया के लाभ से संतुष्ट है। अमृतफल को ग्रहण कर।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई पथिक अत्यन्त बुभुक्षित होकर वृक्ष के नीचे बैठे और उस वृक्ष पर लगे हुए फल खाने का प्रयत्न न करता हो तो कोई हितैषी मनुष्य वहाँ आकर उसको इस रीति से समझाये कि अरे भाई तू इस वृक्ष की छाया मात्र के लाभ से क्यों संतुष्ट हो रहा है इस वृक्ष पर से उत्तम फलों को तोड़कर उनको खा जिससे तेरी भूख की शान्ति होवे उसी प्रकार आत्मा मन को समझाता है कि अरे मन तू संसार के दुखों से पीड़ित हुआ इस मनुष्य जन्म में इन्द्रियों के विषयों के लाभ से ही क्यों वृथा संतुष्ट हो रहा है अरे इस मनुष्य जन्म से ही प्राप्त होने वाले अमृतरूपी फल को प्राप्त कर अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का न तो जन्म है और न मरण है ऐसे उस मोक्षपद की ओर दृष्टि लगा

क्योंकि विषयों के लाभ से सन्तुष्ट होकर तू संसार में ही भटकेगा और नाना प्रकार के दुखों को उठायेगा इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

मुनियों का चित्त निरालम्ब मार्ग का ही अवलम्बन करता है इस बात को आचार्य समझाते हैं–

स्वान्तं ध्वान्तमशेषं दोषोज्झितमर्कबिम्बमिव मार्गे।
विनिहन्ति निरालम्बे संचरदनिशं मुनीशानाम्॥३९॥

अर्थ–समस्त दोषों से रहित सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान मुनीश्वरों का मन निरालम्ब मार्ग में ही गमन करता है तथा निरालम्ब मार्ग में गमन करने के कारण वह समस्त अंधकार को दूरकर देता है।

भावार्थ–जिस प्रकार सूर्य आकाश में गमन करता है और जब तक वह बादलों के समूह से ढँका नहीं जाता तथा राहु से ग्रसा नहीं जाता उस समय वह समस्त अंधकार को नाश कर देता है। उसी प्रकार मुनियों का चित्त जिस समय समस्त दोषों से रहित होता है तथा जिसमें कोई अवलम्बन नहीं ऐसे मार्ग में अर्थात् निर्विकल्प मार्ग में गमन करता है उस समय वह मुनियों का चित्त भी समस्त अज्ञानादि अंधकार को दूर कर देता है।

अपने चैतन्यस्वरूप को देखने वाला योगी सिद्ध होता है। इस बात को आचार्य समझाते हैं–

संविच्छिखिना गलिते तनुमूषाकर्ममदनमयवपुषि।
स्वमिव स्वं चिद्रूपं पश्यन् योगी भवति सिद्धः॥४०॥

अर्थ–सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि, जिस समय शरीररूपी मूषा, उसमें कर्मरूपी मोममय शरीर, वह पिघल कर निकल जाता है उस समय जो योगी आकाश के समान अपने चैतन्यरूप को देखता है वही योगी सिद्ध होता है।

भावार्थ–एक मिट्टी का मनुष्याकार पात्र बनाया जाए तथा उसके भीतर मोम भर दिया जाये और पीछे वह आँच से तपाया जाए उस समय जिस प्रकार उस मोम के निकल जाने पर उस मूषा में मनुष्याकार आकाश के प्रदेश रह जाते हे उसी प्रकार यह शरीर तो मूषा है और कर्म मोम है और सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि है, इनमें से जिस समय सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि से कर्म सर्वथा नष्ट कर दिये जाते है उस समय जो कुछ उस शरीर के अमूर्तिक प्रदेश रह जाते हैं वे आत्मा के प्रदेश हैं अर्थात् उन्हीं का नाम आत्मा है इसलिए जो मनुष्य उस आत्मा का ध्यान करते हैं वे सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनको नरक आदि गतियों में भ्रमण नहीं करना पड़ता।

सारार्थ–जो भव्य जीव समस्त कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप उन सिद्धों का ध्यान करते हैं उनको सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

मैं ही चैतन्यस्वरूप हूँ इस बात को आचार्य दिखाते हैं–

अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत्किमपि जडत्वात्प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ॥४१॥

अर्थ—मैं ही चैतन्यस्वरूप हूँ और मेरे चैतन्यस्वरूप का आश्रय वह चैतन्य ही है और चैतन्य से भिन्न वस्तु चैतन्यस्वरूप नहीं है और न चैतन्य से भिन्न वस्तु मेरे चैतन्य की आश्रय है क्योंकि वे जड़ हैं मेरी प्रीति उनमें नहीं हो सकती, प्रीति समान पदार्थों में ही कल्याण को करने वाली होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि का लक्षण उष्णता है और वह कदापि अग्नि से जुदा नहीं रह सकता। उसी प्रकार आत्मा का लक्षण ज्ञान है और वह कदापि आत्मा से जुदा नहीं रह सकता। इसलिए वह ज्ञानस्वरूप मैं हूँ और मेरे चैतन्यस्वरूप का आश्रय ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य ही है किन्तु चैतन्य से भिन्न अर्थात् जिनमें चेतनता नहीं रहती है ऐसे पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि जो द्रव्य हैं वे मेरा स्वरूप नहीं है और न वे मेरे आधार हैं क्योंकि वे जड़ हैं और मैं चेतन हूँ और पुद्‌गल आदि पदार्थों में मेरी प्रीति भी नहीं हो सकती, क्योंकि वे मेरे समानजातीय नहीं है मेरा समानजातीय तो चैतन्य ही है। इसलिए मेरी प्रीति उसी में ही है और चैतन्य में की हुई प्रीति ही मुझे सुख को दे सकती है और देती है।

स्वपर के विवेक से ही आत्मा पर को छोड़कर शुद्ध होता है ऐसा आचार्यवर दिखाते हैं—

स्वपर विभागावगमे जाते सम्यक् परे परित्यक्ते।
[1]सहजबोधैकरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं शुद्धः॥४२॥

अर्थ—जिस समय आत्मा में स्वपर के विभाग का ज्ञान हो जाता है और त्यागने योग्य जो वस्तु उनका त्याग हो जाता है उस समय स्वाभाविक निर्मल ज्ञान स्वरूप जो अपना रूप है उसमें आत्मा ठहरता है और पीछे स्वयं शुद्ध हो जाता है।

भावार्थ—यह वस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है जब तक इस प्रकार का स्वपर का विवेक आत्मा में नहीं होता है और जब तक आत्मा, पर पदार्थों को नहीं छोड़ता है तब तक आत्मा बाह्य पदार्थों में ही घूमा करता है और स्वरूप में कभी भी स्थिर नहीं रहता इसीलिए शुद्ध भी नहीं होता। किन्तु जिस समय ज्ञान, दर्शन आदिक मेरे हैं और रूप, रस आदिक मेरे नहीं हैं इस प्रकार का आत्मा में विवेक ज्ञान हो जाता है और रूप, रस आदिक जो पर हैं उनसे वह जुदा हो जाता है उस समय वह स्वाभाविक निर्मल ज्ञानरूप अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है और अत्यन्त शुद्ध हो जाता है।

इसी श्लोक के आशय को लेकर समयसार में भी कहा है—

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं
द्वयोरन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः॥

१. क. पुस्तक में ''सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा परं सिद्धः'' यह भी पाठ है इसमें सिद्ध पद का अर्थ शुद्ध ही है।

अर्थ—चैतन्यरूपता और जड़रूपता को धारण करने वाले अर्थात् चेतन और जड़ जो आत्मा और शरीर हैं उनके, विभाग को करके (उनको जुदी-जुदी रीति से जानकर) और अच्छी तरह अंतरंग से, ज्ञान के तथा राग के विभाग को करके अर्थात् ''ज्ञान आत्मा का धर्म है तथा राग शरीर का धर्म है इस बात को भलीभाँति जानकर'' यह निर्मल भेदज्ञान उत्पन्न होता है। इस समय मोक्षाभिलाषी जो भव्यजीव हैं वे शुद्ध ज्ञान वही है, धन का समूह जिसके उसको अर्थात् आत्मा को प्राप्त होकर और परपदार्थों के सम्बन्ध से रहित होकर चिरकाल तक आनंद से रहो।

भावार्थ—स्व तथा पर के विभाग से आत्मा शुद्ध होता है इसलिए भव्य जीवों को स्वपर विभाग की ओर अवश्य लक्ष्य देना चाहिए।

निश्चय कर आत्मा हेयोपादेय के विभाग से भी रहित है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

हेयोपादेयविभागभावना कथ्यमानमपि तत्त्वम्।
हेयोपादेयविभागभावनावर्जितं विद्धि॥४३॥

अर्थ—जो तत्त्व हेय तथा उपादेय की भावना से रहित कहा गया है वह तत्त्व भी निश्चय से हेय तथा उपादेय की भावना से रहित ही है ऐसा समझो।

भावार्थ—जड़रूप जो परतत्त्व है वह तो हेय है और चैतन्यरूप जो स्वतत्त्व है वह उपादेय है। इस प्रकार स्वपर विभाग की भावना से जो चैतन्य तत्त्व का वर्णन किया गया है वह तत्त्व भी वास्तविक रीति से हेय तथा उपादेय की भावना से रहित ही है क्योंकि जिस समय शुद्ध निश्चयनय का आश्रय किया जाता है उस समय निर्विकल्पक अवस्था होती है तथा उस अवस्था में हेय-उपादेय आदिक कोई भी किसी प्रकार का विकल्प नहीं होता।

शुद्धात्मतत्त्व मन के गोचर नहीं हैं इस बात को भी आचार्य बतलाते हैं—

प्रतिपद्यमानमपि च श्रुताद्विशुद्धं परात्मनस्तत्त्वम्।
उरीकरोतु चेतस्तदपि न तच्चेतसो गम्यम्॥४४॥

अर्थ—शास्त्र के द्वारा भलीभाँति कहे हुए भी अत्यन्त विशुद्ध परमात्म तत्त्व को चाहे मन, स्वीकार करे तो भी वह मन के गम्य नहीं है अर्थात् मन उसको नहीं जान सकता है।

भावार्थ—यद्यपि शास्त्र ने उस अत्यन्त शुद्ध परमात्मा के स्वरूप का भली-भाँति वर्णन किया है और उस परमात्मतत्त्व को मन ने स्वीकार भी कर लिया है तो भी वह मन के गोचर नहीं है अर्थात् मन उसको भलीभाँति जान नहीं सकता क्योंकि मन सविकल्पक है तथा आत्मा निर्विकल्पक है इसलिए मन उसको कैसे जान सकता है?

अद्वैत भावना से मोक्ष होता है। इस बात का आचार्य वर्णन करते हैं—

अहमेकाक्यद्वैतं द्वैतमहं कर्मकलित इति बुद्धेः।
आद्यमनपायि [१]मुक्तेतरद्विविकल्पं भवस्य परम्॥४५॥

अर्थ—मैं अकेला हूँ इस प्रकार की जो बुद्धि है वह तो अद्वैत बुद्धि है और कर्मों से सहित हूँ इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह द्वैत बुद्धि है इन दोनों बुद्धियों में आदि की जो अविनाशी अद्वैत बुद्धि है, वह तो मोक्ष का कारण है और दूसरी जो द्वैत बुद्धि है वह संसार का कारण है।

भावार्थ—जब तक मैं, तथा अन्य, इस प्रकार का द्वैत भाव रहता है तब तक जीव को संसार में डोलना पड़ता है किन्तु जिस समय में यह द्वैत भाव नष्ट हो जाता है अर्थात् अद्वैत भाव हो जाता है उसी समय जीव मोक्ष को प्राप्त होता है क्योंकि मैं तथा तू इत्यादि विकल्प रहित निर्विकल्पक अवस्था ही का तो नाम मोक्ष है इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को चाहिए कि ''मैं अकेला ही हूँ'' इस प्रकार के अद्वैतभाव का ही चिंतन करें।

द्वैत तथा अद्वैत भाव से रहितपना ही मोक्ष है इस बात को आचार्य बतलाते हैं—

बद्धो मुक्तोऽहमथ द्वैते सति जायते ननु द्वैतम्।
मोक्षायेत्युभयमनोविकल्परहितो भवति मुक्तः॥४६॥

अर्थ—मैं बँधा हुआ हूँ तथा मैं मुक्त हूँ इस प्रकार के द्वैत के होते हुए निश्चय से द्वैत होता है और इस प्रकार के दोनों विकल्पों से रहित जीव मुक्त होता है।

भावार्थ—द्वैत तथा अद्वैत का जिस समय सर्वथा त्याग हो जाता है उसी समय मुक्ति होती है। इसलिए जो जीव मुक्त होना चाहते हैं उनको दोनों प्रकार के विकल्पों के त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए।

निर्विकल्प चित्त से परमानंद की प्राप्ति होती है। इस बात का आचार्यवर वर्णन करते हैं—

गतभाविभवद्भावाभावप्रतिभावभावितं चित्तम्।
अभ्यासाच्चिद्रूपं परमानन्दान्वितं कुरुते॥४७॥

अर्थ—भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल के जो पदार्थ, उनकी भावना से भाया हुआ जो चित्त है वह अभ्यास से चैतन्यरूप को परमानंद से सहित करता है।

भावार्थ—भूत, भविष्यत् जो विकल्प, उनसे रहित भाया हुआ जो चित्त वह चैतन्य को परमानंद से युक्त करता है अर्थात् उस प्रकार की भावना से चित्त अत्यन्त आनंदित हो जाता है।

जो मनुष्य जिस रीति से आत्मा को देखता है उसको उसी प्रकार के आत्मा की प्राप्ति होती है। इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

---

१. मुक्तेतरविकल्पं।

बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत् सदात्मानं।
याति यदीयेन पथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः॥४८॥

अर्थ—जिस प्रकार जो पथिक जिस पुर के मार्ग से गमन करता है वह उसी पुर को प्राप्त होता है। उसी प्रकार जो जीव आत्मा को सदा बँधा हुआ देखता है वह कर्मों से बद्ध ही रहता है और जो पुरुष आत्मा को सदा कर्मों से रहित देखता है वह मुक्त ही होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार जो मनुष्य जिस नगर के मार्ग से गमन करता है वह उसी नगर में पहुँचता है। उसी प्रकार जो मनुष्य जिस प्रकार के आत्मा का आराधन करता है वह उसी प्रकार के आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् यदि वह आत्मा की भावना करने वाला कर्मों से बद्ध आत्मा का ध्यान करेगा तो उसकी आत्मा कर्मों से बद्ध ही रहेगी और यदि वह कर्मों से मुक्त आत्मा का ध्यान करेगा तो उसकी आत्मा मुक्त ही होगी।

मन को इस रीति से शिक्षा देनी चाहिए—

मा गा बहिरन्तर्वा साम्यसुधापानवर्द्धितानन्द।
आस्स्व यथैव तथैव च विकारपरिवर्जितः सततम्॥४९॥

अर्थ—समतारूपी जो अमृत उसके पीने से बढ़ा है आनंद जिसको ऐसा हे मन! तू बाहर तथा भीतर मत गमन कर और जिस रीति से तू समस्त प्रकार के विकारों से रहित है उसी प्रकार से रह।

भावार्थ—जब तक मन जहाँ-तहाँ घूमता फिरता है तब तक साम्यभाव का अनुभव नहीं कर सकता और नाना प्रकारों के विकारों से विकृत हो जाता है किन्तु जिस समय उसका जहाँ-तहाँ घूमना बंद हो जाता है उस समय वह समता का अनुभव करता है तथा विकारों से विकृत भी नहीं होता। इसलिए आचार्यवर इस बात को समझाते हैं कि भव्य जीवों को मन के लिए इस रीति से शिक्षा देनी चाहिए कि हे समतारूपी अमृत के पान से अत्यन्त आनंदित मन, तू बाहर तथा भीतर कहीं भी मत घूमो और जिस प्रकार से बने उस प्रकार से तू समस्त विकार रहित ही रह।

तज्जयति यत्र लब्धे श्रुतभुवि मत्यापगातिधावन्ती।
व्यावृत्ता दूरादपि झटिति स्वस्थानमाश्रयति॥५०॥

अर्थ—जिस चैतन्यरूप तत्त्व के प्राप्त होने पर शास्त्ररूपी भूमि में अत्यन्त दौड़ती हुई बुद्धिरूपी नदी दूर से ही लौटकर शीघ्र ही अपने स्थान को प्राप्त हो जाती है ऐसा वह चैतन्यरूपी तत्त्व सदा इस लोक में जयवंत है।

भावार्थ—जब तक बुद्धि शास्त्र में लगी रहती है तब तक कदापि उस चैतन्य तत्त्व (परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती किन्तु जिस समय चैतन्य की प्राप्ति होने पर बुद्धि शास्त्र से व्यावृत्त हो जाती है अर्थात् शास्त्र में रत जाती है उस समय बुद्धि शीघ्र ही अपने चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होती है। इसलिए

वह चैतन्यरूपी तत्त्व सदा इस लोक में जयवंत है।

और भी आचार्यवर उपदेश देते हैं—

तन्नमत गृहीताखिलकालत्रयजगत्त्रयव्याप्ति।
यत्रास्तमेति सहसा सकलोऽपि हि वाक्परिस्पन्दः॥५१॥

अर्थ—ग्रहण की है तीनों कालों में तीनों जगत् की व्याप्ति जिसने तथा जिसके होते हुए समस्त वाणी का परिस्पन्द शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उस चैतन्य को नमस्कार करो।

भावार्थ—जो चैतन्य तीनों कालों में, तीनों जगत् में व्याप रहा है और जिस चैतन्य का वाणी से सर्वथा वर्णन नहीं कर सकते उस चैतन्यरूपी तेज को नमस्कार करो।

तन्नमत विनष्टाखिलविकल्पजालद्रुमाणि परिकलिते।
यत्र वहन्ति विदग्धा दग्धवनानीव हृदयानि॥५२॥

अर्थ—उस चैतन्यरूप को नमस्कार करो जिस चैतन्यरूप की प्राप्ति के होने पर मुनिगण के सर्वथा नष्ट हो गये हैं विकल्परूपी वृक्ष, ऐसे हृदयों को जले हुए वनों के मानिन्द धारण करते हैं।

भावार्थ—जब तक मनुष्यों के चित्त में नाना प्रकार के विकल्प लगे रहते हैं तब तक मनुष्यों को कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु जिस चैतन्य के होते हुए मनुष्यों के मन के समस्त विकल्प नष्ट हो जाते हैं ऐसे उस चैतन्य तत्त्व को नमस्कार करो।

जिस समय समस्त नयों का पक्षपात नष्ट हो जाता है उस समय समयसार की प्राप्ति है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः ॥५३॥

अर्थ—चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मों से बँधा हुआ है तथा कर्मों से रहित भी है यह नय- विचार की विधि है और समस्त नयों के पक्ष से रहित होने पर ही निश्चय से समयसार होता है।

भावार्थ—समयसार नाम शुद्धात्मा का है उस शुद्धात्मा की प्राप्ति उसी समय होती है जिस समय समस्त निश्चय तथा व्यवहार नय का पक्षपात दूर हो जाता है, किन्तु जब तक व्यवहारनय से आत्मा बंधा हुआ है तथा निश्चयनय से आत्मा मुक्त है इस प्रकार का नय का पक्षपात रहता है तब तक उस समयसार शुद्धात्मा की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती इसलिए शुद्धात्मा की प्राप्ति के इच्छुकों को नयों के पक्षपात से रहित ही रहना चाहिए।

नाटक समयसार में भी कहा है—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥१॥

अर्थ—व्यवहारनय से तो आत्मा कर्मों से बंधा हुआ है और निश्चयनय से आत्मा मुक्त है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के आत्माओं में दोनों प्रकार के पक्षपात हैं जो मनुष्य वास्तविक तत्त्व का जानने वाला है और समस्त प्रकार के नयों के पक्षपातों से रहित है, उसका चैतन्य है सो निश्चय करके चैतन्य ही है।

और भी कहा है—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिव परमार्थः सेव्यतां नित्यमेव।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति॥२॥

अर्थ—अनेक प्रकार के खोटे विकल्पों और अन्तर्जल्प से रहित इस परमार्थ परमात्मा की सेवा करो और स्वरस का विस्तार जो केवलज्ञान से परिपूर्ण ऐसे समयसार से उत्कृष्ट और कोई वस्तु नहीं है।

आत्मा नय, प्रमाण, निक्षेप आदि विकल्पों से भी रहित है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तम्।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम्॥५४॥

अर्थ—जिसमें नय, निक्षेप, प्रमिति आदिक किसी प्रकार के विकल्प नहीं है और जो उत्कृष्ट है तथा शांत है और शुद्धानुभव के गोचर है तथा एक है वह चैतन्यरूपी तेज मैं ही हूँ।

भावार्थ—न तो मुझमें द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय का विकल्प है और न प्रत्यक्ष, परोक्षरूप प्रमाण का विकल्प है तथा नाम, स्थापना आदि निक्षेप का विकल्प भी मुझमें नहीं है। और मैं उत्कृष्ट हूँ, शांत हूँ तथा शुद्धानुभव के गोचर हूँ और चैतन्यस्वरूप तेज हूँ।

समयसार में भी कहा है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्व चिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥१॥

अर्थ—सबको कसने वाले इस चैतन्यरूपी तेज के अनुभव होने पर द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय भी उदय को प्राप्त नहीं होते तथा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाण अस्त हो जाते हैं और नाम, स्थापना, द्रव्य भावरूपी निक्षेप न जाने कहाँ चले जाते हैं और अधिक कहाँ तक कहा जावे द्वैत भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

चैतन्य के जानने पर सब जाना जाता है तथा चैतन्य के देखने पर सब देखा जाता है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

ज्ञाते ज्ञातमशेषं दृष्टे दृष्टं च शुद्धचिद्रूपे।
निश्शेषबोध्यविषयौ दृग्बोधौ यन्न तद्भिन्नौ ॥५५॥

अर्थ—जिस चैतन्य तेज के जानने पर तो समस्त वस्तु जानी जाती है और देखने पर समस्त वस्तु देखी जाती हैं क्योंकि समस्त ज्ञेय 'पदार्थ' वे हैं विषय जिनके ऐसे जो दर्शन और ज्ञान हैं वे आत्मस्वरूप ही हैं आत्मा से भिन्न नहीं है।

जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता तब तक अन्य पदार्थों में प्रीति होती है किन्तु जिस समय आत्मा का दर्शन हो जाता है, उस समय बाह्य पदार्थों में प्रीति नहीं होती। इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

भावे मनोहरेऽपि च काचिन्नियता च जायते प्रीतिः।
अपि सर्वाः परमात्मनि दृष्टे तु स्वयं समाप्यन्ते॥५६॥

अर्थ—अत्यन्त मनोहर भी पदार्थ में कोई विचित्र तथा निश्चित प्रीति हो जाती है किन्तु जिस समय परमात्मा का दर्शन हो जाता है उस समय उन अन्य पदार्थों में प्रीति की समाप्ति हो जाती है।

भावार्थ—जब तक मनुष्य परमात्मा को नहीं देखता तभी तक उस मनुष्य को बाह्य पदार्थ प्रीति के करने वाले होते हैं अर्थात् वह बाह्य पदार्थों को प्रिय मानता है किन्तु जिस समय उसको परमात्मा का दर्शन हो जाता है उस समय वह बाह्य पदार्थों को अंशमात्र भी प्रिय नहीं मानता, अप्रिय ही मानता है।

बुद्धिमान् पुरुषों के आत्मा के साथ विद्यमान भी कर्मों का सम्बन्ध अविद्यमान सरीखा ही है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

सन्नप्यसन्निव विदां जनसामान्योऽपि कर्मणो योगः।
तरणपटूनामृद्धः पथिकानामिव सरित्पूरः॥५७॥

अर्थ—यद्यपि कर्मों का सम्बन्ध सब प्राणियों के समान है तो भी बुद्धिमान् पुरुष के वह विद्यमान भी अविद्यमान के समान ही है जिस प्रकार तैरने में चतुर राहगीरों को बढ़ा हुआ नदी का प्रवाह।

भावार्थ—यद्यपि जिस प्रकार नदी का प्रवाह समस्त प्राणियों को समान भय का करने वाला है तो भी राहगीर तैरने में चतुर हैं अर्थात् जिनको तैरना अच्छा आता है उनको वह भय का करने वाला नहीं होता। उसी प्रकार यद्यपि कर्मों का सम्बन्ध सब जीवों के समान है तो भी जो पुरुष बुद्धिमान् हैं अर्थात् जिनको स्वपर का विवेक है उन पुरुषों को आत्मा के साथ विद्यमान भी कर्मों का सम्बन्ध अविद्यमान-सा ही है।

तत्त्वज्ञानियों को हेय तथा उपादेय का अवश्य ध्यान रखना चाहिए इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

मृगयमाणेन सुचिरं रोहणभुवि रत्नमीप्सितं प्राप्य।
हेयाहेयश्रुतिरपि विलोक्यते लब्धतत्त्वेन॥५८॥

अर्थ—रोहण पर्वत की भूमि में चिरकाल से रत्न को ढूँढ़ने वाला मनुष्य दैवयोग से इष्ट रत्न को पाकर जिस प्रकार यह तत्त्व हेय है अथवा उपादेय है इस बात का विचार करता है उसी प्रकार जिस मनुष्य को वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति हो गई है उसको भी यह तत्त्व हेय है अथवा उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिए।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी मनुष्य को रत्न की इच्छा हुई और उसी इच्छा से वह रोहणाचल की भूमि में रत्न ढूँढ़ने लग गया और उसको इष्ट रत्न की प्राप्ति भी हो गई उस समय जिस प्रकार वह मनुष्य विचार करता है कि यह तत्त्व हेय है, उपादेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है, ग्रहण करने योग्य है, उसी प्रकार अनादिकाल से तत्त्व की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को यदि भाग्यवश तत्त्व मिल जावे तो उसको भी इस प्रकार का विचार करना चाहिए कि यह तत्त्व मुझे ग्रहण करने योग्य है, कि छोड़ने योग्य है।

तत्त्वज्ञानी को इस रीति से विचार करना चाहिए—

कर्मकलितोपि मुक्तः सश्रीको दुर्गतोप्यहमतीव।
तपसा दुःख्यपि च सुखी श्रीगुरुपादप्रसादेन॥५९॥

अर्थ—यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मों से मेरी आत्मा संयुक्त है तो भी मैं श्रीगुरु के चरणारविंद की कृपा से सदा मुक्त हूँ और मैं अत्यन्त दरिद्री हूँ तो भी मैं श्रीगुरु के चरणों के प्रसाद से लक्ष्मी से सहित हूँ और मैं तप से दुःखित हूँ तो भी श्रीगुरु के चरणों की कृपा से मैं सदा सुखी ही हूँ अर्थात् मुझे किसी प्रकार का संसार में दुख नहीं है।

बोधादस्ति न किञ्चित्कार्यं यद् दृश्यते मलात्तन्मे।
आकृष्टयंत्रसूत्राद्दारुनरः स्फुरति नटकानाम्॥६०॥

अर्थ—जो कुछ मेरे कार्य मौजूद हैं अर्थात् जो कुछ कार्य मैं कर रहा हूँ वह कर्म की कृपा से कर रहा हूँ ज्ञान से कुछ भी कार्य नहीं क्योंकि नट के खींचे हुए यंत्र के सूत्र से ही पुतली नाचती है।

भावार्थ—जिस प्रकार पुतली के नृत्य में नट द्वारा खींचा हुआ सूत्र ही कारण है उसी प्रकार मेरे जो कार्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनमें कर्म ही कारण है अर्थात् कर्म की कृपा से ही मुझमें कार्य दिख रहे है ज्ञान की कृपा से नहीं।

निश्चयपंचाशत्पद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित्।
शब्दैः स्वभक्ति[1] सूचितवस्तुगुणैर्विरचितेयमिति॥६१॥

---

१. शक्ति।

अर्थ—श्री पद्मनन्दी आचार्य को आश्रित तथा अपनी भक्ति से प्रकट किया है वस्तु का गुण जिन्होंने, ऐसे कई एक शब्दों द्वारा इस 'निश्चयपञ्चाशत' की रचना की गई है।

भावार्थ—इस श्लोक से आचार्य ने अपनी लघुता का वर्णन किया है कि इस 'निश्चयपञ्चाशत' नामक अधिकार की रचना मैंने नहीं की है किन्तु मुझसे आश्रित वचनों ने की है।

तृणं नृपश्रीः किमु वच्मि तस्यां न कार्यमाखण्डलसम्पदोऽपि।
तत्त्वं परं चेतसि चेन्ममास्ति अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं ॥६२॥

अर्थ—समस्त प्रकार की इच्छाओं को दूर करने वाला यदि चैतन्यरूपी तत्त्व मेरे मन में मौजूद है तो राज-लक्ष्मी तो तृण के समान है। इसलिए मैं उसके विषय में तो क्या, इन्द्र की संपदा भी मेरे लिए किसी काम की नहीं।

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
निश्चयपञ्चाशत नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥११॥

१२.
ब्रह्मचर्यरक्षावर्ती

(शार्दूलविक्रीडित)

भ्रूक्षेपेण जयंति ये रिपुकुलं लोकाधिपाः केचन
द्राक्तेषामपि येन वक्षसि दृढं रोपः समारोपितः।
सोऽपि प्रोद्‌गतविक्रमः स्मरभटः शान्तात्मभिर्लीलया
यैः शस्त्रग्रहवर्जितैरपि जित-स्तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥१॥

अर्थ—संसार में कई एक ऐसे भी राजा हैं जो कि अपनी भ्रुकुटी के विक्षेप मात्र से ही बैरियों के समूह को जीत लेते हैं उन राजाओं के भी हृदय में शीघ्र ही जिस कामदेव रूपी योद्धा ने दृढ़ता से बाण को समारोपित कर दिया है ऐसे अत्यन्त पराक्रमी भी उस कामदेवरूपी सुभट को समस्त प्रकार के शस्त्र से रहित तथा जिनकी आत्मा क्रोधादि कषायों के नाश होने से शांत हो गई हैं ऐसे यतियों ने बात ही बात में जीत लिया है उन यतियों के लिए नमस्कार है अर्थात् वे यतीश्वर मेरी रक्षा करें।

भावार्थ—जिन राजाओं की भौंह टेढ़ी होने पर ही प्रबल भी शत्रुओं का समूह बात ही बात में वश हो जाता है उन महापराक्रमी राजाओं के हृदय में भी जिस कामदेव रूपी सुभट ने अपना बाण समारोपित कर दिया है अर्थात् उसने ऐसे पराक्रमी राजाओं के ऊपर भी अपना प्रभाव जमा रखा है। उस महापराक्रमी कामदेवरूपी सुभट को भी बिना ही हथियार के, जिन शांतात्मा मुनियों ने बात ही बात में जीत लिया। आचार्य कहते हैं कि उन मुनियों के लिए मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

ब्रह्मचारी कौन हो सकता है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

आत्मा ब्रह्मविविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं
स्वांगासंगविवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः।
एवं सत्यबलाः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत् ॥२॥

अर्थ—अपने शरीर में जो आसक्ति, उससे रहित है एक मन जिसका अर्थात् जिस मुनि के मन में शरीर विषयक कुछ भी आसक्ति नहीं है ऐसे मुनि की जो समस्त पदार्थों से भिन्न तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वही ब्रह्म है और परब्रह्म में जो चर्या है अर्थात् एकाग्रता है वही ब्रह्मचर्य है और ऐसे होने पर जो वृद्ध आदिक स्त्रियाँ हैं उनको अपनी माता, बहिन, पुत्री के समान देखता है उस समय वह ब्रह्मचारी होता है।

भावार्थ—समस्त पदार्थों से भिन्न और ज्ञान का स्थान अर्थात् ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है वह तो ब्रह्म है और उस ब्रह्म में जो शरीर विषयक ममताकर रहित मुनि के मन की एकाग्रता है वह अंतरंग ब्रह्मचर्य है और बाह्य में जो वृद्ध स्त्री को माता के समान समझता है तथा बराबर की स्त्री को बहिन के समान तथा छोटी स्त्री को पुत्री के समान समझता है उस पुरुष का वह बाह्य ब्रह्मचर्य है और जो इन दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है वह (वशी) ब्रह्मचारी होता है।

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि यदि शयन आदि अवस्था में मुनि को अतिचार लगे तो वे प्रायश्चित करते हैं—

स्वप्ने स्यादतिचारिता यदि तदा तत्रापि शास्त्रोदितं
प्रायश्चितविधिं करोति रजनीभागानुगत्या मुनिः।
रागोद्रेकतया दुराशयतया सा गौरवात्कर्मणः
तस्य स्याद्यपि जाग्रतोपि हि पुनस्तस्यां महच्छोधनम्॥३॥

अर्थ—यदि किसी कारण से स्वप्न में मुनि को अतिचार लग जावे तो मुनि रात्रि का विभागकर शास्त्र में कहे हुए प्रायश्चित को करते हैं और यदि जाग्रत अवस्था में राग के उद्रेक से अथवा खोटे आशय से वा कर्म की गुरुता से यदि मुनि को अतिचार लग जावे तो उस अतिचारिता में वे बड़ा भारी संशोधन करते हैं।

भावार्थ—यदि मुनीश्वरों को सोते समय रात्रि में अतिचार लगे तो वे रात्रि का विभागकर प्रायश्चित करते हैं और यदि जागृत अवस्था में राग की अधिकता से वा खोटे आशय से अथवा कर्म के गौरव से अतिचार लगे तो मुनि उसका बड़ा भारी संशोधन करते हैं।

साधु के दृढ़ मन का संयम जो है वही ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

नित्यं खादति हस्तिसूकरपलं सिंहो बली तद्रति-
र्वर्षेणैकदिने शिलाकणचरे पारावते सा सदा।
न ब्रह्मव्रतमेति नाशमथवा स्यान्नैव भुक्तेर्गुणा-
त्तद्रक्षां दृढ एक एव कुरुते साधोर्मनःसंयमः॥४॥

अर्थ—भोजन के गुण से अर्थात् भोजन के करने से ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट होता है तथा भोजन के

न करने से ब्रह्मचर्यव्रत पलता है यह बात नहीं है क्योंकि अत्यन्त बलवान् सिंह, हाथी तथा सूअर के मांस को खाता है किन्तु वर्ष में वह एक ही समय रति को करता है तथा कबूतर सदा पत्थर के टुकड़े खाता है तो भी वह सदा रति करता रहता है किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन (रक्षा) एक मात्र साधु का दृढ़ मन का संयम है वही करता है।

भावार्थ—बहुत से मनुष्य ऐसा समझते हैं कि पुष्ट भोजन करने से ब्रह्मचर्य नहीं पलता है और पुष्ट भोजन के न करने से ब्रह्मचर्य पलता है सो यह बात नहीं क्योंकि यदि पुष्ट भोजन करने से ही काम की अति तीव्रता होती तो सिंह को भी अधिक कामी होना चाहिए क्योंकि वह भी तो दिन-रात हाथी तथा सूअर के अत्यन्त पुष्ट मांस को खाता है किन्तु वह रति वर्ष में एक ही दिवस करता है तथा यदि पुष्ट भोजन के न करने से ही काम अधिक नहीं सताता है तो कबूतर जो कि रात-दिन रूखे पत्थर के टुकड़ों को खाता है उसे काम अधिक नहीं सताना चाहिए किन्तु देखने में आता है कि कबूतर बड़ा कामी होता है तथा सदा रति करता रहता है इसलिए पुष्ट भोजन करने से ब्रह्मचर्य का नाश होता है तथा पुष्ट भोजन के न करने से ब्रह्मचर्य का पालन होता है यह बात नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य की रक्षा का कारण एकमात्र साधु का दृढ़ मन का संयम ही है और दृढ़ मन का संयम न होवे तो ब्रह्मचर्य का नाश होता है ऐसा समझना चाहिए।

चेत: संयमनं यथावदवनं मूलव्रतानां मतं
शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां बाह्यं मुनेर्ज्ञानिन:।
तज्जन्यं पुनरांतरं समरसीभावेन चिच्चेतसो
नित्यानंदविधायिकार्यजनकं सर्वत्र हेतुर्द्वयम्॥५॥

अर्थ—ज्ञानी मुनि के यथाशक्ति होने वाले जो मूलगुण तथा उत्तरगुण हैं उनको यथायोग्य जो रक्षण करना है वह तो बाह्य मन का संयम है तथा उस बाह्य मन के संयम से उत्पन्न हुआ और सदा आनंद के करने वाले कार्य को पैदा करने वाला चैतन्य तथा मन के समरसी भाव से, जो मन का संयम होता है वह अंतरंग मन का संयम है तथा सब जगह यह दोनों प्रकार का संयम कारण है।

समस्त स्त्रियों के त्याग करने में व्रती को अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

चेतोभ्रांतिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा
तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधि: स्तोकोऽपि सम्भाव्यते।
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभि: प्राप्तैस्तपोभूमिकां
कर्तव्यो व्रतिभि: समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान्॥६॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा का पान मनुष्य को भ्रांति का करने वाला होता है उसी प्रकार स्त्री भी मनुष्य के चित्त को भ्रांति की करने वाली होती है इसलिए उस स्त्री की संगति से मुनि के थोड़े भी व्रत

के आचरण की संभावना नहीं हो सकती। इसलिए आचार्य कहते हैं कि जिन मुनियों की मति संसार में भ्रमण करने से भयभीत है और जो मुनि तप की भूमिका को प्राप्त हो गये हैं उनको समस्त स्त्रियों के त्याग में बड़ा भारी प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—जिस प्रकार शराब को पीने वाला मनुष्य बेहोश रहता है और वह कुछ भी काम नहीं कर सकता उसी प्रकार स्त्री का लोलुपी पुरुष भी हिताहित से शून्य तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहता है इसलिए ऐसी निकृष्ट स्त्री की संगति से थोड़ा-सा भी व्रत का आचरण नहीं हो सकता। अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि जिन मुनियों की बुद्धि संसार के भ्रमण से अत्यन्त भयभीत है और जो तप की भूमिका को प्राप्त हो गये हैं उन मुनियों को चाहिए कि वह समस्त प्रकार की स्त्रियों के त्याग में बड़ा प्रयत्न करें।

और भी आचार्यवर स्त्री के त्याग की दृढ़ता को बतलाते हैं—

मुक्तेर्द्वारि दृढार्गला भवतरोः सेकेङ्गना सारिणी
मोहव्याधविनिर्मिता नरमृगस्याबंधने वागुरा।
यत्संगेन सतामपि प्रसरति प्राणातिपातादि तत्
तद्वार्तापि यतेर्यतित्वहतये कुर्यान्न किं सा पुनः॥७॥

अर्थ—यह स्त्री, मुक्ति के द्वार को रोकने के लिए मजबूत अर्गला है और संसाररूपी वृक्ष को सींचने के लिए नाली है तथा मनुष्यरूपी मृगों के बाँधने के लिए मोहरूपी व्याध द्वारा बनाया हुआ जाल है क्योंकि जिस स्त्री के संग से सज्जनों का भी जीवन नष्ट हो जाता है और जिस स्त्री की बात भी मुनियों के मुनिपने के नाश के लिए होती है वह स्त्री संसार में और क्या-क्या नहीं कर सकती? अर्थात् समस्त प्रकार के अनिष्टों को कर सकती है।

भावार्थ—स्त्री को अर्गला की उपमा इसलिए दी गई है कि जिस समय किवाड़ लगाकर अर्गला लगा दी जाती है उस समय जिस प्रकार उस दरवाजे के भीतर कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता उसी प्रकार जो मनुष्य स्त्री के लोलुपी हैं अर्थात् स्त्री के फँदे में फँसे हुए हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। और स्त्री को नाली की उपमा इसलिए दी गई है कि जिस प्रकार नाली द्वारा सींचने से वृक्ष दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला जाता है उसी प्रकार स्त्री लम्पटियों के लिए संसार भी बढ़ता चला जाता है अर्थात् उनको निरंतर संसार में भ्रमण करना पड़ता है और स्त्री को जाल की उपमा इसलिए दी गई है कि जिस प्रकार जाल में फँसकर जीव दुख पाते हैं उसी प्रकार स्त्री में आसक्त होने से जीवों को नाना प्रकार के दुखों का सामना करना पड़ता है। इसलिए ऐसी स्त्री संसार में समस्त अनिष्टों को करने वाली है, क्योंकि जिस स्त्री के संग से सज्जनों का भी जीवन नष्ट हो जाता है तथा यतियों के यतिपने का भी नाम निशान उड़ जाता है।

और भी आचार्य स्त्री के विषय में उपदेश देते हैं—

तावत्पूज्यपदस्थितिः परिलसत्तावद्यशो जृंभते
तावच्छुभ्रतरा गुणाः शुचिमनस्तावत्तपो निर्मलम्।
तावद्धर्मकथापि राजति यतेस्तावत्स दृश्यो भवेत्
यावन्न स्मरकारि हारि युवते रागान्मुखं वीक्षते॥८॥

अर्थ—जब तक यति, प्रीति से काम के उद्दीपन करने वाले तथा मनोहर स्त्री के मुख को नहीं देखता तभी तक यह यति पूज्य पद में अर्थात् उत्तम पद में स्थित रहता है और तभी तक उस यति का शोभायमान यश वृद्धि को प्राप्त होता रहता है तथा तभी तक उसके गुण निष्कलंक रहते हैं और तभी तक उस यतीश्वर का मन पवित्र बना रहता है तथा उसी समय तक उसका निर्मल तप रहता है तथा उसी समय तक उसकी धर्मकथा शोभित रहती है और तभी तक वह देखने योग्य बना रहता है किन्तु स्त्री के मुख देखते ही ये कोई बातें नहीं रहती। इसलिए यतियों को स्त्री का मुख कदापि नहीं देखना चाहिए।

मुनीश्वरों को स्त्री का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए इस बात को आचार्यवर बताते हैं—

तेजोहानिमपूततां व्रतहतिं पापं प्रपातं पथो
मुक्ते रागितयांगनास्मृतिरपि क्लेशं करोति ध्रुवं।
तत्सानिध्यविलोकनप्रतिवचः स्पर्शादयः कुर्वते
किं नानर्थपरंपरामिति यतेस्त्याज्यावला दूरतः॥९॥

अर्थ—जिस स्त्री का, राग से स्मरण भी तेज की हानि को करता है तथा अपवित्रता को करता है और व्रतों के नाश को करता है तथा पाप की उत्पत्ति करता है और मोक्ष के मार्ग से मनुष्यों को गिराता है और निश्चय से नाना प्रकार के क्लेशों को करता है। तब उस स्त्री के समीप में रहना तथा उसका देखना और उसके साथ वचनालाप और उसके स्पर्श आदिक किस-किस अनर्थ को नहीं करते ? अर्थात् सर्व ही अनर्थों को करते हैं इसलिए ऐसी स्त्री यतियों को दूर से ही त्यागने योग्य है।

भावार्थ—जब स्त्री का स्मरण ही तेज का नाश करता है और पवित्रता नहीं होने देता तथा समस्त प्रकार के व्रतों को जड़ से उखाड़ता है और मोक्षमार्ग से भ्रष्ट करता है और नाना प्रकार के दुखों को देता है। तब उसके पास रहना, उसका देखना, उसके साथ वार्तालाप करना और स्पर्श आदि करना किस-किस अनर्थ को न करेगा? इसलिए अपने हित के अभिलाषी यतीश्वरों को चाहिए कि वे सर्वथा स्त्री से दूर रहें।

और भी आचार्यवर मुनीश्वरों को उपदेश देते हैं—

वेश्या स्याद्धनतस्तदस्ति न यतेश्चेदस्ति सा स्यात्कुतो
नात्मीया युवतिर्यतित्वमभवत्तत्त्यागतो यत्पुरा।

पुंसोऽन्यस्य च योषिता यदि रतिश्छिन्नो नृपात्तत्पतेः
स्यादापज्जननद्वयक्षयकरी त्याज्यैव योषा यतेः ॥१०॥

अर्थ—यदि मुनि वेश्या के लोलुपी बने तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती क्योंकि वेश्या अधिक धन होने पर ही प्राप्त होती है और वह धन यति के पास है नहीं, यदि कदाचित् धन भी होवे तो वेश्या उसको मिल नहीं सकती और अपनी स्त्री की भी यति को प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पहले उस स्त्री के त्याग से ही यतिपना हुआ है और यदि दूसरे पुरुष की स्त्री के साथ यति रति करें तो वे राजा से छेदन आदिक दंड को प्राप्त होते हैं तथा उस स्त्री के पति के द्वारा भी बहुत से कष्टों को पाते हैं। इसलिए यतियों को दोनों जन्मों को नाश करने वाली स्त्री का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—यदि स्त्री के साथ में प्रीति करने से कुछ सुख मिलता तब तो यतियों को स्त्री के साथ प्रीति करना अच्छा होता किन्तु स्त्री के साथ में प्रीति करने में तो अंशमात्र भी सुख नहीं क्योंकि वेश्या के साथ प्रीति तो धन से होती है सो धन यती के पास है नहीं, इसलिए उनको एक प्रकार का कष्ट ही है, यदि कदाचित् उनके पास धन होवे भी तो वेश्या उनको कहाँ से मिल सकती है यदि कहो अपनी युवती के साथ रति करें सो अपनी स्त्री भी यति को नहीं मिल सकती क्योंकि पहले उस स्त्री के त्याग से ही यति हुए हैं इसलिए भी दुख ही है यदि कहो कि परस्त्री के साथ ही रति करें सो भी नहीं बन सकता क्योंकि परस्त्री सेवियों को राजा, छेदन-भेदन आदि दंड देता है तथा उस स्त्री का पति भी नाना प्रकार के ताड़ना आदि दुख देता है और स्त्री दोनों जन्मों को नाश करने वाली होती है। इसलिए ऐसी स्त्री का मुनि को सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

आचार्य ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हैं—

दारा एव गृहं न चेष्टकचितं तत्तैर्गृहस्थो भवेत्
तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं [१]सद्ब्रह्मचर्यं परम्।
वैकल्यं किल तत्र चेत्तदपरं सर्वं विनष्टं व्रतं
पुंसस्तेन विना तदा तदुभयभ्रष्टत्वमापद्यते॥११॥

अर्थ—स्त्री का नाम ही घर है किन्तु ईंटों से व्याप्त घर नहीं कहलाता इसलिए उन स्त्रियों से ही मनुष्य गृहस्थ होता है और उस स्त्री के सर्वथा त्याग से ही यति उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य को निश्चय से धारण करते हैं। यदि उस ब्रह्मचर्य में किसी कारण से विकलता हो जावे तो दूसरे-दूसरे समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं और उस समय उस ब्रह्मचर्य के बिना यति के व्रतीपना तथा गृहस्थपना दोनों नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—स्त्री के ग्रहण से तो मनुष्य गृहस्थ कहा जाता है और स्त्री के त्याग से यति, वास्तविक

---

१. सब्रह्मचर्यम् यह भी क. पुस्तक में पाठ है।

रीति से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं यदि ब्रह्मचर्य में किसी प्रकार की विकलता (हीनता) हो जावे तो और दूसरे-दूसरे भी समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मचर्य में विकलता के आ जाने के कारण न तो वास्तविक रीति से व्रतीपना ही रहता है और न गृहस्थपना ही रहता है। इसलिए यतियों को चाहिए कि वे ब्रह्मचर्य के धारण करने पर उसका अच्छी तरह पालन करें और यदि ब्रह्मचर्य भलीभाँति पालन न कर सकें तो वे गृहस्थ ही बने रहे जिससे उन का गृहस्थपना तो उत्तम बना रहे, नहीं तो दोनों ही गृहस्थपना तथा यतीपना उनके नष्ट हो जावेंगे।

और भी आचार्यवर मुनियों को उपदेश देते हैं—

सम्पद्येत दिनद्वयं यदि सुखं नो भोजनादेस्तदा
स्त्रीणामप्यतिरूपगर्वितधियामंगं शवांगायते।
लावण्याद्यपि तत्र चंचलमिति श्लिष्टं च तत्तद्गां [1]
दृष्ट्वा कुंकुमकज्जलादिरचनां मा गच्छ मोहं मुने॥१२॥

अर्थ—रूप से अत्यन्त घमंड युक्त है बुद्धि जिनकी ऐसी स्त्रियों को यदि दो दिन भी भोजनादि से सुख न मिले अर्थात् यदि वे दो दिन भी नहीं खाये तो उनका शरीर मुर्दे के शरीर के समान मालूम पड़ता है। और उन स्त्रियों के शरीर में मौजूद जो लावण्य है वह भी चंचल है अर्थात् क्षणभर में विनाशीक है इसलिए हे मुनि! उन स्त्रियों के शरीर में केसर, काजल आदि की रचना को देखकर मोहित मत हो।

भावार्थ—यदि स्त्रियों का शरीर नित्य तथा सुंदर बना रहता और उनके शरीर का लावण्य चंचल न होता तब तो हे मुनि! तुमको उनके शरीर में केसर तथा काजल आदि की रचना को देखकर मुग्ध होना था। लेकिन उनका शरीर तो ऐसा है कि यदि वे दो दिन भी भोजन न करें तो वह मुर्दे के शरीर के समान फीका पड़ जाता है। और उनमें जो कुछ लावण्य दृष्टिगोचर होता है वह भी पलभर में नष्ट हो जाता है। इसलिए ऐसी निस्सार स्त्री में कदापि तुमको मोह नहीं करना चाहिए।

स्त्री के शरीर की शोभा क्षणभंगुर है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

रम्भास्तम्भमृणालहेमशशभृन्नीलोत्पलाद्यैः पुरा
यस्य स्त्रीवपुषः पुरः परिगतैः प्राप्ता प्रतिष्ठा न हि।
तत्पर्यंतदशां गतं विधिवशात्क्षिप्तं क्षतं पक्षिभिः
भीतैश्छादितनासिकैः पितृवने दृष्टं लघु त्यज्यते॥१३॥

अर्थ—जिस स्त्री के शरीर के आगे प्राप्त ऐसे केलों का स्तंभ, कमल का तंतु, बर्फ, चन्द्रमा, और नीलकमल आदिकों ने भी पहले प्रतिष्ठा नहीं पाई थी वही स्त्री का शरीर जिस समय मृत शरीर बन जाता है और जब वह श्मशान भूमि में फेंक दिया जाता है और जिस समय पक्षी उसके टुकड़े-

---

१. गतं, वताम्।

टुकड़े कर देते हैं उस समय वह देखा हुआ शरीर, भयभीत तथा जिनकी नाक ढकी हुई है ऐसे मनुष्यों के द्वारा शीघ्र ही छोड़ दिया जाता है।

भावार्थ—जब तक स्त्री का शरीर जीवित रहता है तब तक तो इतना मनोहर रहता है कि केलों का स्तंभ भी उसके सामने कोई पदार्थ नहीं और न कमल तंतु ही कोई वस्तु है तथा शीतल इतना होता है कि बर्फ, चन्द्रमा तथा नील कमल की भी शीतलता उसके सामने कोई चीज नहीं किन्तु वही शरीर जब मृत शरीर बन जाता है उस समय वह श्मशानभूमि में फेंक दिया जाता है और पक्षिगण उसके टुकड़े-टुकड़े उड़ा देते हैं और मनुष्य उसको भयभीत होकर तथा नाक ढँक कर देखते हैं और शीघ्र ही छोड़ देते हैं। इसलिए ऐसे अपवित्र तथा अनित्य शरीर में मुनियों को कभी भी राग नहीं करना चाहिए।

और भी इसी विषय में आचार्य कहते हैं—

अङ्गं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्
भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम्।
उच्छूनैर्बहुभिः शवैरतितरां कीर्णं श्मशानस्थलं
लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः॥१४॥

अर्थ—यद्यपि स्त्रियों का शरीर मनोहर यौवन अवस्था तथा लावण्य से सहित भी है और अनेक प्रकार के भूषणों से भूषित है तो भी वह मूढ़बुद्धि पुरुषों को ही आनंद का देने वाला है किन्तु सज्जन पुरुषों को आनंद का देने वाला नहीं। जिस प्रकार सड़े हुए मुर्दों से व्याप्त श्मशान भूमि को प्राप्त होकर काले कौओं का समूह ही संतुष्ट होता है, राजहंसों का समूह संतुष्ट नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार सड़े हुए मुर्दों से व्याप्त श्मशान भूमि को प्राप्त होकर कौवा संतुष्ट होता है और राजहंस संतुष्ट नहीं होता उसी प्रकार यद्यपि स्त्री का शरीर उत्तम यौवन तथा लावण्य से सहित भी है और नाना प्रकार के भूषणों से सहित है। उसे मूर्ख लोग ही हर्ष को करने वाला मानते हैं विद्वान् लोग हर्ष को करने वाला कदापि नहीं मानते।

स्त्री का शरीर अपवित्र है इसलिए विद्वान् लोग उसमें राग नहीं करते इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं—

यूकाधाम कचाः कपाल [१]मजिनाच्छन्नं मुखं योषितां
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहू तते कीकसे।
तुंदं मूत्रमलादिसद्म जघनं प्रस्यन्दि वर्चोगृहं
पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते॥१५॥

अर्थ—स्त्रियों के बाल तो जूँओं के स्थान हैं और मुख तथा कपाल चामकर वेष्टित हैं और दोनों

---

१. क. पुस्तक में अजिनाच्छादि यह भी पाठ है।

नेत्र उसके छेद हैं तथा स्तन मांस से भरे हुए हैं और दोनों भुजा विस्तृत हड्डियाँ हैं और स्त्रियों का पेट मूत्र तथा मल का घर है और जघन बहती हुई विष्टा का घर है और स्त्रियों के चरण स्थूण के समान है इसलिए नहीं मालूम सज्जनों को स्त्रियों की कौन-सी चीज राग के लिए होती है।

भावार्थ—यदि स्त्री की कोई भी चीज पवित्र तथा सुंदर होती तो स्त्री में विद्वान् पुरुषों के राग की संभावना हो सकती थी, किन्तु स्त्री की तो कोई चीज पवित्र तथा सुंदर नहीं क्योंकि उनके बालों में तो असंख्यातों जूआँ, लीख आदि जीव भरे हुए हैं और मुख तथा कपाल चर्म से वेष्टित हैं तथा दोनों नेत्र छिद्र हैं और स्तन मांस के पिंड हैं और भुजा लंबी-लंबी हड्डियाँ हैं और पेट मल-मूत्र का पिटारा है और जघन बहती हुई विष्ठा के घर हैं और चरण थूड़ी के समान है। इसलिए ऐसे अपवित्र स्त्री के शरीर में उत्तम पुरुषों को कदापि मोह नहीं करना चाहिए।

और भी आचार्यवर स्त्री की अपवित्रता को दिखाते हैं—

कार्याकार्यविचारशून्यमनसो लोकस्य किं ब्रूमहे
यो रागांधतयादरेण वनितावक्त्रस्य लालां पिबेत्।
श्लाघ्यास्ते कवयः शशांकवदिति प्रव्यक्तवाग्डंबरै
श्चर्मानद्धकपालमेतदपि यैरग्रे सतां वर्ण्यते॥१६॥

अर्थ—राग से अंधा होकर जो लोग बड़े आदर से स्त्री के मुख की लार का पान करता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि कार्य तथा अकार्य के विचार से रहित है मन जिसका ऐसे उस लोक के विषय में हम क्या कहें? और वे कवि भी सराहना करने योग्य हैं जो कवि सज्जनों के सामने चाम से ढका हुआ है कपाल जिसका ऐसे भी स्त्री के मुख को, अपने प्रबल वाणी के आडंबर से चन्द्रमा के समान कहते हैं।

भावार्थ—बिना ही उपदेश के समस्त जीव स्त्री के सेवक बने हुए हैं और रात दिन बड़े आदर से उनकी लार का पान करते हैं किन्तु कवि लोग चाम से ढके हुए भी स्त्री के मुख को चन्द्रमा की उपमा देकर और उनको चन्द्र वदनी कहकर और भी जीवों को भ्रांत करते हैं यह बड़ी भारी भूल है। इसलिए ऐसी निकृष्ट तथा अपवित्र स्त्री की प्रशंसा करने वाले वे कवि कुकवि हैं ऐसा समझना चाहिए।

आचार्यवर कवियों की निंदा करते हैं—

एष स्त्री - विषये विनापि हि परप्रोक्तोपदेशं भृशं
रागांधो मदनोदयादनुचितं किं किं न कुर्याज्जनः।
अप्येतत्परमार्थबोधविकलः प्रौढं करोति स्फुरत्
शृङ्गारं प्रविधाय काव्यमसकृल्लोकस्य कश्चित्कविः॥१७॥

अर्थ—राग से अंधा यह लोक पर के दिये हुए उपदेश के बिना ही काम के उदय से अर्थात् कामी होकर क्या-क्या अनुचित काम नहीं करता है अर्थात् सब ही अनुचित काम को करता है इतने पर भी जिसको अंशमात्र भी परमार्थ का ज्ञान नहीं ऐसा कोई कवि जिसमें भलीभाँति शृंगार का वर्णन किया गया है ऐसे काव्य को बनाकर और भी निरंतर लोगों को चतुर (स्त्रियों के सेवन में प्रौढ़) करता रहता है।

भावार्थ—यह नीतिकार का सिद्धान्त है कि जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है उसमें मनुष्य की बुद्धि बिना उपदेश के प्रवेश कर जाती है, उपादेय पदार्थ के ग्रहण करने में उतनी जल्दी बुद्धि प्रवेश नहीं करती। इसलिए जो पुरुष रागांध हैं उनकी एक तो बिना उपदेश के ही स्त्री के विषय में बुद्धि प्रवृत्त हो जाती है और जब उनकी बुद्धि स्त्री विषय में फँस जाती है तब वे अनेक प्रकार के अनुचित काम कर बैठते हैं। ऐसे होने पर भी कवि लोग अपने को दयालु समझकर और भी उनके लिए शृंगार विशिष्ट काव्यों को बनाकर स्त्री विषय में चतुर बना देते हैं। इसलिए ऐसे कवियों को उत्तम कवि न समझकर कुकवि ही समझना चाहिए।

अब आचार्यवर इस बात को बताते हैं कि जो मुनि स्त्री तथा धन का त्यागी है वह देवों का देव है और सभी मानने योग्य है—

दारार्थादिपरिग्रहः कृतगृहव्यापारसारोऽपि सन्
देवः सोऽपि गृही नरः परधनस्त्रीनिस्पृहः सर्वदा।
यस्य स्त्री नतु सर्वथा न च धनं रत्नत्रयालंकृतो
देवानामपि देव एव स मुनिः केनात्र नो मन्यते॥१८॥

अर्थ—जिस पुरुष के स्त्री का परिग्रह मौजूद है और धन का परिग्रह मौजूद है तथा जिसने समस्त गृह सम्बन्धी व्यापार को कर लिया है ऐसा गृहस्थ भी मनुष्य, यदि पर धन तथा परस्त्री में निस्पृह है तो वह भी जब देव कहा जाता है तब जिस मुनि के न तो स्त्री है और न सर्वथा धन ही है और जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय से शोभित है वह तो देवों का भी देव है ही और उस मुनि की सब ही प्रतिष्ठा करते हैं।

भावार्थ—चाहें उस मनुष्य के स्त्री तथा धन हो और चाहे उसने समस्त घर के काम किए हुए हों यदि वह पर धन तथा परस्त्री में इच्छा रहित है वह भी जब देव कहलाता है तब जो सर्वथा स्त्री का त्यागी है और सर्वथा धन का त्यागी है अर्थात् जिसके पास कण मात्र भी धन नहीं है और सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से विभूषित है तो वह क्यों नहीं देवों का देव होगा और वह क्यों नहीं सज्जनों के आदर का पात्र होगा ? अवश्य ही होगा। इसलिए मुनियों को चाहिए कि वे स्त्री तथा धन में सर्वथा इच्छा का त्याग कर देवें।

कामिन्यादि विनात्र दुःखहतये स्वीकुर्वते तच्च ये
लोकास्तत्र सुखं पराश्रिततया तद्दुःखमेव ध्रुवम्।

हित्वा तद्विषयोत्थमंतविरसं स्तोकं यदाध्यात्मिकं
तत्तत्त्वैकदृशां सुखं निरुपमं नित्यं निजं नीरजम् ॥१९॥

अर्थ—स्त्री आदि के बिना संसार में दुख होता है यह समझकर लोग दुख के दूर करने के लिए स्त्री आदि को स्वीकार करते हैं परन्तु स्त्री आदिक में जो सुख है सो पराधीनता के कारण दुख ही है। इसलिए अंत में विरस तथा थोड़ा जो विषय से उत्पन्न सुख है उसको छोड़कर जो तत्त्वज्ञानियों का आत्म सम्बन्धी सुख है वही सुख, उपमा रहित तथा सदा काल रहने वाला और अपना तथा निर्दोष है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—जो अल्पज्ञानी दुख के दूर करने के लिए स्त्री, भोजन आदि को स्वीकार करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि स्त्री, भोजन आदि के स्वीकार से दुख दूर नहीं होता और न सुख ही मिल सकता क्योंकि वह जो सुख है वह पराधीनता के कारण दुख ही है और वह विषयोत्थ सुख अंत में विरस तथा थोड़ा है इसलिए ऐसे सुख को छोड़कर, तत्त्वज्ञानी पुरुष जो उपमा रहित तथा नित्य और स्वीय तथा निर्दोष सुख का अनुभव करते हैं वास्तव में वही सुख है ऐसा समझना चाहिए।

अब आचार्य इस बात को बताते हैं कि जो पुण्यवान् हैं वे भी यतीश्वरों को नमस्कार करते हैं—

सौभाग्यादिगुणप्रमोदसदनैः पुण्यैर्युतास्ते हृदि
स्त्रीणां ये सुचिरं वसंति विलसत्तारुण्यपुण्यश्रियाम्।
ज्योतिर्बोधमयं तदंतरदृशा कायात्पृथक् पश्यतां
येषां ता न तु जातु तेऽपि कृतिनस्तेभ्यो नमःकुर्वते ॥२०॥

अर्थ—वे मनुष्य सौभाग्य आदि गुण तथा आनंद के स्थानभूत पुण्य उनसे सहित हैं जो मनुष्य मनोहर यौवनावस्था उससे पवित्र है शोभा जिनकी, ऐसी स्त्रियों के मन में चिरकाल तक निवास करते हैं और वे पुण्यवान् पुरुष भी, जो मुनि अपनी प्रसिद्ध अंतर्दृष्टि से सम्यग्ज्ञानमय तेज को शरीर से जुदा देखने वाले हैं और जिनके पास स्त्री फटकने तक भी नहीं पाती ऐसे मुनीश्वरों को नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसार में वे मनुष्य भी पुण्यात्मा तथा धन्य हैं जो यौवनावस्था से शोभायमान स्त्रियों के हृदय में चिरकाल तक निवास करते हैं अर्थात् जिनको स्त्रियाँ हृदय से चाहती हैं किन्तु उनसे भी धन्य वे यतीश्वर हैं जो कि अपनी अंतर्दृष्टि से सम्यग्ज्ञानमय ज्योति को जुदा कर देखते हैं और जिनके पास स्त्रियाँ स्वप्न में भी नहीं भटकने पाती तथा वे पुण्यात्मा और स्त्रियों के प्रिय भी मनुष्य, जिनको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं।

मनुष्य भव से मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए भव्य जीवों को मनुष्य भव पाकर तप करना चाहिए इस बात का आचार्य उपदेश देते हैं—

दुष्प्रापं बहुदुःखराशिरशुचि स्तोकायुरल्पज्ञता
ज्ञातप्रांतदिनं जराहतमतिः प्रायो नरत्वं भवे।

अस्मिन्नेव तपस्ततः शिवपदं तत्रैव साक्षात्सुखं
सौख्यार्थीति विचिंत्य चेतसि तपः कुर्यान्नरो निर्मलम् ॥२१॥

अर्थ—जिस नर भव में बहुत दुखों का समूह है और जिसमें अपवित्र तथा थोड़ी आयु है और जिसमें थोड़ा ज्ञान है तथा जिसमें अंत के दिन का निश्चय नहीं है ''अर्थात् कब मरण होगा यह बात मालूम नहीं है'' और जिस नर भव में बुद्धि वृद्धावस्था से नष्ट है ऐसा इस संसार में यह नर भव है किन्तु तप की प्राप्ति इसी नर भव में ही होती है और उस तप से मोक्षपद की प्राप्ति होती है तथा उस मोक्षपद में साक्षात् सुख मिलता है। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा भलीभाँति चित्त में विचार कर जो मनुष्य उत्तम सुख की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही निर्मल तप करना चाहिए।

भावार्थ—यद्यपि इस नर भव में बहुत से दुख हैं तथा अपवित्र और थोड़ी आयु है और थोड़ा ज्ञान है तथा इस नर भव में मरण के दिन का भी निश्चय नहीं है, बुद्धि भी कम है तो भी तप की प्राप्ति इस नर भव में ही होती है और उस तप से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है तथा मोक्ष में साक्षात् सुख मिलता है। इसलिए ऐसा विचार कर और इस उत्तम नर भव को पाकर मनुष्य को निर्मल तप अवश्य करना चाहिए किन्तु व्यर्थ ही इस नर भव को व्यतीत नहीं करना चाहिए।

उक्तेयं मुनिपद्मनंदिभिषजा द्वाभ्यां युतायाः शुभा
सद्वृत्तौषधिविंशतेरुचितवागर्थाम्भसा वर्तिता।
निर्ग्रन्थैः परलोकदर्शनकृते प्रोद्यत्तपोवार्द्धकै-
श्चेतश्चक्षुरनंगरोगशमनी वर्तिः सदा सेव्यताम्॥२२॥

अर्थ—श्रीपद्मनंदि नामक वैद्य द्वारा, उचित जो वचन और अर्थ वही हुआ जल उस से दो श्लोकों से सहित तथा श्रेष्ठ छन्दरूप ही हैं औषधि जिसमें ऐसी जो विंशति उससे ''अर्थात् बाईस श्लोकों से'' यह शुभ सलायी (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ती) बनाई है इसलिए जो समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित निर्ग्रंथ हैं और उन्नत तप वर्धमान है अर्थात् जो अत्यन्त तपस्वी हैं उनके मनरूपी नेत्र में स्थित जो कामरूपी रोग, उसको शांत करने वाली यह सलायी परलोक के दर्शन के लिए अवश्य ही सेवनीय है।

भावार्थ—जिस प्रकार नेत्र का रोगी पुरुष नेत्र से देखने के लिए किसी वैद्य द्वारा उत्तम जल से बनाई हुई सलायी का सेवन करता है उसी प्रकार आचार्यवर पद्मनंदि नामक वैद्य ने भी यह ब्रह्मचर्य रक्षावर्ती उत्तम वचन तथा अर्थरूप जल से २२ श्लोकों में बनाई है। इसलिए जो मनुष्य समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित निर्ग्रंथ हैं और प्रबल तपस्वी तथा परलोक के देखने के अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही इस कामरूपीज्वर को शमन करने वाली सलायी (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ती) का सेवन करना चाहिए अर्थात् उनको अवश्य ही पूरी तौर से ब्रह्मचर्य का रक्षण करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा रचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिका में
ब्रह्मचर्यरक्षावर्ती नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥१२॥

१३.
ऋषभस्तोत्र

(गाथा)

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलयेकदीव तित्थयर।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह ॥१॥
जय ऋषभ नाभिनंदन त्रिभुवननिलयैकदीप तीर्थंकर।
जय सकल जीव वत्सल निर्मल गुणरत्ननिधे नाथ ॥

अर्थ—श्रीमान् नाभिराजा के पुत्र तथा ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकरूपी घर उसके लिए दीपक तथा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले, हे ऋषभदेव भगवन्! तुम सदा इस लोक में जयवंत रहो तथा समस्त जीवों पर वात्सल्य को धारण करने वाले और निर्मल गुण वे ही हुए रत्न उनके आकर (खजाना) ऐसे हे नाथ! तुम सदा इस लोक में जयवंत रहो।

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीठ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति [१]झायंति जिणणाह ॥२॥
सकलसुरासुरमणिमुकुटकिरणैः कर्वुरितपादपीठ।
त्वां धन्याः प्रेक्षंते स्तुवंति जपंति ध्यायंति जिननाथ॥

अर्थ—समस्त सुर तथा असुर उनके चित्र-विचित्र मणियों से सहित मुकुट, उनकी किरणें उनसे कर्वुरित अर्थात् चित्र-विचित्र है सिंहासन जिनका ऐसे हे जिननाथ! जो मनुष्य आपको देखते हैं और आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! आपको बड़े-बड़े सुर-असुर भी आकर नमस्कार करते हैं इसलिए हर एक मनुष्य को आपके दर्शन का तथा आपकी स्तुति का और आपके जप तथा ध्यान का सुलभ रीति से अवसर नहीं मिल सकता किन्तु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं जिनको आपका दर्शन मिलता है और आपकी स्तुति तथा जप और ध्यान का भी अवसर मिलता है वे मनुष्य संसार में धन्य हैं।

---
१. ज्झायंति।

इसी श्लोक के तात्पर्य को लेकर कहीं पर कहा भी है—

य:पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोर्च्यते
यस्तं वंदति एकशस्त्रिजगतां सोऽहर्निशं वन्द्यते।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्तदमनस्तोमेन संस्तूयते,
यस्तं ध्यायति बलृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः॥१॥

अर्थ—जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् की फूलों से पूजा करता है वह मनुष्य परभव में मंद हास्य सहित ऐसी जो देवांगना उनके नेत्रों से पूजित होता है। और जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्र को वंदता है वह मनुष्य रात-दिन तीनों लोक में वंदनीय होता है अर्थात् तीनों लोक आकर उसकी वंदना करता है। तथा जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करता है परलोक में बड़े-बड़े इंद्र उसकी स्तुति करते हैं। और जो मनुष्य एक बार भी जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करता है वह समस्त कर्मों से रहित हो जाता है तथा बड़े-बड़े योगीश्वर भी उस मनुष्य का ध्यान करते हैं। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे भगवान् की पूजा, वंदना, स्तुति तथा ध्यान सर्वदा किया करें।

चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोये ण माइ महहरिसो।
णाणाच्छिणा उणो जिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ॥३॥
चर्माक्ष्णापि दृष्टे त्वयि त्रैलोक्ये न माति महाहर्षः।
ज्ञानाक्ष्णा पुनर्स जिन न जानीमः किं परिस्फुरति॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे भगवन्! यदि हम आपको चर्मचक्षु से भी देख लें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनों लोकों में नहीं समाता। फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्र से देखें तब तो हम कह ही नहीं सकते कि हमको कितना आनंद होगा ?

भावार्थ—चर्म के नेत्र का विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है इसलिए उस चर्मचक्षु से आपका समस्त स्वरूप हमको नहीं दिख सकता किन्तु हे प्रभो! उस चर्म नेत्र से जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उससे ही हमको इतना भारी हर्ष होता है फिर और की तो क्या बात, वह तीनों लोक में भी नहीं समाता किन्तु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्र से आपके समस्त स्वरूप को देखें तब हम नहीं जान सकते हमको कितना आनन्द होगा?

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं।
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवडसालूरो॥४॥
त्वां जिन ज्ञानमनंतं विषयीकृतसकलवस्तुविस्तारं।
यः स्तौति स प्रकाशयति समुद्रकथामवटसालूरः॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! जो पुरुष, नहीं है अंत जिसका तथा जिसने समस्त वस्तुओं के विस्तार को विषय कर लिया है ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है वह कुएँ का मेंढ़क समुद्र की कथा का

वर्णन करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कुएँ का मेंढ़क समुद्र की कथा नहीं कर सकता उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आपका स्तवन तथा आपको नमस्कार नहीं करता उसका ज्ञान समस्त पदार्थों का विषय करने वाला नहीं होता किन्तु जो मनुष्य आपकी भक्ति पूर्वक स्तुति करता है उसको विस्तृत ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अह्मारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरइ।
आयेसम्मग्गंती पुरओ हियेइच्छिया लच्छी॥५॥
अस्मादृशां तव गोत्रकीर्तनेनापि जिनेश संचरति।
आदेशं मार्गयंती पुरतोहृदयेप्सिता लक्ष्मी:॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके नाम के कीर्तन मात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञा को माँगती हुई मनोवांछित लक्ष्मी गमन करती है।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! आपके नाम में ही इतनी शक्ति है कि आपके नाम के कीर्तन मात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के सामने हमारी आज्ञा को माँगती हुई लक्ष्मी दौड़ती फिरती है तब जो मनुष्य साक्षात् आपको प्राप्त कर लेगा उसकी तो फिर बात ही क्या है? अर्थात् उसको तो अवश्य ही अंतरंग तथा बहिरंग लक्ष्मी की प्राप्ति होगी।

जासि सिरी तइ संते तुव अवयणमित्तिये णट्ठा[१]।
संके जणियाणट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धा वि॥६॥
आसीत् श्री: त्वयि सति त्वयि अवतीर्णे नष्टा।
शंके जनितानष्ठा दृष्टा सर्वार्थसिद्धावपि॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ! हे जिनेश! जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे उस समय जैसी उस विमान की शोभा थी वह शोभा आपके इस पृथ्वीतल पर उतरने पर आपके वियोग से उत्पन्न हुए दुख से नष्ट हो गई ऐसा मैं (ग्रन्थकार) शंका (अनुमान) करता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन्! आपमें यह बड़ी भारी एक प्रकार की खूबी मौजूद है कि जहाँ पर आप निवास करते हैं वहीं पर उत्तम शोभा भी रहती है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान में विराजमान थे उस समय उस विमान की बड़ी भारी शोभा थी किन्तु जिस समय आप इस पृथ्वी तल में उतरकर आये उस समय उस विमान की उतनी शोभा नहीं रही किन्तु इस पृथ्वी तल की शोभा अधिक बढ़ गई।

णाहिघरे वसुहारा बडणं जं सुइर महितहो अरणी।
आसि णहाहि जिणेसर तेण धरा वसुमयी जाया॥७॥

---

१. णट्ठाए।

नाभिगृहे वसुधारापतनं यत् सुचिरं महीमवतरणात्
आसीत् नभसो जिनेश्वर तेन धरा वसुमती जाता।

अर्थ—हे जिनेश्वर! जिस समय आप इस पृथ्वी तल पर उतरे थे उस समय जो नाभिराजा के घर में बहुत काल तक धन की वर्षा आकाश से हुई थी, उसी से हे प्रभो! यह पृथ्वी वसुमती हुई है।

भावार्थ—पृथ्वी का नाम वसुमती है और जो धन को धारण करने वाली होवे उसी को वसुमती कहते हैं। इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस पृथ्वी का नाम वसुमती जो पड़ा है सो हे भगवन्! आपकी कृपा से ही पड़ा है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान से पृथ्वी मंडल पर उतरे थे उस समय बराबर १५ मास तक रत्नों की वृष्टि इस पृथ्वी मंडल में नाभिराजा के घर में हुई थी। इसलिए पृथ्वी के समस्त दारिद्र्य दूर हो गये थे किन्तु पहले इसका नाम वसुमती नहीं था।

सच्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे।
पुरऊपट्टो वज्झइ मज्झे से पुत्रवत्तीणं॥८॥
शचीसुरनमितपदा मरुदेवी प्रभो स्थितोऽसि यद्गर्भे
पुरतः पट्टो बध्यते मध्ये तस्याः पुत्रवतीनाम्।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित हुए थे इसीलिए मरुदेवी माता के चरण इन्द्राणी तथा देवों से नमस्कार किए गये हैं और जितनी पुत्रवती स्त्रियाँ थीं उन सबमें मरुदेवी का ही पद सबसे प्रथम रहा।

भावार्थ—संसार में बहुत सी स्त्रियाँ पुत्रों को पैदा करने वाली हैं, उनमें मरुदेवी के ही चरणों को क्यों इन्द्राणी तथा देवों ने नमस्कार किया ? और उनके चरणों की ही क्यों सेवा की ? इसका कारण केवल यही है कि हे प्रभो! मरुदेवी माता के गर्भ में आप आकर विराजमान हुए थे इसलिए उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई और वे जितनी पुत्रों को पैदा करने वाली स्त्रियाँ थीं, और हैं, उनमें सबमें उत्तम समझी गई और कोई कारण नहीं।

अंकत्थे तइ दिट्ठे जंतेण सुरालयं सुरिंदेण।
अणिमेसत्तबहुत्तं सयलं णयणाणपडिवण्णं॥९॥
अंकस्थे त्वयि दृष्टे गच्छता सुरालयं सुरेन्द्रण
अनिमेषत्वबहुत्वं सफलं नयनानां प्रतिपन्नम्।

अर्थ—हे जिनेन्द्र! सुमेरु पर जाते हुए इन्द्र की गोद में स्थित आपका दर्शन होने पर उसने अपने नेत्रों की निर्निमेषता (झपकने का अभाव) और अधिकता (सहस्र संख्या) को सफल समझा।

भावार्थ—हे प्रभो! इन्द्र के नेत्रों की अनिमेषता और अधिकता आपके देखने से ही सफल हुई थी। यदि इन्द्र आपके स्वरूप को न देखता तो उसके नेत्रों का पलक रहितपना और हजार नेत्रों का धारण करना, सर्वथा निष्फल ही समझा जाता।

सारार्थ—आपके समान रूपवान संसार में दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं था।

तित्थत्तणमावण्णो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया॥१०॥
तीर्थत्वमापन्नो मेरुस्तव जन्मस्नानजलयोगेन
तत् तस्य सूरप्रमुखाः प्रदक्षिणां जिन कुर्वंति।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिस समय आपका जन्म स्नान मेरु के ऊपर हुआ था उस समय उस स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरु तीर्थपने को प्राप्त हुआ था अर्थात् तीर्थ बना था और इसीलिए हे जिनेन्द्र! उस मेरु पर्वत की सूर्य, चन्द्रमा आदिक सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

भावार्थ—आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! जब तक मेरु पर्वत के ऊपर आपका जन्म स्नान नहीं हुआ था तब तक वह मेरु पर्वत सामान्य पर्वतों के समान था और तीर्थ भी नहीं था किन्तु जिस समय से आपका जन्म स्नान मेरु के ऊपर हुआ है उस समय से उस आपके जन्म स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरु पर्वत तीर्थ अर्थात् पवित्र स्थान हो गया है और यह बात संसार में प्रत्यक्ष गोचर है कि जो वस्तु पवित्र हुआ करती है उसकी लोग भक्ति तथा परिक्रमा आदि करते हैं। इसीलिए उस मेरु को पवित्र मानकर सूर्य-चन्द्रमा आदि रात-दिन उस मेरु की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते हैं ऐसा मालूम होता है।

मेरुसिरे पडणुच्छलि - यणीरताडणपणट्ठदेवाणं।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासियं किण्णं॥११॥
मेरुशिरसि पतनोच्छलननीरताडनप्रणष्टदेवानाम्
तद्वृत्तं तव स्नानं तथा यथा नभ आश्रितं कीर्णम्।

अर्थ—जन्माभिषेक के समय मेरुपर्वत के शिखर पर नीचे गिरकर ऊपर उछलते हुए जल के अभिघात से कुछ खेद को प्राप्त हुए देवों के द्वारा आपका यह जन्माभिषेक इस प्रकार से सम्पन्न हुआ कि जिससे आकाश उन देवों और जल से व्याप्त हो गया।

णाह तुह जम्म ण्हाणे हरिणो मेरुम्मि णच्चमाणस्स।
वेल्लिरभुवाहि भग्गा तह अज्जवि भंगुरा मेहा॥१२॥
नाथ तव जन्म स्नाने हरे मेंरौ प्रनृत्यमानस्य
प्रलंबभुजाभ्यां भग्नाः तथा अद्यापि भंगुरा मेघाः।

अर्थ—हे प्रभो! आपके जन्म स्नान के समय जिस समय अपनी लंबी भुजाओं को फैलाकर इंद्र ने नृत्य किया था। उन लंबी भुजाओं से जो मेघ भग्न हुए थे वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही हैं।

भावार्थ—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो मेघ क्षणभंगुर मालूम पड़ते हैं उनकी क्षणभंगुरता का यही कारण है कि जिस समय भगवान् का जन्म स्नान मेरु पर्वत के ऊपर हुआ था, उस समय उस मेरु पर्वत के ऊपर आनंद में आकर अपनी भुजाओं को फैलाकर इंद्र ने भगवान् के सामने नृत्य किया था और उस समय फैली हुई भुजाओं से मेघ भग्न हुए थे। इसी कारण अब भी मेघों में भंगुरता है किन्तु भंगुरता का दूसरा कोई भी कारण नहीं है।

जाण बहुएहि वित्ती जाया कप्पदुमेहि तेहि विणा।
एक्केण वि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह ॥१३॥
यासां बहुभिर्वृत्तिर्जाता कल्पद्रुमैः तैर्विना
एकेनापि तासां त्वया प्रजानां परिकल्पिता नाथ।

अर्थ—हे नाथ! हे प्रभो! जिन प्रजाओं की आजीविका बहुत से कल्पवृक्षों से होती थी उन कल्पवृक्षों के अभाव में उन प्रजाओं की आजीविका आप अकेले ने ही की।

भावार्थ—जब तक ऋषभदेव भगवान् की उत्पत्ति पृथ्वी तल पर नहीं हुई थी उस समय तक इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी और उस भोगभूमि की स्थिति में समस्त जीव भोग विलासी ही थे क्योंकि युगलिया उत्पन्न होते थे और जिस समय उनको जिस बात की आवश्यकता होती थी उस समय उस वस्तु की प्राप्ति के लिए उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ता था किन्तु वे सीधे कल्पवृक्षों के पास चले जाते थे तथा जिस बात की उनको अभिलाषा होती थी उस अभिलाषा की पूर्ति उन कल्पवृक्षों के सामने कहने पर ही हो जाती थी क्योंकि उस समय दस प्रकार के कल्पवृक्ष मौजूद थे तथा जुदी-जुदी सामग्री देकर जीवों को आनंद देते थे। किन्तु जिस समय भगवान् आदिनाथ का जन्म हुआ उस समय भरतक्षेत्र में कर्मभूमि की रचना हो गई थी। भोगभूमि की रचना न रही, तथा कल्पवृक्ष भी नष्ट हो गये थे। उस समय जीव भूखे मरने लगे और उनको अपनी आजीविका की फिक्र हुई। तब उस समय भगवान् आदीश्वर ने असि, मषि, वाणिज्य आदि का उपदेश दिया तथा और भी नाना प्रकार के लौकिक उपदेश दिये जिससे उनको फिर भी वैसा ही सुख मालूम होने लगा था। इसलिए कर्मभूमि की आदि में भगवान् आदिनाथ ने ही कल्पवृक्षों का काम किया था इसलिए इसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार भगवान् की स्तुति करते हैं कि हे प्रभो! जिन प्रजा की आजीविका भोगभूमि की रचना के समय बहुत से कल्पवृक्षों से हुई थी। वही आजीविका कर्मभूमिके समय बिना कल्पवृक्षों के आपने अकेले ही की थी। इसलिए हे जिनेन्द्र! आप कल्पवृक्षों में भी उत्तम कल्पवृक्ष हैं।

पहुणा तए सणाहा धरासि ती ए कहण्णहो वूढो।
णवघणसमयसमुल्लसियसासछम्मेण रोमंचो॥१४॥
प्रभुणा त्वया सनाथा धरा आसीत् तस्याः कथमहोवृद्धः
नवघनसमयसमुल्लासीतश्वासच्छद्मना रोमांचः।

अर्थ—हे भगवन्! उस समय पृथ्वी आप जैसे प्रभु को पाकर सनाथ हुई थी। यदि ऐसा न हुआ होता तो फिर वह नवीन वर्षाकाल के समय प्रकट हुए धान्यांकुरों के छल से रोमांच को कैसे धारण कर सकती थी।

भावार्थ—जो स्त्री विवाह की अत्यन्त अभिलाषिणी है यदि उसका विवाह हो जावे अर्थात् वह सनाथा हो जाये तो जिस प्रकार उसके शरीर में रोमांच उद्गत हो जाते हैं और उस रोमांच के उद्गम से उसकी सनाथता का अनुमान कर लिया जाता है उसी प्रकार हे प्रभो! जिस समय आप इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए थे उस समय पृथ्वी में रोमांच हुए। इसलिए उन रोमांचों से यह बात जान ली थी कि आपने इस पृथ्वी को सनाथा अर्थात् नाथसहित किया।

विज्जु व्व घणे रंगे दिट्ठपणिट्ठा पणच्चिरी अमरी।
जइया तइया वि तये रायसिरी तारिसी दिट्ठा॥१५॥
विद्युदिव घने रंगे दृष्टप्रणष्टा प्रनृत्यती अमरी
यदा तदापि त्वया राज्यश्रीः तादृशी दृष्टा।

अर्थ—हे वीतराग! जिस प्रकार मेघ में बिजली दिख कर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आपने जिस समय नृत्य करती हुई नीलांजना नाम की देवांगना को पहले देखकर पीछे नष्ट हुई देखी उसी समय आपने राज्य लक्ष्मी को भी वैसा ही देखा अर्थात् उसको भी आपने चंचल समझ लिया।

भावार्थ—किसी समय भगवान् सिंहासन पर आनंद से विराजमान थे और नीलांजना नाम की अप्सरा का नृत्य देख रहे थे उसी समय अकस्मात् वह अप्सरा विलीन हो गई पुनः दूसरी प्रकट हुई इस दृश्य को देखकर ही भगवान् को शीघ्र ही इस बात का विचार हुआ कि जिस प्रकार यह अप्सरा लीन होकर दूसरी तत्काल में प्रकट हुई है उसी प्रकार इस लक्ष्मी का भी स्वभाव है अर्थात् यह भी चंचल है अतएव उस समय शीघ्र ही भगवान् को वैराग्य हो गया। उसी अवस्था को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने इस श्लोक से भगवान् की स्तुति की है।

वरेग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णं तिणव्व जं मुक्का।
देव तए सा अज्ज वि विलवह सरिजलरवा वरइ ॥१६॥
वैराग्यदिने सहसा वसुधा जीर्णतृणमिव यत् मुक्ता।
देव त्वया सा अद्यापि विलपति सरिज्जलमिषेण वराकी॥

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था उस दिन आपने यह पृथ्वी पुराने तृण के समान छोड़ दी थी। वह दीन पृथ्वी इस समय भी नदी के ब्याज से विलाप कर रही है।

भावार्थ—जिस समय नदी में जल का प्रवाह आता है उस समय नदी कल-कल शब्द करती है उसको अनुभवकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! यह नदी जो कल-कल शब्द कर रही है यह इसका कल-कल शब्द नहीं है किन्तु यह कल-कल शब्द इस पृथ्वी के विलाप का शब्द है क्योंकि

जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था उस समय आपने इस बिचारी पृथ्वी को तृण के समान छोड़ दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिए आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर यह विलाप कर रही है। और कोई भी कारण नहीं है।

अइसोइओ सि तइया काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह।
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकय मूलखंभो व्व॥१७॥
अतिशोभितोऽसि तदा कायोत्सर्गास्थितस्त्वं नाथ।
धर्मैकगृहारंभे उर्ध्वीकृत मूलस्तंभ इव।

अर्थ—हे भगवन्! हे प्रभो! जिस समय आप कायोत्सर्ग सहित विराजमान थे उस समय धर्मरूपी घर के निर्माण में उन्नत मूलखंभ के समान आप अत्यन्त शोभित होते थे।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस समय आप कायोत्सर्ग मुद्रा को धारण कर वन में खड़े थे उस समय ऐसा मालूम होता था कि आप इस धर्मरूपी घर के स्थित रहने में प्रधान खंभ ही हैं अर्थात् जिस प्रकार मूल खंभ के आधार से घर टिका रहता है उसी प्रकार आपके द्वारा ही यह धर्म विद्यमान था।

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाणसहसासरीरधूमोव्व ।
सोहइ जिण तुह सीसे महुपरकुलसं णिहो केसभरो॥१८॥
हृदयस्थध्यानशिखिदह्यमानशीघ्रशरीरधूम्रवत्।
शोभते जिन तव शिरसि मधुकरकुलसन्निभः केशसमूहः।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! भौंरों के समूह के समान काला जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है वह हृदय में स्थित ध्यानरूपी अग्नि उससे शीघ्र जलाया हुआ जो शरीर, उसके धूआँ के समान शोभित होता है ऐसा मालूम पड़ता है।

भावार्थ—धुआँ भी काला है और भगवान् के मस्तक पर विराजमान केशों का समूह भी काला है इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! यह जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है वह बालों का समूह नहीं है किन्तु वैराग्य संयुक्त आपके हृदय में जलती हुई जो ध्यानरूपी अग्नि उससे जलाया हुआ जो आपका शरीर है उसका यह धुआँ है।

कम्मकलंकचउक्के णट्ठेणिम्मलसमाहिभूईए।
तुह णाणदप्पणे च्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं ॥१९॥
कर्मकलंकचतुष्के नष्टे निर्मलसमाधिभूत्या।
तव ज्ञानदर्पणेऽत्र लोकालोकं प्रतिबिम्बितम्।

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! निर्मल समाधि के प्रभाव से चार घातिया कर्मों के नाश होने पर आपके सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पण में यह लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित हुआ था।

भावार्थ—जब तक इस आत्मा में अखंड ज्ञान (केवलज्ञान) की प्रकटता नहीं होती तब तक यह आत्मा लोक तथा अलोक के पदार्थों को नहीं जान सकता किन्तु जिस समय उस केवलज्ञान की प्रकटता हो जाती है उस समय यह लोकालोक के पदार्थों को जानने लग जाता है तथा उस सम्यग्ज्ञान की प्रकटता तेरहवें गुणस्थान में, जबकि प्रकृष्ट ध्यान से चार घातिया कर्मों का नाश हो जाता है, तब होती है। इसी आशय को लेकर ग्रन्थकार स्तुति करते हैं कि हे प्रभो! आपने प्रकृष्ट ध्यान से चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है। इसीलिए आप समस्त लोकालोक के भलीभाँति जानने वाले हुए हैं।

आवरणाईणि तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण।
कम्मचउक्केण मु[1]अं व णाह भीएण सेसेण॥२०॥
आवरणादीनि त्वया खमूलमुन्मूलितानि दृष्ट्वा।
कर्मचतुष्केण मृतवत् नाथ भीतेन शेषेण॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिस समय आपने जड़सहित ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया था उस समय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मों को देखकर शेष के जो चार अघातिया कर्म रहे, वे भय से आपकी आत्मा में मरे हुए के समान रह गये थे।

भावार्थ—जिस समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अंतराय, इन चार कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय शेष जो वेदनीय, आयु, नाम, तथा गोत्र ये चार अघातिया कर्म हैं वे बलहीन रह जाते हैं। इसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन्! जो अघातिया कर्म आपकी आत्मा में मृत के समान अशक्त होकर पड़े रहे, उनकी अशक्तता का कारण यह है कि जब आपने अत्यन्त प्रबल चार घातिया कर्मों को नाश कर दिया, उस समय उनको बड़ा भारी भय हुआ कि हम भी अब निर्मूल किए जायेंगे। इसीलिए वे मरे हुए के समान अशक्त ही आपकी आत्मा में स्थित रहे।

णाणामणिणिम्माणे देव ट्ठिओ सहसि[2] समवसरणम्मि।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं॥२१॥
नानामणिनिर्माणे देव स्थितः शोभते समवसरणे।
उपरि इव सन्निविष्टः यावतां योगिनां सर्वेषाम्।

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! जिस समवसरण की रचना चित्र-विचित्र मणियों से की गई थी ऐसे समवसरण में जितने मुनि थे उन समस्त मुनियों के ऊपर विराजमान आप अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते थे।

---

१. मुयं। २. सुहसि, सोहसि

लोउत्तरा वि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये।
लहिऊण लहइ महिमं रविणो णलिणि व्व कुसुमड्ढा ॥२२॥
लोकोत्तरापि सा समवसरणशोभा जिनेश तव पादौ।
लब्ध्वा लभते महिमानं रवेः नलिनीव कुसुमस्था॥

अर्थ—हे भगवन्! हे प्रभो! जिस प्रकार पुष्पों से व्याप्त कमलिनी सूर्य के किरणों को पाकर और भी अधिक महिमा को प्राप्त होती है। उसी प्रकार यद्यपि समवसरण की शोभा स्वभाव से ही लोकोत्तर होती है तो भी हे जिनेन्द्र! आपके चरण कमलों को पाकर वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है।

भावार्थ—एक तो कमलिनी स्वभाव से ही अत्यन्त मनोहर होती है किन्तु यदि वही कमलिनी सूर्य की किरणों को प्राप्त हो जावे तो और भी महिमा को प्राप्त होती है। उसी प्रकार समवसरण की शोभा एक तो स्वभाव से ही लोकोत्तर अर्थात् सबसे उत्तम होती है और आपके चरणों के आश्रय को प्राप्त होकर, वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है।

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदो व्व सह सितं तह वि।
सीहासणायलत्थो जिणंद कयकुवलयाणंदो॥२३॥
निर्दोषः अकलंकः अजडः चद्रवत् शोभते तथापि।
सिंहासनाचलस्थः जिनेन्द्र कृतकुवलयानंदः॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आप यद्यपि निर्दोष तथा अकलंक और अजड़ (अज्ञानता से रहित) है तो भी अचल सिंहासन में स्थित तथा किया है कुवलय को आनंदित जिन्होंने ऐसे आप चन्द्रमा के समान शोभित होते हैं।

भावार्थ—आप तो निर्दोष हैं और चन्द्रमा दोषों (रात्रि) से सहित है अर्थात् सदोष है और आप तो कर्म कलंक से रहित हैं किन्तु चन्द्रमा कलंक से सहित है तथा आप तो जड़ता रहित हैं किन्तु चन्द्रमा जड़ता से सहित है इसलिए इस रीति से तो आप में तथा चन्द्रमा में भेद है परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमा पर्वत के शिखर पर स्थित रहता है और रात्रिविलासी कमलों को आनंद का देने वाला होता है इसलिए शोभा को प्राप्त होता है। उसी प्रकार पर्वत के समान आप भी सिंहासन पर स्थित थे तथा आपने समस्त पृथ्वी मंडल को आनंद दिया था इसलिए आप भी चन्द्रमा के समान ही शोभित होते थे।

अच्छंतु[१] ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा।
होइ असोहो रुक्खो वि णाह तुह संणिहाणत्थो॥२४॥
आस्तां तावत् इतरा स्फुरितविवेका नम्रशिरः शिखराः।
भवति अशोक वृक्षः अपि नाथ तव सन्निधानस्थः॥

१. इच्छतुं।

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिन भव्य जीवों के ज्ञान की ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं वे तो दूर ही रहे किन्तु हे भगवन्! आपके समीप रहा हुआ जड़ वृक्ष भी अशोक हो जाता है।

भावार्थ—हे जिनेश! जिनको ज्ञान मौजूद है अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करने वाले हैं ऐसे भव्यजीव आपके पास में रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोक रहित हो जाते हैं। इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु जो वृक्ष जड़ है वह भी आपके केवल समीप में रहा हुआ ही अशोक हो जाता है। इसमें बड़ा भारी आश्चर्य है।

छत्तत्तयमालंवियणिम्मलमुत्ताहलच्छलातुज्झ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयं पि व णाह बिंदूहिं ॥२५॥

छत्रत्रयमालंवितनिर्मलमुक्ताफलच्छलात्तव।
जनलोचनेषु वर्षति अमृतमिव नाथ बिंदुभिः॥

अर्थ—हे भगवन्! हे नाथ! आपके जो ये तीनों छत्र हैं वे लटकते हुए जो निर्मल मुक्ताफल उनके ब्याज से मनुष्यों की आँखों में बिंदुओं से अमृत की वर्षा करते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस समय भव्यजीव आपके छत्र को देखते हैं उस समय उनको इतना आनंद होता है कि आनंद से उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगता है।

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाह सुरेसहत्थचलियाह।
तुह देव सरहससहरकिरणकयाइ व्व चमराइ॥२६॥

कृतलोकलोचनोत्पलहर्षाणि सुरेशहस्तचालितानि।
तव देव शरच्छशधरकिरणकृतानि इव चमराणि॥

अर्थ—जिन चमरों के देखने से समस्त लोक के नेत्ररूपी कमलों को हर्ष होता है और जिनको बड़े-बड़े इंद्र ढोरते हैं ऐसे हे जिनेन्द्र! आपके चमर शरदऋतु के चन्द्रमा की किरणों से बनाये गये हैं। ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—अन्य ऋतु की अपेक्षा शरदऋतु के चन्द्रमा की किरण बहुत स्वच्छ तथा सफेद होती है इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि हे भगवन्! आपके चँवर इतने स्वच्छ तथा सफेद हैं, जो कि ऐसे मालूम होते हैं मानो शरदकालीन चन्द्रमा की किरणों से ही बनाये हुए हैं और जिनको देखने मात्र से समस्त लोक के नेत्रों को आनंद होता है तथा जिनको बड़े-बड़े इंद्र आकर ढोरते हैं।

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण।
अमरकयपुप्फविट्ठिच्छलइव वहु मुअइ कुसुमसरो॥२७॥

विफलीकृतपंचशरः पंचशरो जिन त्वयि कृत्वा।
अमरकृतपुष्पवृष्टिच्छलाद् इव बहून् मुंचति कुसुमशरान्॥

अर्थ—हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! जिस कामदेव के, आपके सामने पाँचों बाण विफल हो गये हैं ऐसा कामदेव, देवों के द्वारा जो आपके ऊपर पुष्पों की वर्षा हुई, उसके ब्याज से पुष्पों के बाणों का त्यागकर रहा है, ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—आपके अतिरिक्त जितने भी देव हैं उनको बाण मार-मार कर कामदेव ने वश में कर लिया किन्तु हे प्रभो! जब वही कामदेव अपने बाणों से आपको भी वश में करने आया तब आपके सामने तो उसके बाण कुछ कर ही नहीं सकते थे। इसलिए उस कामदेव के समस्त बाण आपके सामने विफल हो गये। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि जिस समय देवों ने आपके ऊपर फूलों की वर्षा की उस समय वह फूलों की वर्षा नहीं थी किन्तु अपने बाणों को योग्य न समझकर कामदेव अपने फूलों के बाणों को फेंक रहा है क्योंकि संसार में यह बात देखने में भी आती है कि समय पर जो चीज काम नहीं देती है उसको मनुष्य फिर छोड़ ही देता है।

एस जिणो परमप्पा णाणोण्णाणं सुणेह मा वयणं।
तुह दुंदुही रसंतो कहइ व तिजयस्स मिलियस्स॥२८॥
एष जिनः परमात्मा नान्योऽन्येषां श्रृणुत मावचनम्।
तव दुंदुभिःरसन् कथयति इव त्रिजगतः मिलितस्य॥

अर्थ—हे भगवन्! बजती हुई जो आपकी दुंदुभि (नगाड़ा) वह तीनों लोकों को इकट्ठा कर यह बात कहती है कि हे लोगो! यदि वास्तविक परमात्मा हैं तो भगवान् आदिनाथ ही हैं किन्तु इनसे भिन्न परमात्मा कोई भी नहीं है। इसलिए तुम इनसे अतिरिक्त दूसरे का उपदेश मत सुनो इन्हीं भगवान् के उपदेश को सुनो।

भावार्थ—मंगलकाल में जिस समय आपकी दुंदुभि आकाश में शब्द करती है अर्थात् बजती है उस समय उसके बजने का शब्द निष्फल नहीं है किन्तु वह इस बात को पुकार-पुकार कर कहती है कि हे भव्य जीवो! यदि तुम परमात्मा का उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान् श्री आदिनाथ का दिया हुआ ही उपदेश सुनो, किन्तु इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे देव हैं उनके उपदेश को अंशमात्र भी मत सुनो क्योंकि यदि परमात्मा हैं तो श्री आदीश्वर भगवान् ही हैं किन्तु इनसे भिन्न लोक में दूसरा परमात्मा नहीं है।

रविणो संतावयरं ससिणो उण जड्डयाअरं देव।
संतावजडत्तहरं तुम्हच्चिय पहु पहावलयं॥२९॥
रवेः संतापकरं शशिनःपुनः जडताकरं देव।
संतापजडत्वहरं तवार्चित प्रभो प्रभावलयम्॥

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! सूर्य का प्रभासमूह तो मनुष्यों को संताप का करने वाला है तथा चन्द्रमा का प्रभासमूह जड़ता का करने वाला है किन्तु हे पूज्यवर! आपका प्रभासमूह तो संताप तथा जड़ता दोनों को नाश करने वाला है।

भावार्थ—यद्यपि संसार में बहुत से तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु हे पूज्यवर प्रभो! आपके समान कोई भी तेजस्वी पदार्थ उत्तम नहीं है क्योंकि हम यदि सूर्य को उत्तम तेजस्वी पदार्थ कहें सो हम कह नहीं सकते क्योंकि उसका जो प्रभा का समूह है वह मनुष्यों को अत्यन्त संताप का करने वाला है और यदि चन्द्रमा को हम उत्तम तथा तेजस्वी पदार्थ कहें तो यह भी बात नहीं बन सकती है क्योंकि चन्द्रमा की प्रभा का समूह जड़ता का करने वाला है किन्तु हे जिनवर! आपकी प्रभा का समूह संताप तथा जड़ता दोनों का सर्वथा नाश करने वाला है। इसलिए आपकी प्रभा का समूह ही उत्तम तथा सुखदायक है।

मंदरमहिज्जमाणांबुरासिणिघोससण्णिहा तुज्झ।
वाणी सुहा ण अण्णा संसारविसस्स णासयरी॥३०॥
मंदरमथ्यमानाम्बुराशिनिर्घोषसन्निभा तव।
वाणी शुभा संसारविषस्य नाशकरी॥

अर्थ—हे भगवन्! हे जिनेश! मंदराचल से मंथन किया गया जो समुद्र उसका जो निर्घोष (बड़ा भारी शब्द) उसके समान जो आपकी वाणी है वह शुभ है किन्तु अन्य वाणी शुभ नहीं है तथा आप की वाणी ही संसाररूपी विष को नाश करने वाली है किन्तु और दूसरी वाणी संसाररूपी विष को नाश करने वाली नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन्! यद्यपि संसार में बहुत से बुद्ध प्रभृति देव मौजूद हैं और वाणी उनकी भी मौजूद है किन्तु हे प्रभो! जैसी आपकी वाणी (दिव्यध्वनि) शुभ तथा उत्तम है वैसी बुद्ध आदि की वाणी नहीं क्योंकि आपकी वाणी अनेकांत स्वरूप पदार्थ का वर्णन करने वाली है और उनकी वाणी एकांत स्वरूप पदार्थ का वर्णन करने वाली है तथा वस्तु अनेकांतात्मक ही है एकान्तात्मक नहीं और आपकी वाणी समस्त संसाररूपी विष को नाश करने वाली है किन्तु बुद्ध आदि की वाणी संसाररूपी विष को नाश करने वाली नहीं, संसाररूपी विष को उत्कट करने वाली ही है तथा आपकी वाणी मंदराचल से जिस समय समुद्र का मंथन हुआ था और जैसा उस समय में शब्द हुआ था उसी शब्द के समान उन्नत तथा गंभीर है।

पत्ताण सारणिं पिव तुज्झ गिरं सा गई जडाणं पि।
जो मोक्खतरुट्ठाणे असरिसफलकारणं होई॥३१॥
प्राप्तानां सारिणीमिव तव गिरं सा गतिः जडानामपि।
या मोक्षतरुस्थाने असदृशफल कारणं भवति।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! जो अज्ञानी जीव आपकी वाणी को प्राप्त कर लेते हैं उन अज्ञानी जीवों की भी वह गति होती है जो गति मोक्षरूपी वृक्ष के स्थान में अत्युत्तम फल की कारण होती है।

भावार्थ—जो जीव ज्ञानी हैं वे आपकी वाणी को पाकर मोक्षस्थान में जाकर उत्तम फल को प्राप्त होते हैं। इसमें तो किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं किन्तु हे भगवन्! अज्ञानी पुरुष भी आपकी वाणी का आश्रय कर मोक्ष स्थान में उत्तम फल को प्राप्त करते हैं और जिस प्रकार नदी वृक्ष के पास में जाकर उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण होती है उसी प्रकार आपकी वाणी भी उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण है इसलिए आपकी वाणी उत्तम नदी के समान है।

पोयं पिव तुह पवयणम्मि सल्लीणफुडमहो कयजडोहं।
हेलाएच्चिय जीवा तरंति भवसायरमणंतं॥३२॥
पोत इव तव प्रवचने सल्लीना स्फुटमहो कृतजलौघम्।
हेलयार्चित जीवा: तरंति भवसागरमनंतं॥

अर्थ—जिन मनुष्यों के पास जहाज मौजूद है वे मनुष्य जिस प्रकार उस जहाज में बैठकर जिसमें बहुत सा जल का समूह विद्यमान है ऐसे समुद्र को बात ही बात में तर जाते हैं। उसी प्रकार हे पूज्य! हे जिनेश! जो मनुष्य आपके वचन में लीन हैं अर्थात् जिन मनुष्यों को आपके वचन के ऊपर श्रद्धान है बड़े आश्चर्य की बात है कि वे मनुष्य भी पल मात्र में जिसका अंत नहीं है ऐसे संसाररूपी सागर को तर जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! इस समय जितने भी जीव हैं सब अज्ञानी हैं उनको स्वयं वास्तविक मार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता, यदि हो सकता है तो आपके वचन में श्रद्धान रखने पर ही हो सकता है। इसलिए हे प्रभो! जिन मनुष्यों को आपके वचनों पर श्रद्धान है वे मनुष्य अनंत संसार समुद्र को बात-की-बात में तर जाते हैं किन्तु जो मनुष्य आपके वचनों में श्रद्धान नहीं रखते वे इस संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते जिस प्रकार जहाज समुद्र को पार कर सकता है और जिसके पास जहाज नहीं, वह नहीं कर सकता है।

तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडपहं
तह हिययपईप[1]अरं सव्वत्तणमप्पणो णाह॥३३॥
तव वचनमेव साधयति नूनमनेकांतवादविकटपथम्।
तथा हृदयप्रदीपकरं सर्वज्ञत्वमात्मनो नाथ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके वचन ही निश्चय से अनेकांतवादरूपी जो विकट मार्ग है उसको सिद्ध करते हैं तथा हे नाथ! यह जो आपका सर्वज्ञपना है वह समस्त मनुष्यों के हृदयों को प्रकाश करने वाला है।

१. यअरं।

भावार्थ—जितने पदार्थ हैं वे समस्त पदार्थ अनेक धर्म स्वरूप हैं और जिस वाणी से उन पदार्थों के अनेक धर्मों का वर्णन किया जायेगा तभी उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझा जायेगा किन्तु दो एक धर्म के कथन से उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता और हे भगवन्! आपके अतिरिक्त जितने देव हैं उन सबकी वाणी एकांतमार्ग को ही सिद्ध करती है। इसलिए उनकी वाणी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं कह सकती किन्तु आप की वाणी ही अनेकांतमार्ग को सिद्ध करने वाली है। इसलिए वही पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन कर सकती है तथा आपके सर्वज्ञपने से भी समस्त मनुष्यों के हृदय में प्रकाश होता है अर्थात् जिस समय आप उनको यथार्थ उपदेश देते हैं उस समय उनके हृदय में भी वास्तविक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइबलेण केवलिणो।
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतप[१]क्खगणणेवि सो अंधो॥३४॥
विप्रतिपद्यते यस्तव गिरि मतिश्रुतिबलेन केवलिनः।
वरदृष्टिदृष्टनभोयातपक्षिगणनेपि सोन्धः॥

अर्थ—हे भगवन्! जो मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान के ही बल से आप केवली के वचन में विवाद करता है वह मनुष्य उस प्रकार का काम करता है कि अच्छी दृष्टि वाले मनुष्य द्वारा देखे हुए जो आकाश में जाते हुए पक्षी उनकी गणना में जिस प्रकार अंधा संशय करता है।

भावार्थ—जिसकी दृष्टि तीक्ष्ण है ऐसा कोई मनुष्य यदि आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गणना करे और उस समय कोई पास में बैठा हुआ अंधा पुरुष उससे पक्षियों की गणना में विवाद करे तो जैसा उस सूझते पुरुष के सामने उस अंधे का विवाद करना निष्फल है। उसी प्रकार हे प्रभो! हे जिनेश! यदि कोई केवल मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का धारी आपके वचन में विवाद करे तो उसका भी विवाद करना निरर्थक ही है क्योंकि आप केवली हैं तथा आपके ज्ञान में समस्त लोक तथा अलोक के पदार्थ हाथ की रेखा के समान झलक रहे हैं और वह प्रतिवादी मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का धारी होने के कारण थोड़े ही पदार्थों का ज्ञाता है।

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगयाणया तुज्झ।
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं॥३५॥
भिन्नानां परनयानां एकमेकमसंगतानां तव।
प्राप्नुवंति जगत्रये जयं मध्ये रिपूणां किं चित्रम्।

अर्थ—हे भगवन्! हे प्रभो! आपके नय, परस्पर में नहीं सम्बन्ध रखने वाले तथा भिन्न, ऐसे पर वादियों के नयरूपी बैरियों के मध्य में तीनों जगत् में विजय को प्राप्त होते हैं। इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं।

---
१. पक्खि।

भावार्थ—परस्पर में नहीं सम्बन्ध रखने वाले तथा एक दूसरे के विरोधी ऐसे शत्रु, जिनमें एकता है तथा एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं ऐसे योद्धाओं के द्वारा जिस प्रकार बात-की-बात में जीत लिए जाते हैं तो जैसा उन शत्रुओं के जीतने में कोई आश्चर्य नहीं है उसी प्रकार हे प्रभो! जो परवादियों के नय परस्पर में एक दूसरे में सम्बन्ध नहीं रखने वाले हैं तथा भिन्न हैं। ऐसे उन नयों को यदि परस्पर में सम्बन्ध रखने वाले तथा अभिन्न आपके नय जीत लेवें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ।
जच्छ जिण तेवि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा॥३६॥
अन्यस्य जगति जिह्वा कस्य सज्ञानस्य वर्णने तव
यत्र जिन तेऽपि जाताः सुरगुरुप्रमुखाः कवयः कुंठाः।

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! ऐसा संसार में कौन सा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तम ज्ञान के धारक आपके वर्णन करने में समर्थ हो ? क्योंकि बृहस्पति आदिक जो उत्तम कवि हैं वे भी आपके वर्णन करने में मंद बुद्धि हैं।

भावार्थ—संसार में बृहस्पति के बराबर पदार्थों के वर्णन करने में दूसरा कोई उत्तम कवि नहीं है क्योंकि वे इंद्र के भी गुरु हैं किन्तु हे जिनेन्द्र! आपके गुणानुवाद करने में वे भी असमर्थ हैं अर्थात् उनकी बुद्धि में भी यह सामर्थ्य नहीं, जो आपका गुणानुवाद वे कर सकें क्योंकि आपके गुण संख्यातीत तथा अगाध हैं। और जब बृहस्पति की जिह्वा भी आपके गुणानुवाद करने में हार मानती है तब अन्य साधारण मनुष्यों की जिह्वा आपका गुणानुवाद कर सके यह बात सर्वथा असंभव है।

सो मोहत्थेणरहिओ पयासिओ पहु सुपहो तए वइया।
[1]तेणाज्ज वि रयणजुआ णिव्विग्घं जंति णिव्वाणं ॥३७॥
स मोहचौररहितः प्रकाशितः प्रभो सुपंथा तस्मिन्काले।
तेनाद्यापि रत्नत्रययुता निर्विघ्नं यांति निर्वाणम्॥

अर्थ—हे प्रभुओं के प्रभु जिनेन्द्र! आपने उस समय मोहरूपी चोर से रहित उत्तम मार्ग का प्रकाशन किया था इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के धारी भव्यजीव इस समय भी उस मार्ग से, बिना ही क्लेश के मोक्ष को चले जाते हैं।

भावार्थ—यदि मार्ग साफ तथा चोरों के भय से रहित होवे तो राहगीर जिस प्रकार बिना ही विघ्न उस मार्ग से चले जाते हैं उसी प्रकार हे भगवन्! आपने भी जिस मार्ग का उपदेश दिया है वह मार्ग भी साफ तथा सबसे बलवान् मोहरूपी चोर से रहित है। इसलिए जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

१. तेणज्ज।

तथा सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय के धारी हैं वे बिना ही किसी विघ्न के सुख से उस मार्ग से मोक्ष को चले जाते हैं।

सारार्थ—यदि मोक्षमार्ग में गमन करने वाले प्राणियों को कोई रोकने वाला है तो मोहरूपी चोर ही है। इसीलिए भव्यजीव सहसा मोक्ष को नहीं जाते और हे भगवन्! आपने मोह रहित मार्ग का वर्णन किया है इसलिए भव्य जीव निर्विघ्न मोक्ष को चले जाते हैं।

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए।
केहिं ण जु णतिणाइ व इयरणिहाणाइ भुवणम्मि॥३८॥
उन्मुद्रिते तस्मिन् खलु मोक्षनिधाने गुणनिधान त्वया।
कैर्न जीर्णतृणानीव इतरनिधानानि भुवने॥

अर्थ—हे भगवन्! हे गुणनिधान! जिस समय आपने मोक्ष रूपी खजाने को खोल दिया था उस समय ऐसे कौन से भव्यजीव नहीं हैं जिन्होंने जीर्ण तृण के समान दूसरे-दूसरे राज्य आदि निधानों को नहीं छोड़ दिया।

भावार्थ-हे जिनेश! हे गुणनिधान! जब तक भव्य जीवों ने मोक्ष रूपी खजाने को नहीं समझा था तथा उसके गुणों को नहीं जाना था तभी तक वे राज्यादि को उत्तम तथा सुख का करने वाला समझते थे किन्तु जिस समय आपने उनको मोक्ष रूपी खजाने को खोलकर दिखा दिया तब उन्होंने राज्यादिक निधानोंको तृण के समान छोड़ दिया अर्थात् वे सब मोक्ष रूपी खजाने की प्राप्ति के इच्छुक हो गये।

मोहमहाफणिडक्को जणो विरायं तुमं पमुत्तूण।
इयरणाए कह पहु विचेयणो चेयणं लहइ ॥३९॥
मोह महाफणिदष्टो जनो विरागं त्वां प्रमुच्य।
इतराज्ञया कथं प्रभो विचेतनः चेतनां लभते॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! जो पुरुष मोहरूपी प्रबल सर्प से काटा गया है अर्थात् जो अत्यन्त मोही है वह मनुष्य समस्त प्रकार के रोगों से रहित वीतराग आपको छोड़कर आपसे भिन्न जो कुदेव हैं उनकी आज्ञा से कैसे चेतना को प्राप्त कर सकता है? अर्थात् वह कैसे ज्ञानी बन सकता है?

भावार्थ—जो जीव यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है तथा यह संपत्ति मेरी है इस प्रकार अनादिकाल से मोह से ग्रस्त हो रहा है अर्थात् जिसको अंशमात्र भी हिताहित का ज्ञान नहीं है हे प्रभो! उस मनुष्य को कभी भी आपसे भिन्न कुदेवादि की आज्ञा से चेतना की प्राप्ति नहीं हो सकती है अर्थात् वह मनुष्य कदापि कुदेवादि के मार्ग में गमन करने से ज्ञान का संपादन नहीं कर सकता है।

भवसायरम्मि धम्मो धरइ पडंतं जणं तुहच्चेव।
सवरस्स व परमारणकारणमियराण जिणणाह॥४०॥

भवसागरे धर्मो धरति पतंतं जनं तवैव।
शवरस्येव परमारणकारणमितरेषां जिननाथ॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! संसाररूपी समुद्र में गिरते हुए जीवों को आपका धर्म ही धारण करता है किन्तु हे जिनेन्द्र! आपसे भिन्न जितने भी धर्म हैं वे भील के धनुष के समान दूसरों के मारने में ही कारण हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार भील का धनुष जीवों को मारने वाला ही है रक्षा करने वाला नहीं। उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! यद्यपि संसार में बहुत से धर्म मौजूद हैं परन्तु वे सब धर्म प्राणियों को दुखों के ही कारण हैं अर्थात् जो प्राणी उन धर्मों को धारण करता है उसको अनेक गतियों में भ्रमण ही करना पड़ता है तथा उन गतियों में नाना प्रकार के दुखों को वह उठाता है क्योंकि उन धर्मों में वस्तु का वास्तविक स्वरूप जो कि जीवों को हितकारी है नहीं बतलाया गया है किन्तु हे प्रभो! आपके धर्म में वस्तु का यथार्थ स्वरूप भलीभाँति बतलाया गया है अर्थात् असली मोक्षमार्ग आदि को विस्तृत रीति से समझाया गया है इसलिए जो प्राणी आपके धर्म के धारण करने वाले हैं वे शीघ्र ही इस भयंकर संसाररूपी समुद्र को तर जाते हैं इसलिए आपका धर्म ही उत्तम धर्म है।

अण्णो को तुह पुरउ वग्गइ गुरुयत्तणं पयासंतो।
जम्मि तइ परमियत्तं केसणहाणंपि जिण जायं ॥४१॥
अन्यः कः तव पुरतो वल्गाति गुरुत्वं प्रकाशयन्।
यस्मिन् त्वयि प्रमाणत्वं केशनखानामपि जिन जातम्॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जब आपके केश तथा नख भी परिमित हैं अर्थात् बढ़ते-घटते नहीं, तब ऐसा कौन है जो आपके सामने अपनी गुरुता को प्रकाशित करता हुआ बोलने की सामर्थ्य रखता हो।

भावार्थ—जब अचेतन भी नख तथा केश आपके प्रताप से सदा परिमित ही रहते हैं अर्थात् न कभी बढ़ते हैं तथा न कभी घटते हैं तब जो आपके प्रताप को जानता है वह कैसे आपके सामने अपनी महिमा को प्रकट कर सकता है तथा आपके सामने अधिक बोल सकता है।

सोहइ शरीरं तुह पहु तिहुयणजणणयणबिंबविच्छुरियं
पडिसमयमच्चियं चारुतरलनीलुप्पलेहिं व ॥४२॥
शोभते शरीरं तव प्रभो त्रिभुवनजननयनबिंबविच्छुरितं।
प्रतिसमयमर्चितं चारुतरलनीलोत्पलैरिव॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! तीनों लोक के जीवों के नेत्र उनका जो प्रतिबिंब उनसे चित्र-विचित्र आपका शरीर ऐसा मालूम पड़ता है मानों सुंदर तथा चंचल नीलकमलों से प्रति समय पूजित ही है

क्या ?

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! आपका शरीर अत्यन्त स्वच्छ सोने के रंग का है और जीवों के नेत्रों की उपमा नीलकमलों से दी गई है। इसलिए जिस समय वे जीव आपके दर्शन करते हैं उस समय उनके नेत्रों के प्रतिबिंब आपके शरीर में पड़ते हैं उन नेत्रों के प्रतिबिंब को अनुभव कर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! वे नेत्रों के प्रतिबिंब नहीं हैं किन्तु प्रतिसमय समस्त जीव आपकी नीलकमलों से पूजा करते हैं इसलिए वे नीलकमल हैं।

अहमहमिआये णिवडंति णाह छुहियालिणोव्व हरिचक्खू।
तुज्झ च्चिय णहपहसरमज्झट्ठियचलणकमलेसु॥४३॥
अहमहमिकया निपतंति नाथ क्षुधितालय इव हरिचक्षूंषि
तव अर्चितनखप्रभासरोमध्यस्थितचरणकमलेषु॥

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! आपके पूजित जो नख उनकी जो प्रभा (कांति) वही हुआ सरोवर उसके मध्य में स्थित जो चरण कमल उनमें भूखे भ्रमरों के समान इन्द्रों के नेत्र अहम् अहम् (मैं-मैं) इस रीति से गिरते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार कमलों में सुगंध के लोलुपी भ्रमर बारम्बार आकर गिरते हैं उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! जिस समय इन्द्र आकर आपके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं उस समय आपके चरण कमलों में भी उन इन्द्रों के नेत्ररूपी भ्रमर पड़ते हैं और वे नेत्र काले-काले भ्रमरों के समान मालूम पड़ते हैं।

कणयकमलाणमुवरिं सेवातुहविबुहकप्पियाण तुह।
अहियसिरीणं तत्तो जुत्तं चरणाण संचरणं ॥४४॥
कनककमलानामुपरि सेवातुरविबुणकल्पितानां तव।
अधिकश्रीणां ततो युक्तं चरणानां संचरणम्॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके चरण अत्यन्त उत्तम शोभा से संयुक्त हैं इसलिए उनका, भक्ति वश देवों द्वारा रचित जो सुवर्ण कमल उनके ऊपर गमन करना युक्त ही है।

भावार्थ—जिस समय भगवान ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों को सर्वथा नष्ट कर देते हैं उस समय उनको केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और केवलज्ञान की प्राप्ति होने के पीछे वे उपदेश देते हैं। उस समय यद्यपि वे आकाश में अधर चलते हैं तो भी देव भक्ति वश होकर उनके चलने के लिए सुवर्ण कमलों से निर्मित मार्ग की रचना करते हैं उसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार भगवान् की स्तुति करते हैं कि हे भगवन्! आपने जो देव रचित सुवर्ण-कमलों पर गमन किया था वह सर्वथा युक्त ही

था क्योंकि जैसे सुवर्ण कमल उत्तम पदार्थ थे। उसी प्रकार आपके चरण भी अति उत्तम शोभा से संयुक्त थे।

सइहरिकयकण्णसुहो गिज्जइ अमरेहि तुइ जसो सग्गो।
मण्णे तं सोउमणो हरिणो हरिणंकसल्लीणे॥४५॥
शचीन्द्रकृतकर्णसुखं गीयते अमरैस्तव यशः स्वर्गे।
मन्ये तच्छ्रोतुमनाः हरिणः हरिणांकसल्लीनः ॥

अर्थ—हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! जिसके सुनने से इंद्र तथा इंद्राणी के कानों को सुख होता है ऐसे आप के यश को सदा स्वर्गों में देवता लोग गाया करते हैं। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उसी के सुनने के लिए मृग चन्द्रमा में जाकर लीन हो गया।

भावार्थ—संसार में यह किंवदन्ती भलीभाँति प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा में हिरण का चिह्न है इसीलिए उसका नाम मृगांक है (अर्थात् चन्द्रमा में हिरण रहता है)। अतः आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस भूमंडल को छोड़कर जो चन्द्रमा में जाकर हिरण ने स्थिति की है उसका यही कारण है कि वह पास में स्वर्ग में गीत सुनने के लिए गया है क्योंकि हे जिनेन्द्र! इन्द्र तथा इन्द्राणी के कानों को सुख के करने वाले आपके यश को स्वर्ग में सदा देव गान किया करते हैं और हिरण गाने का अत्यन्त प्रिय है यह प्रत्यक्ष गोचर है।

अलियं कमले कमला कमकमले तुह जिणिंद सा वसइ।
णहकिरणणिहेण घडंति णयजणे से कडक्खछडा॥४६॥
अलीकं कमले कमला क्रमकमले तव जिनेन्द्र सा वसति।
नखकिरणनिभेन घटते नतजने तस्याः कटाक्षच्छटाः॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! लक्ष्मी कमल में रहती है। यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि वह लक्ष्मी आपके चरण कमलों में रहती है क्योंकि जो भव्यजीव आपको शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं उन भव्यजीवों के ऊपर नखों की किरणों के बहाने से उस लक्ष्मी का कटाक्षपात प्रतीत होता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन्! आपकी जो नखों की किरणें हैं वे नखों की किरण नहीं किन्तु आपके चरणों में विराजमान जो लक्ष्मी (शोभा) है उसके कटाक्षपात हैं क्योंकि जो पुरुष भक्ति पूर्वक आपके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं उनके ऊपर मुग्ध होकर लक्ष्मी कटाक्षपात करती है अर्थात् जो पुरुष आपके चरण कमलों को शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं उनको लक्ष्मी की प्राप्ति होती है वे लक्ष्मीवान बन जाते हैं। इसलिए हे प्रभो! जो यह संसार में किंवदंती प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी कमल में निवास करती है यह बात सर्वथा असत्य है किन्तु वह आपके चरण कमलों में ही रहती है। अन्यथा भव्यजीव लक्ष्मीवान कैसे हो सकते हैं।

जे कयकुवलयहरिसे तुमम्मि विद्देसिणो स ताणं पि।
दोसो ससिम्मि वा आहयाण जह वाहिआवरणं ॥४७॥
ये कृतकुवलयहर्षे त्वयि विद्वेषिणः स तेषामपि।
दोषः शशिनि इव आहतानां यथा बाह्यावरणम्॥

अर्थ—चन्द्रमा तो सदा पृथ्वी को (रात्रि विकासी कमलों को) आनंद का ही देने वाला है किन्तु जो मनुष्य रोग ग्रस्त हैं वे चन्द्रमा से घृणा करते हैं सो जिस प्रकार उस घृणा के करने में उनके बाह्य आवरण का (उनके रोग का) ही दोष है चन्द्रमा का दोष नहीं। उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! आप तो समस्त भूमंडल को आनंद के करने वाले हैं यदि ऐसा होने पर भी कोई मूर्ख आपसे विद्वेष करे तो वह उसी का दोष है। इसमें आपका कोई भी दोष नहीं है।

को इहहि उव्वरंति जिण जयसंहरणमरणवणसिहिणो।
तुह पयथुइणिज्झरणीवारणमिणमो ण जइ होंति॥४८॥
क इहहि उद्धरति जिन जगत्संहरणमरणवनशिखिनः
तव पादस्तुतिनिर्झरिणीवारणमिदं न यदि भवति।

अर्थ—हे भगवन्! हे प्रभो! आपके चरणों की स्तुति, वही हुई नदी उससे यदि वारण बुझाना नहीं होता तो समस्त जगत् को संहार करने वाली ऐसी जो मरणरूपी वन की अग्नि उससे कैसे उद्धार होता ?

भावार्थ—यदि किसी कारण से वन में अग्नि लग जावे और उस अग्नि का बुझाने वाला यदि नदी का जल न होवे तो उस अग्नि से जिस प्रकार कुछ भी चीज नहीं बचती सब ही भस्म हो जाती हैं उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! यदि आपके चरणों की स्तुतिरूप जो नदी उससे बुझाना न होता तो समस्त जगत् को नष्ट करने वाली मरणरूपी वनाग्नि से किसी प्रकार से उद्धार नहीं हो सकता था।

सारार्थ—हे जिनेन्द्र! यदि जीवों को मरने से बचाने वाली है तो आपके चरणों की स्तुति ही है।

करजुयलकमलमउले भालत्थे तुह पुरो कए वसइ।
सग्गापवग्गकमला [1]थुणंति तं तेण सप्पुरिसा॥४९॥
करयुगलकमलमुकुले भालस्थे तव पुरतः कृते वसति।
स्वर्गापवर्गकमला कुर्वन्ति तत् तेन सत्पुरुषाः॥

अर्थ—हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! जिस समय भव्यजीव आपके सामने दोनों हाथरूपी कमलों को मुकुलितकर अर्थात् जोड़कर मस्तक पर रखते हैं उस समय उनको स्वर्ग तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसीलिए उत्तम पुरुष हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते हैं।

भावार्थ—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन्! जो सज्जन पुरुष हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते हैं उनका उस प्रकार का कार्य निष्फल नहीं है किन्तु उनको, हाथ जोड़कर मस्तक पर रखने से

१. कुणंति।

स्वर्ग तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। हे भगवन् जो भव्यजीव आपको हाथ जोड़कर तथा मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं उनको स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है।

वियलइ मोहणधूली तुह पुरओ मोहठगपरिट्ठविया।
पणवियसीसाओ तओ पणवियसीसा वुहा होंति ॥५०॥
विगलति मोहनधूलिस्तव पुरतो मोहठकस्थापिता।
प्रणमितशीर्षान् ततः प्रणमितशीर्षा बुधा भवंति॥

अर्थ—हे भगवन्! हे प्रभो! जो भव्यजीव आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं उनकी मोहरूपी ठग से स्थापित मोहनरूपी धूली आपके सामने बात ही बात में नष्ट हो जाती है। इसीलिए विद्वान् पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—जिन जीवों की आत्मा पर जब तक मोहरूपी भयंकर तथा दुर्जय ठग द्वारा रचित मोहनधूली विद्यमान रहती है तब तक उन जीवों को अंश मात्र भी हेयोपादेय का ज्ञान नहीं होता किन्तु वे विक्षिप्त के समान यह पुत्र मेरा है यह स्त्री मेरी है और यह द्रव्य मेरा है ऐसे असत्य विकल्पों को सदा किया करते हैं। किन्तु हे प्रभो! जिस समय वे भव्यजीव आपको मस्तक नवाकर विनय से नमस्कार करते हैं उस समय आपके सामने प्रबल भी उस मोहरूपी ठग की कुछ भी तीन पाँच नहीं चलती अर्थात् वह आपको नमस्कार करने वाले भव्यजीवों के ऊपर अंशमात्र भी मोहनधूली नहीं डाल सकता। इसीलिए उत्तम विद्वान् पुरुष आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं।

बंभप्पमुहा सण्णा सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स।
ससिजोण्णा खज्जोए जडेहि जोडिज्जये तेहिं॥५१॥
ब्रह्मप्रमुखाः संज्ञाः सर्वाः तव ये भणंति अन्यस्य।
शशिज्योत्स्ना खद्योते जडैः युज्यते तैः॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! ब्रह्मा, विष्णु आदिक जो संज्ञा सुनने में आती हैं वे आपकी ही हैं अर्थात् आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विष्णु हैं तथा बुद्ध आदिक भी आप ही हैं किन्तु जो मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु आदि संज्ञा दूसरों की मानते हैं वे मूढ़ मनुष्य चन्द्रमा की चांदनी का खद्योत (जुगनू) के साथ सम्बन्ध करते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—खद्योत का (पटबीजना का) प्रकाश बहुत कम होता है और शीतल नहीं होता और चन्द्रमा का प्रकाश अधिक तथा शान्ति का देने वाला होता है। यह बात भलीभाँति प्रतीति सिद्ध है ऐसा होने पर भी जो मनुष्य चन्द्रमा को अधिक तथा शीतल चाँदनी को यदि खद्योत की चाँदनी कहें तो जिस प्रकार वह मूर्ख समझा जाता है उसी प्रकार हे प्रभो! वास्तविक रीति से तो ब्रह्मा आदिक संज्ञा आपकी ही है किन्तु जो मनुष्य चतुर्मुख व्यक्ति को ब्रह्मा कहता है तथा गोपिकाओं के साथ रमण करने वाले को पुरुषोत्तम (विष्णु) कहता है और पार्वती नाम की स्त्री के पति को महादेव कहता है वह मनुष्य

मूर्ख है क्योंकि ब्रह्मा आदिक जो संज्ञा हैं वे सार्थक हैं तथा उनका अर्थ चतुर्मुख आदि व्यक्तियों में घट नहीं सकता इसलिए वे ब्रह्मा आदिक नहीं हो सकते।

आदिनाथ स्तोत्र में भी यही बात कही है—

(वसन्ततिलका)

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥१॥

अर्थ—हे आदीश्वर भगवन्! आपके ज्ञान की बड़े-बड़े देव आकर पूजन करते हैं इसलिए आप ही बुद्ध हो किन्तु आपसे भिन्न दूसरा कोई भी बुद्ध नहीं तथा आप ही तीनों लोकों के कल्याण करने वाले हैं इसलिए आप ही शंकर हो किन्तु आपसे भिन्न कोई भी शंकर (महादेव) नहीं है और हे धीर! मोक्षमार्ग की विधि के रचना करने वाले आप ही हैं इसलिए आप ही विधाता (ब्रह्मा) हैं किन्तु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है और आप प्रकट रीति से समस्त पुरुषों में उत्तम हैं इसलिए आप ही पुरुषोत्तम (विष्णु) हैं किन्तु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति पुरुषोत्तम नहीं है।

और भी आदिनाथ स्तोत्र में कहा है—

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति सन्तः॥२॥

अर्थ—हे भगवन्! आप नाश से रहित हैं तथा विभु हैं अर्थात् आपका ज्ञान सर्व जगह पर व्यापक है और आप अचिन्त्य हैं अर्थात् आपका भलीभाँति कोई चिंतन नहीं कर सकता है और आप असंख्य हैं तथा आप सबके आदि में हुए हैं और आप ब्रह्मा हैं तथा ईश्वर हैं और अंत से रहित हैं तथा आप कामदेव स्वरूप हैं और समस्त योगियों के ईश्वर हैं तथा आप प्रसिद्ध ध्यानी हैं और आप अपने गुणों की अपेक्षा व्यवहारनय से अनेक हैं तथा परम शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा एक हैं और आप ज्ञानस्वरूप हैं तथा निर्मल हैं ऐसा उत्तम पुरुष कहते हैं।

तं चेव मोक्खपयवी तं चिय सरणं जणस्स सव्वस्स।
तं णिक्कारणविज्जो[1] जाइजरामरणवाहिहरो ॥५२॥
त्वं चैव मोक्षपदवी त्वं चैव शरणं जनस्य सर्वस्य।
त्वं निष्कारणवैद्यः जातिजरामरणव्याधिहरः॥

अर्थ—हे भगवन्! हे जिनेश! आप ही तो मोक्ष के मार्ग हैं तथा समस्त प्राणियों के आप ही शरण हैं और समस्त जन्म-जरा-मरण आदि रोगों के नाश करने वाले आप ही बिना कारण के वैद्य हैं।

१. विज्जो।

किच्छाहि समुवलद्धे कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति।
तं परमकारणं जिण ण तुमाहिंतो परोअत्थि॥५३॥
कृच्छात्समुपलब्धे कृतकृत्या यस्मिन् योगिनो भवंति।
तत्परमपदकारणं जिन न त्वत्तः परोऽस्ति॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! बड़े कष्टों से आपको प्राप्त होकर योगी लोग कृतकृत्य हो जाते हैं अर्थात् संसार में उन को दूसरा कोई भी काम बाकी नहीं रहता। इसलिए आपसे भिन्न कोई भी परमपद (मोक्षपद) का कारण दूसरा नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि संसार में बहुत से देव हैं तथा वे अपने को परम पद का कारण भी कहते हैं किन्तु हे जिनेन्द्र! उनमें अनेक दूषण मौजूद हैं इसलिए वे परमपद के कारण नहीं हो सकते है। किन्तु यदि परमपद के कारण हो तो आप ही हो क्योंकि योगी तप आदि को करके आपके स्वरूप को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

सुहमोसि तह ण दीससि जह पहु परमाणुपेत्थियेहिंपि।
[1]गुरवो तह बोहमए जह तइ सव्वंपि सम्मायं॥५४॥
सूक्ष्मोऽसि तथा न दृश्यसे परमाणुप्रेक्षिभिरपि।
गरिष्टस्तथा बोधमये यथा त्वयि सर्वमपि सम्मातम॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! आप सूक्ष्म तो इतने हैं कि परमाणु पर्यंत पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाले भी आपको देख नहीं सकते तथा गुरु आप इतने हैं कि सम्यग्ज्ञान स्वरूप आपमें यह समस्त पदार्थ समूह समाया हुआ है अर्थात् आपका ज्ञान आकाश से भी अनंतगुणा है। इसलिए आकाशादि समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में झलक रहे हैं।

णिस्सेसवत्थुसत्थे हेयमहेयं निरूवमाणस्स।
तं परमप्पा सारो सेसमसारं पलालं वा॥५५॥
निश्शेषवस्तुसार्थे हेयमहेयं विरूप्यमाणस्य।
त्वं परमात्मा सारः शेषमसारं पलालं वा॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! समस्त वस्तुओं के समूह में जो मनुष्य हेय तथा उपादेय को देखने वाला है उस पुरुष की दृष्टि में परमात्मा आप ही सार हैं और आपसे भिन्न जितने पदार्थ हैं वे समस्त सूखे तृण के समान असार हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसार में अनेक पदार्थ हैं किन्तु हे प्रभो! जो मनुष्य हेय तथा उपादेय का ज्ञाता है अर्थात् यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है जिसको इस बात का भलीभाँति

१. गुरुवो।

ज्ञान है उस मनुष्य की दृष्टि में यदि सारभूत पदार्थ हो तो आप ही हो क्योंकि आप समस्त कर्मों से रहित परमात्मा हो परन्तु आपसे भिन्न कोई भी पदार्थ सार नहीं किन्तु जिस प्रकार सूखा तृण असार है उसी प्रकार आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असार हैं।

धरइ परमाणुलीलं जं गब्भे तिहुयणंपि तंपि णह[1]।
अंतो णाणस्स तुह इयरस्स न एरिसी महिमा॥५६॥
धरति परमाणुलीलां यद्गर्भे त्रिभुवनमपि तदपि नभः।
अंतो ज्ञानस्य तव इतरस्य न ईदृशी महिमा।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! जिस आकाश के गर्भ में ये तीनों भुवन परमाणु की लीला को धारण करते हैं अर्थात् परमाणु के समान मालूम पड़ते हैं वह आकाश भी आपके ज्ञान के मध्य में परमाणु के समान मालूम पड़ता है ऐसी महिमा आपके ज्ञान में ही मौजूद है किन्तु आपसे भिन्न और किसी भी देव के ज्ञान में ऐसी महिमा नहीं है।

भावार्थ—जैन सिद्धान्त में आकाश अनंतप्रदेशी माना गया है और उस आकाश के दो भेद स्वीकार किए हैं एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश। जिनमें जीवादि द्रव्य रहें उसको लोक कहते हैं वह लोक इस आकाश के मध्य में सर्वथा छोटा परमाणु के समान मालूम पड़ता है क्योंकि लोक असंख्यात प्रदेशी ही हैं तथा आकाश अनंतप्रदेशी है परन्तु हे भगवन् यह एक आपकी अपूर्व महिमा है कि अनंतप्रदेशी भी यह आकाश आपके ज्ञान में परमाणु के समान ही है अर्थात् आपका ज्ञान आकाश से भी हे प्रभो! अनंतगुणा है किन्तु हे भगवन्! आपसे भिन्न जितने देव हैं उनमें यह महिमा मौजूद नहीं है क्योंकि जब उनके केवलज्ञान ही नहीं है तो वह अनंतगुणा किस प्रकार हो सकता है।

भुवणत्थुय थुणइ जइ जए सरस्सई संतयं तुहं तहवि।
ण गुणंतं लहइ तहिं को तरइ जडो जणो अण्णो॥५७॥
भुवनस्तुत्य स्तौति यदि जगति सरस्वती संततं त्वां तथापि।
न गुणांतं लभते तर्हि कस्तरति जडो जनोऽन्यः।

अर्थ—हे तीनभुवन के स्तुति के पात्र! संसार में सरस्वती आपकी स्तुति करती है यदि वह भी आपके गुणों के अंत को नहीं प्राप्त कर सकती है तब अन्य जो मूर्ख पुरुष है वह यदि आपके गुणों की स्तुति करे तो वह कैसे आपके गुणों का अंत पा सकता है?

भावार्थ—सरस्वती के सामने पदार्थ के वर्णन करने में दूसरा कोई भी प्रवीण नहीं है क्योंकि वह साक्षात् सरस्वती ही है परन्तु हे प्रभो! जब वह भी आपके गुणों के अंत को नहीं प्राप्त कर सकती है अर्थात् आपके गुणों के वर्णन करने में जब वह भी हार मानती है तब हे जिनेश! जो मनुष्य मूर्ख है अर्थात् जिसकी बुद्धि पर ज्ञानावरण कर्म का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है वह मनुष्य कैसे आपके गुणों

१. णहं।

का वर्णन कर सकता है?

सारार्थ—हे जिनेन्द्र! आपमें इतने अधिक गुण विद्यमान हैं तथा वे इतने गंभीर हैं कि उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता।

खयरिव्व संचरंती तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि।
दूरंपि गया सुइरं कस्स गिरा पत्तपेरंता॥५८॥
खचरीव संचरंती त्रिभुवनगुरो तव गुणौघगगने।
दूरमपि गता सुचिरं कस्य गो: प्राप्तपर्यंता।

अर्थ—हे त्रिभुवनगुरो! हे जिनेन्द्र! आपके गुणों के समूहरूपी आकाश में गमन करने वाली तथा दूर तक गई हुई ऐसी किसकी वाणीरूपी पक्षिणी है ? जो अंत को प्राप्त हो जावे।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश में गमन करने वाली पक्षिणी यदि दूरतक भी उड़ती-उड़ती चली जावे तो भी आकाश के अंत को नहीं प्राप्त कर सकती है क्योंकि आकाश अनंत है उसी प्रकार हे प्रभो आपके गुण भी अनंत हैं। इसलिए कवि अपनी वाणी से चाहे जितना आपके गुणों का वर्णन करें तो भी उनकी वाणी आपके गुणों के अंत को नहीं पा सकती।

जत्थअसक्को सक्को अणीसरो ईसरो फणीसोवि।
तुह थोत्ते तत्थ कई अहममई तं खमिज्जासु॥५९॥
यत्राशक्त: शक्तोऽनीश्वर ईश्वर: फणीश्वरोऽपि।
तव स्तोत्रे तत्र वा कवि: अहममति: तत्क्षमस्व॥

अर्थ—हे गुणागार प्रभो! आपके स्तोत्र करने में इन्द्र भी असमर्थ हैं और महादेव तथा शेषनाग भी अशक्त हैं उस आपके स्तोत्र करने में मैं अल्पबुद्धि कवि क्या चीज हूँ ? इसलिए मैंने भी जो आपका स्तोत्र किया है, उसको क्षमा कीजिये।

भावार्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आपके गुणों का स्तोत्र इतना कठिन है कि साधारण मनुष्यों की तो क्या बात जो अत्यन्त बुद्धिमान् तथा सामर्थ्यवान हैं ऐसे इन्द्र ईश्वर (महादेव) तथा धरणीन्द्र हैं वे भी नहीं कर सकते किन्तु मुझ अल्पबुद्धि ने इस आप के स्तोत्र के करने का साहस किया है। इसलिए यह मेरा एक प्रकार का बड़ा भारी अपराध है अत: विनयपूर्वक प्रार्थना है कि इस मेरे अपराध को आप क्षमा करें।

तं भव्वपोमणंदीं तेयणिही णे सरुव्व णिद्दोसो।
मोहंधयारहरणे तुह पाया मम पसीयंतु॥६०॥
त्वं भव्यपद्मनंदी तेजोनिधि: सूर्यवन्निर्दोष:।
मोहांधकारहरणे तव पादौ मम प्रसीदेताम्।

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! आप भव्यरूपी कमलों को आनंद के देने वाले तथा तेज के निधान और निर्दोष सूर्य के समान हैं। इसलिए मोहरूपी अंधकार के नाश करने के लिए आपके चरण सदा प्रसन्न रहें।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य कमलों को आनंद का करने वाला होता है तथा तेज का भंडार होता है और निर्दोष होता है तथा उसकी किरणें समस्त अंधकार के नाश करने वाली होती हैं उसी प्रकार हे प्रभो! आप भी भव्यरूपी कमलों को आनंद के देने वाले हैं तथा तेज के निधान हैं, निर्दोष हैं इसलिए आप सूर्य के समान हैं। इसलिए विनयपूर्वक प्रार्थना है कि आपके चरण मोहरूपी अंधकार के नाश करने के लिए सदा मेरे ऊपर प्रसन्न रहें।

इस प्रकार श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा रचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिका में
ऋषभस्तोत्र समाप्त हुआ ॥१३॥

१४.

श्रीमज्जिनवरस्तोत्र

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सहलीहूआइ मज्झ णयणाई।
चित्तं गत्तं च लहू अमिएण व सिंचियं जायं॥१॥
दृष्टे त्वयि जिनवर सफलीभूतानि मम नयनानि।
चित्तं गात्रं च लघु अमृतेन वै सिंचितं जातम्॥

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! आपको देखने से मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मेरा मन और मेरा शरीर ऐसा मालूम होता है कि मानो अमृत से ही शीघ्र सींचा गया हो।

भावार्थ—उत्तम पदार्थों के देखने से ही नेत्र सफल होते हैं। हे भगवन्! आप उत्तम पदार्थ हैं इसलिए आपके देखने से मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मन में और मेरे शरीर में इतना आनंद होता है मानों ये दोनों अमृत से ही सींचे गये हों।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण।
तह णट्ठं जह दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्चं ॥२॥
दृष्टे त्वयि जिनवर दृष्टिहरनिखिलमोहतिमिरेण।
तथा नष्टं यथा दृष्टं यथास्थितं तन्मया तत्त्वम्॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आपके देखने पर, जो सर्वथा दृष्टि को रोकने वाला था ऐसा मोहरूपी अंधकार इस रीति से नष्ट हो गया कि मैंने जैसा वस्तु का स्वरूप था वैसा देख लिया।

भावार्थ—जिस प्रकार अंधकार में वस्तु का वास्तविक स्वरूप थोड़ा भी नहीं मालूम पड़ता क्योंकि अंधकार दृष्टि का प्रतिरोधक (रोकने वाला) है उसी प्रकार जब तक मोह का प्रभाव इस आत्मा के ऊपर पड़ा रहता है तब तक वस्तु का अंशमात्र भी वास्तविक स्वरूप नहीं मालूम पड़ता किन्तु हे प्रभो! जिस समय आपके दर्शन हो जाते हैं उस समय बलवान् भी मोहरूपी अंधकार पलभर में नष्ट हो जाता है और ऐसा सर्वथा नष्ट हो जाता है कि वस्तु का वास्तविक स्वरूप दिखने लग जाता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर परमाणंदेण पूरियं हिययं।
मज्झ तहा जह मग्गे मोक्खं पिव पत्तमप्पाणं ॥३॥
दृष्टे त्वयि जिनवर परमानंदेन पूरितं हृदयं।
मम तथा यथा मन्ये मोक्षमपि वा प्राप्तमात्मानम्॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके देखने से परमानन्द से भरे हुए मैं अपने मन को ऐसा मानता हूँ मानो मैं ही मोक्ष को साक्षात् प्राप्त हो गया हूँ।

भावार्थ—जिस समय मेरा आत्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाये तथा जैसा उसको वहाँ पर आनंद मिले उसी प्रकार हे प्रभो! मुझे आपके देखने से आनंद मालूम पड़ता है अर्थात् आपके दर्शन से पैदा हुआ सुख तथा मोक्ष का सुख ये दोनों सुख बराबर हैं इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णियं महापावं।
रविउग्गमे णिसाए ठाइ तमो कित्तियं कालं॥४॥
दृष्टे त्वयि जिनवर नष्टे चैव ज्ञातं महापापम्।
रव्युद्गमे निशाया: तिष्ठेत् तम: कियंतं कालम्॥

अर्थ—हे जिनवर! आपके देखने पर प्रबल पाप नष्ट हो गया ऐसा मुझे मालूम हुआ सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य के उदय होने पर रात्रि का अंधकार कितने काल तक रह सकता है?

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार अत्यन्त प्रबल भी रात्रि का अंधकार सूर्य के देखते ही पलभर में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार हे कृपानिधान! अत्यन्त जबर्दस्त तथा बड़ा भारी भी पाप आपके दर्शन से पलभर में नष्ट हो जाता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो कोवि पुण्णपब्भारो।
होइ जणो जेण पहु इह-परलोयत्थसिद्धीणं॥५॥
दृष्टे त्वयि जिनवर सिध्यति स कोऽपि पुण्यप्राग्भर:।
भवति जनो येन प्रभु: इहपरलोकस्थसिद्धीनाम्॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आपके देखने से ऐसे किसी उत्तम पुण्यों के समूह की प्राप्ति होती है कि जिसकी कृपा से यह जन इस लोक तथा परलोक दोनों लोक की सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।

भावार्थ—जो मनुष्य आपका दर्शन करते हैं उनको हे प्रभो! ऐसे अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है कि वे उस पुण्य की कृपा से इस लोक में तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि विभूतियों को प्राप्त करते हैं तथा परलोक में अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों के धारी इन्द्र-अहमिन्द्र आदि विभूतियों को पाते हैं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहम्।
होही सो जेणासरिससुहणिही अक्खओ मोक्खो ॥६॥

दृष्टे त्वयि जिनवर मन्य तमात्मनः सुकृतलाभम्।
भविष्यति येनासदृशसुखनिधिः अक्षयो मोक्षः॥

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! आपके देखने से उस पुण्य लाभ को मानता हूँ जिस पुण्य लाभ से असाधारण सुख की निधि तथा अविनाशी ऐसे मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर संतोसो मज्झ तह परो जाओ।
इंदविहवोपि जणइ ण [१]तण्हालेसंपि जह हियए॥७॥
दृष्टे त्वयि जिनवर संतोषो मम तथा परो जातः।
इन्द्रविभवोऽपि जनयति न तृष्णालेशमपि यथा हृदये॥

अर्थ—हे स्वामिन्! हे जिनेन्द्र! आपके देखने से मुझे ऐसा उत्तम संतोष हुआ है कि जिस संतोष के सामने इन्द्र का ऐश्वर्य भी मेरे हृदय में तृष्णा के लेश को भी उत्पन्न नहीं करता है।

भावार्थ—संसार में यद्यपि इन्द्र के ऐश्वर्य का पाना भी बड़े भारी पुण्य का फल है तो भी हे जिनेन्द्र! आपके दर्शन से ही मुझे इतना उत्कृष्ट तथा बड़ा भारी संतोष होता है कि मुझे इन्द्र के ऐश्वर्य के पाने की तृष्णा ही नहीं होती अर्थात् मैं आपके दर्शन से उत्पन्न हुए संतोष के सामने इन्द्र के ऐश्वर्य को भी जीर्ण तृण के समान असार मानता हूँ।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वियारपडिवज्जिए परमसंते।
जस्स ण हिट्ठी दिट्ठी तस्स ण णियजम्मविच्छेओ॥८॥
दृष्टे त्वयि जिनवर विकारपरिवर्जिते परमशान्ते।
यस्य न हृष्टा दृष्टिः तस्य न निजजन्मविच्छेदः॥

अर्थ—समस्त प्रकार के विकारों से रहित तथा परम शांत ऐसे आपको देखकर हे जिनेन्द्र! जिस मनुष्य की दृष्टि को आनंद नहीं होता उस मनुष्य के स्वीय जन्मों का नाश भी नहीं होता।

भावार्थ—हे भगवन्! हे जिनेश! जो मनुष्य समस्त प्रकार के विकारों से रहित तथा परम शांत ऐसी आप की मुद्रा को देखकर आनंदित होता है उसको संसार में जन्म नहीं धारण करने पड़ते किन्तु जिस मनुष्य की दृष्टि को समस्त विकारों से रहित तथा शान्त स्वभावी आपको देखकर आनंद नहीं होता उस मनुष्य को अनंत काल तक इस संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर जम्मह कज्जंतराडलं हिययं।
कइयावि होइ पुव्वाजियस्स कम्मस्स सो दोसो॥९॥
दृष्टे त्वयि जिनवर यन्मम कार्यान्तराकुलं हृदयं।
कदापि भवति पूर्वार्जितस्य कर्मणः स दोषः॥

---

१. तण्ही।

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आपको देखकर भी, जो कभी-कभी मेरा मन दूसरे-दूसरे कार्यों से आकुलित हो जाता है उसमें मेरे पूर्वोपार्जित कर्म का ही दोष है।

भावार्थ—हे प्रभो! संसार में आपके दर्शन अलभ्य हैं अर्थात् हर एक मनुष्य को आपके दर्शन नहीं मिल सकते। इसलिए यद्यपि आपका दर्शन मन की एकाग्रता से ही करना चाहिए तो भी हे प्रभो! मैंने जो पूर्व भवों में अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है, उन अशुभ कर्मों ने मेरे ऊपर इतना अपना प्रभाव जमा रखा है कि आपके दर्शन के होने पर भी मेरा मन दूसरे-दूसरे कार्यों से व्याकुलित हो जाता है। इसलिए दूसरे-दूसरे कार्यों में जो मेरा मन आसक्त होता है उसमें पूर्वोपार्जित कर्मों का ही दोष है मेरा कोई दोष नहीं है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अच्छउ जम्मंतरं ममेहावि
सहसा सुहेहि घडियं दुक्खेहि पलाइयं दूरं॥१०॥
दृष्टे त्वयि जिनवर आस्तां जन्मांतरं ममेहापि।
सहसा सुखैर्घटितं दु:खैश्च पलायितं दूरम्॥

अर्थ—हे जिनवर प्रभो! आपके दर्शन से मेरे दूसरे जन्मों की तो बात दूर ही रही किन्तु इस जन्म में भी मुझे नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है और मेरे समस्त पाप दूर भाग जाते हैं।

भावार्थ—हे जिनेश! आपके दर्शनों में इतनी शक्ति है कि जो मनुष्य आपको विनय भाव से देखता है उस मनुष्य के जन्म-जन्मान्तर के समस्त दुख नष्ट हो जाते हैं तथा नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है यह तो कुछ बात नहीं अर्थात् जन्मान्तर के दुख तो अवश्य ही नष्ट होते हैं तथा जन्मान्तर में सुख मिलता ही है किन्तु हे प्रभो! इस जन्म में भी आपके दर्शनों से नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है तथा समस्त प्रकार के दुखों का नाश हो जाता है अर्थात् आपके दर्शन तत्काल फल के देने वाले हैं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वज्झइ पट्टो दिणम्मि अज्जयणे।
सहलत्तणेण मज्झे सव्वदिणाणंपि सेसाणं॥११॥
दृष्टे त्वयि जिनवर वध्यते पट्टो दिनेऽद्यतने।
सफलत्वेन मध्ये सर्वदिनानामपि शेषाणाम्॥

अर्थ—हे प्रभो जिनवर! आपके दर्शनों के होने के कारण समस्त दिनों में आज का दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा जानकर पट्ट बंधन किया।

भावार्थ—समस्त दिनों में मेरा आज का दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा मैं समझता हूँ क्योंकि आज मुझे आपका दर्शन मिला है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवणमिणं तुज्झ महमहग्घतरं।
सव्वाणंपि सिरीणं संकेयघरं व पडिहाइ॥१२॥
दृष्टे त्वयि जिनवर भवनमिदं तव महार्घ्यतरम्।
सर्वासामपि श्रीणां संकेतगृहमिव प्रतिभाति॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेश्वर! आपके देखने से, यह जो बहुमूल्य आपका मंदिर है वह मेरे लिए समस्त प्रकार की लक्ष्मी के संकेत घर के समान है ऐसा मुझे मालूम पड़ता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके दर्शन से यह आपका स्थान मुझे ऐसा मालूम पड़ता है मानो समस्त प्रकार की लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए मेरे लिए संकेत घर है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भत्तिजलोल्लं समासियं छेत्तं।
जंतं पुलयमिसा पुण्णवीयांकुरियमिव सोहइ॥१३॥
दृष्टे त्वयि जिनवर भक्ति जलौघेन समाश्रितं क्षेत्रम्।
यत्तत्पुलकमिषात् पुण्यबीजमंकुरितमिव शोभते॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आपके देखने से जो मेरा क्षेत्र (शरीर) भक्तिरूपी जल से समाश्रित हुआ (सींचा गया) वह शरीर रोमांचों के बहाने से ऐसा शोभित होता है मानों अंकुर स्वरूप से परिणत पुण्य बीज ही है।

भावार्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिस समय मैं आपको भक्ति पूर्वक देखता हूँ उस समय आनंद से मेरे शरीर में रोमांच हो जाते हैं तथा वे रोमांच ऐसे मालूम होते हैं मानो पुण्यरूपी बीज से अंकुर ही उत्पन्न हुए हों।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर समयामयसायरे गहीरम्मि।
रायाइदोसकलुसे देवे को मण्णए सयाणे॥१४॥
दृष्टे त्वयि जिनवर समयामृतसागरे गंभीरे।
रागादिदोषकलुषे देवे को मन्यते सज्ञानः॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! सिद्धान्तरूपी अमृत के गंभीर समुद्र, आपके देखने पर ऐसा कौन-सा ज्ञानी होगा जो रागादि दोषों से जिनकी आत्मा मलिन हो रही है ऐसे देवों को मानेगा ?

भावार्थ—जब तक मनुष्य ज्ञानी नहीं होता अर्थात् कौन-सा पदार्थ मुझे हित का करने वाला है और कौन-सा पदार्थ मुझे अहित का करने वाला है ऐसा मनुष्य को ज्ञान नहीं होता तब तक वह जहाँ-तहाँ रागी तथा द्वेषी भी देवों को उत्तम देव समझता है किन्तु जिस समय उसको हिताहित का ज्ञान हो जाता है उस समय वह रागी तथा द्वेषी देवों को अपना हितकारी नहीं मानता है तथा उनके पास झांकता भी नहीं है इसलिए हे प्रभो! जिसने सिद्धान्तरूपी अमृत के समुद्र स्वरूप आपको देख लिया

है वह ज्ञानवान् प्राणी कभी भी रागी तथा द्वेषी देवों को नहीं मान सकता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मोक्खो अइदुल्लहोवि संपडइ।
मिच्छत्तमलकलंकी मणो ण जइ होइ पुरिसस्स॥१५॥
दृष्टे त्वयि जिनवर मोक्षोऽतिदुर्लभः संप्रतिपद्यते।
मिथ्यात्वमलकलंकितमनो न यदि भवति पुरुषस्य॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! यदि मनुष्य का मन मिथ्यात्वरूपी कलंक से कलंकित नहीं हुआ हो तो वह पुरुष आपके दर्शन से अत्यन्त दुर्लभ भी मोक्ष को भलीभाँति प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यदि मनुष्य का चित्त मिथ्यात्वरूपी मल से ग्रस्त हो जावे तो उस मनुष्य को तो मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि जिस प्रकार पित्त ज्वर वाले को मीठा भी दूध जहर के समान कड़वा लगता है उसी प्रकार उस मिथ्यादृष्टि को आपका उपदेश तथा आपका दर्शन विपरीत ही मालूम पड़ता है और जब वह आपके उपदेश को ही अच्छा न मानेगा तब तक उसको वास्तविक पदार्थ का स्वरूप नहीं मालूम पड़ सकता और वास्तविक स्वरूप के न जानने से वह मोक्ष को नहीं जा सकता किन्तु जिस मनुष्य का मन मिथ्यात्वरूपी कलंक से कलंकित नहीं है अर्थात् जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि है वह मनुष्य आपके दर्शन से अत्यन्त कठिन भी मोक्ष को सुलभ रीति से प्राप्त कर लेता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणाच्छिणावि तं पुण्णं।
जं जणह पुरो केवलदंसणणाणाइ णयणाई॥१६॥
दृष्टे त्वयि जिनवर चर्ममयेनाक्ष्णापि तत्पुण्यं।
यज्जनयति पुरः केवलदर्शनज्ञानानि नयनानि॥

अर्थ—हे प्रभो! जो मनुष्य आपको चर्मचक्षु से देख लेता है उस मनुष्य को जब उस चर्म के नेत्र से देखते ही इतने पुण्य की प्राप्ति होती है कि वह आगे केवलदर्शन तथा केवलज्ञान को भी प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह पुरुष चार घातिया कर्मों को नाशकर केवली बन जाता है तब जो पुरुष आपको दिव्य नेत्र से देखता है उसको क्या-क्या फल की प्राप्ति न होगी अर्थात् दिव्यदृष्टि से आपको देखने वाला मनुष्य तो अवश्य ही अचिंत्य फल को प्राप्त करता है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुकयत्थो मण्णई[1] ण जेणाप्पा।
सो बहुअ बुड्डुणुब्बुड्डुणाइ भवसायरे काही॥१७॥
दृष्टे त्वयि जिनवर सुकृतार्थो मानितो न येनात्मा।
स बहु मज्जनोन्मज्जितानि भवसागरे करिष्यति॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! जिस मनुष्य ने आपको देखकर भी अपनी आत्मा को कृतकृत्य नहीं माना वह मनुष्य नियम से संसाररूपी समुद्र में मज्जन तथा उन्मज्जन को करेगा अर्थात् जिस प्रकार

---

१. मण्णिओ।

मनुष्य समुद्र में उछलता तथा डूबता है उसी प्रकार वह मनुष्य बहुत काल तक संसार में जन्म-मरण करता हुआ भ्रमण करेगा।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णिच्छयदिट्ठीय होइ जं किंपि।
ण गिराइ गोयरं तं साणुभवत्थंपि किं भणिमो॥१८॥
दृष्टे त्वयि जिनवर निश्चयदृष्ट्या भवति यत्किमपि।
न गिरां गोचरं तत् स्वानुभवस्थमपि किं भणामः॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! वास्तविक दृष्टि से आपके देखने पर जो कुछ हमको (आनंद) होता है वह यद्यपि हमारे मन में स्थित है तो भी वह वचन के अगोचर ही है इसलिए हम उसके विषय में क्या कहें?।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस समय मैं आपको निश्चयदृष्टि से देख लेता हूँ उस समय मुझे इतना आनंद होता है कि मैं यद्यपि अपने आप उसको जानता हूँ तो भी उसको वचन से नहीं कह सकता।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दट्ठव्वावहिविसेसरूवम्मि।
दंसणसुद्धायगयं दाणिं मम णत्थि सव्वत्थ॥१९॥
दृष्टे त्वयि जिनवर दृष्टव्यावधिविशेषरूपे
दर्शनशुद्ध्या गतमिदानीं मम नास्ति सर्वार्थः।

अर्थ—हे प्रभो जिनेन्द्र! देखने योग्य पदार्थों की सीमा के विशेष स्वरूप अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप आपके देखने पर मैं दर्शनविशुद्धि को प्राप्त हुआ और इस समय जितने बाह्य पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अहियं सुहिया समुज्जला होइ।
जणदिट्ठी को पेच्छइ तद्दंसणसुहयरं सूरं॥२०॥
दृष्टे त्वयि जिनवर अधिकं सुखिता समुज्वला भवति।
जनदृष्टिः कः प्रेक्षते तद्दर्शनसुखकरं सूरम्।

अर्थ—हे भगवन्! आपको देखकर मनुष्यों की दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यन्त निर्मल होती है इसलिए दर्शन को सुख के करने वाले सूर्य को कौन देखता है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—यद्यपि संसार में आप तथा सूर्य दोनों ही प्रतापी हैं और दोनों ही देखने योग्य पदार्थ हैं किन्तु हे प्रभो! जब आपके दर्शन से ही मनुष्यों की दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है तब सूर्य के देखने की क्या आवश्यकता है?

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर बुहम्मि दोसोज्झियम्मि वीरम्मि।
कस्स किल रमइ दिट्ठी जडम्मि दोसायरे खत्थे॥२१॥

दृष्टे त्वयि जिनवर बुद्धे दोषोज्झिते वीरे।
कस्य किल रमते दृष्टिः जडे दोषाकरे खस्थे॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! ज्ञानवान् समस्त दोषों से रहित और वीर ऐसे आपको देखकर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि जड़ तथा दोषाकर और आकाश में रहने वाले ऐसे चन्द्रमा में प्रीति को करें।

भावार्थ—यद्यपि चन्द्रमा भी मनुष्यों को आनंद का देने वाला है किन्तु हे प्रभो! चन्द्रमा ज्ञान रहित जड़ है और दोषाकर है तथा आकाश में ऊपर रहने वाला है और आप ज्ञानवान् हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं और क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों के जीतने वाले हैं तथा अष्ट कर्मों के जीतने के कारण आप वीर हैं इसलिए आपको छोड़कर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि चन्द्रमा में प्रीति को करेगी?

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चिंतामणिकामधेणुकप्पतरू।
खज्जोयव्व पहाये मज्झ मणे णिप्पहा जाया॥२२॥
दृष्टे त्वयि जिनवर चिंतामणिकामधेनुकल्पतरवः
खद्योता इव प्रभाते मम मनसि निष्प्रभा जाताः।

अर्थ—हे प्रभो जिनेन्द्र! आपके देखने पर जिस प्रकार सुबह के समय में पट बीजना (खद्योत) प्रभा रहित हो जाता है उसी प्रकार चिंतामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष भी मेरे मन में प्रभा रहित हो गये।

भावार्थ—जब तक अंधेरी रात रहती है तब तक तो पट बीजना का प्रकाश भी प्रकाश समझा जाता है किन्तु जिस समय प्रातःकाल होता है और सूर्य की किरण जहाँ-तहाँ चारों ओर कुछ फैल जाती है उस समय जिस प्रकार उस पट बीजना का प्रकाश कुछ भी नहीं समझा जाता उसी प्रकार हे प्रभो! जब तक मैंने आपको नहीं देखा था तब तक मैं चिंतामणि, कामधेनु तथा कल्पवृक्षों को उत्तम समझता था क्योंकि संसार में ये इच्छा के पूरण करने वाले गिने जाते हैं किन्तु जिस समय से मैंने आपको देख लिया है उस समय से मेरे मन में आप ही तो चिंतामणि हैं तथा आप ही कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं किन्तु जिनको संसार में चिंतामणि, कामधेनु, कल्पवृक्ष कहते हैं वे आपके दर्शन के सामने फीके हैं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर रहसरसो मह मणम्मि जो जाओ।
आणंदासुमिसा सो तत्तो णीहरइ बहिरंतो॥२३॥
दृष्टे त्वयि जिनवर रहस्यरसो मम मनसि यो जातः।
आनदाश्रुमिषात् स ततो निस्सरति बहिरंतः॥

अर्थ—हे जिनेश! आपके देखने से जो मेरे मन में रहस्य रस (प्रेमरस) उत्पन्न हुआ है वह प्रेमरस आनंदाश्रुओं के ब्याज से भीतर से बाहर निकलता है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—हे प्रभो! हे दीनबन्धो! मैं जिस समय आपको देखता हूँ उस समय मेरे मन में इतना अधिक आनंद होता है कि आनंद से मेरी आँखों में आँसू निकल आते हैं किन्तु मैं उनको आनंदाश्रु नहीं कहता क्योंकि मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आनंद के आँसुओं के ब्याज से भीतर न समाता हुआ प्रेमरस ही बाहर निकलता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कल्लाणपरंपरा पुरो पुरिसे।
संचरइ अणाहूयावि ससहरे किरणा मालव्व॥२४॥
दृष्टे त्वयि जिनवर कल्याणपरंपरा पुरः पुरुषस्य।
संचरति, अनाहूतापि शशधरे किरणमाला इव॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेन्द्र! जिस प्रकार चन्द्रमा में किरणों की माला (पंक्ति) आगे गमन करती है उसी प्रकार आपके दर्शन से पुरुषों के सामने बिना बुलाये भी कल्याणों की परंपरा आगे गमन करती है।

भावार्थ—जो मनुष्य आपका दर्शन करता है उसको इस भव में तथा पर भव में नाना प्रकार के कल्याणों की प्राप्ति होती है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिसवल्लीओ फलंति सव्वाओ।
इट्ठं अहुल्लिया वि हु वरिसइ सुण्णंपि रयणेहिं ॥२५॥
दृष्टे त्वयि जिनवर दिशवल्यः फलंति सर्वाः।
इष्टमफुल्लितापि खलु वर्षति शून्योऽपि रत्नैः॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेश्वर! आपके दर्शन के बिना पुष्पित भी समस्त दश दिशारूपी लता इष्ट पदार्थों को देती है तथा रत्नों से रहित भी आकाश रत्नों की वृष्टि करता है।

भावार्थ—यद्यपि नियम यह है कि लता पुष्पित होकर फल को देती है किन्तु हे प्रभो! आपके दर्शनों में इतनी शक्ति है कि नहीं पुष्पित होकर भी मनुष्यों को दिशारूपी लता इष्ट फल को देती हैं तथा रत्नों से रहित भी आकाश आपके दर्शनों की कृपा से रत्नों की वृष्टि को करता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वो भयवज्जिओ हवे णवरं।
गणणिंदच्चिय जायइ जोण्हापसरे सरे कुमुअं॥२६॥
दृष्ट त्वयि जिनवर भव्यो भयवर्जितो भवेन्नवरिम्।
गतनिद्र एव जायते ज्योत्स्नाप्रसरे सरसि कुमुदम्॥

अर्थ—जिस प्रकार चाँदनी के फैलने पर सरोवर में रात्रि विकाशी कमल शीघ्र ही प्रफुल्लित हो जाते हैं उसी प्रकार हे जिनेश! आपके केवल दर्शन से ही भव्यजीव समस्त प्रकार के भयों से रहित तथा मोहरूपी निद्रा से रहित सुखी हो जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार रात्रिविकाशी कमलों के संकोच रहितपने में तथा प्रफुल्लता में चन्द्रमा

की चाँदनी असाधारण कारण है उसी प्रकार हे प्रभो! भव्यजीवों के मोह निद्रा के रहितपने में तथा समस्त प्रकार के भयों को दूर करने में आप ही असाधारण कारण हैं और दूसरा कोई नहीं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर हिययेण महा-सुहं समुल्लसियं।
सरिणाहेणिव सहसा उग्गमिए पुण्णिमाइंदे॥२७॥
दृष्टे त्वयि जिनवर हृदयेन महासुखं समुल्लसितम्।
सरिन्नाथेनेव सहसा उद्गमिते पूर्णिमाचंद्रे।

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र शीघ्र ही उल्लास को प्राप्त होता है उसी प्रकार आपके दर्शन से भी मेरे हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता होती है।

भावार्थ—जिस समय पूर्णमासी के चन्द्रमा को देखकर समुद्र उछलता है उस समय यद्यपि चन्द्रमा समुद्र को उछलने के लिये प्रेरणा नहीं करता किन्तु चन्द्रमा के उदय होते ही जिस प्रकार वह स्वभाव से ही उल्लास को प्राप्त होता है उसी प्रकार हे प्रभो! आपको देखकर आपकी प्रेरणा से मेरा मन प्रसन्न नहीं होता किन्तु आपके देखने से ऐसा अपूर्व आनंद होता है जिससे वह स्वभाव से ही प्रसन्न हो जाता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दोहिमि चक्खूहिं तह सुही अहियं।
हियये जह सहसाच्छो होहित्ति मणोरहो जाओ ॥२८॥
दृष्टे त्वयि जिनवर द्वाभ्यां चक्षुभ्यां तथा सुखी अधिकं।
हृदये यथा सहसार्थो भविष्यति इति मनोरथो जातः॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! आपको देखकर मैं हृदय में इतना अधिक सुखी हुआ मानो बहुत शीघ्र मेरे प्रयोजन सिद्ध होंगे ऐसा मेरा मनोरथ ही सिद्ध हुआ।

भावार्थ—मनुष्य की जो अभिलाषा हुआ करती है यदि उसकी सिद्धि शीघ्र होने वाली हो तो जिस प्रकार उस मनुष्य के हृदय में वचनातीत आनंद होता है उसी प्रकार हे प्रभो! आपको देखकर मुझे भी वचनातीत आनंद हुआ अर्थात् मैं आपके दर्शन से अत्यन्त सुखी हुआ।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवोवि मित्तत्तणं गओ एसो।
एयम्मि ठियस्स जओ जायं तुह दंसणं मज्झ॥२९॥
दृष्टे त्वयि जिनवर भवोऽपि मित्रत्वं गत एष।
एतस्मिन् स्थितस्य यतः जातं तव दर्शनं मम॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! आपके दर्शन से यह जन्म भी मेरा परम मित्र बन गया क्योंकि इस जन्म में रहने वाले मुझे आपका दर्शन हुआ है।

भावार्थ—संसार में जितने दुखों को उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं वे किसी के हितकारी मित्र नहीं

होते इसलिए यद्यपि जन्म जीवों का मित्र नहीं हो सकता क्योंकि वह जीवों को नाना प्रकार के दुखों का देने वाला है किन्तु हे प्रभो आपके दर्शन से वह जन्म मित्र ही बन गया क्योंकि अनेक जन्मों से आपका दर्शन नहीं मिला है किन्तु इसी जन्म में आपका दर्शन मुझे भाग्य से मिला है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वाणं भूरिभत्तिजुत्ताणं।
सव्वाओ सिद्धीओ होंति[1] पुरो एक्क-लीलाए ॥३०॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भव्यानां भूरिभक्ति युक्तानाम्।
सर्वा: सिद्धयो भवंति पुर एकलीलया।

अर्थ—हे प्रभो! हे भगवन्! गाढ़ जो भक्ति उस भक्ति से सहित जो भव्यजीव हैं उनको आपके दर्शन से बात ही बात में समस्त प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—संसार में उत्तमोत्तम सिद्धियों की प्राप्ति यद्यपि अत्यन्त कठिन है किन्तु हे प्रभो! जो मनुष्य आपके गाढ़ भक्त हैं अर्थात् आपमें भक्ति तथा श्रद्धा रखते हैं उन मनुष्यों को केवल आपके दर्शन से ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ बात ही बात में आगे आकर उपस्थित हो जाती हैं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुहगइसंसाहणेक्क-वीयम्मि।
कंठगयजीवियस्सवि धीरं[2] संपज्जए परमं॥३१॥

दृष्टे त्वयि जिनवर शुभगतिसंसाधनैकबीजे।
कंठगतजीवितस्यापि धैर्यं संपद्यते परमम्॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! शुभ गति की सिद्धि में एक असाधारण कारण ऐसे आपके दर्शन से जिस प्राणी के प्राण कंठ में आ गये हैं अर्थात् जो तत्काल मरने वाला है ऐसे उस प्राणी को उत्तम धीरता आ जाती है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी जीव पर अधिक कष्ट आ पड़े और उस समय यदि कोई उसका हितैषी मनुष्य सामने पड़ जावे तो उसको एकदम धीरता आ जाती है। उसी प्रकार हे प्रभो! जिस मनुष्य के प्राण सर्वथा कंठ में आ पहुँचे हैं अर्थात् जो शीघ्र ही मरने वाला है उस मनुष्य को यदि आपका दर्शन हो जावे तो वह शीघ्र ही धीर वीर बन जाता है अर्थात् उसको मरण से किसी प्रकार का भय नहीं रहता क्योंकि आप जीवों को शुभ गति की प्राप्ति में एक असाधारण कारण हैं इसलिए वह आपके दर्शन से समझ लेता है कि अब मेरे समस्त दुख दूर हो गये।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कमम्मि सिद्धे ण किं पुरा सिद्धं।
सिद्धियरं को णाणी महइ ण तुह दंसणं तह्मा॥३२॥

---

१. होदि। २. हस्सिं (हरिसं)।

दृष्टे त्वयि जिनवर क्रमे सिद्धे न किं पुरा सिद्धम्।
सिद्धिकरं को ज्ञानी इच्छति न तव दर्शनं तस्मात्॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! आपके दर्शन से, आपके चरण कमलों की सिद्धि होने पर ऐसी कौन-सी वस्तु बाकी रही जो मुझे न मिली हो ? अर्थात् समस्त पदार्थों की सिद्धि हुई इसलिए ऐसा कौन-सा ज्ञानी है जो आपके दर्शनों की इच्छा न रखता हो ? अर्थात् समस्त ज्ञानी पुरुष आपके दर्शनों की इच्छा रखते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! और तो समस्त पदार्थों की सिद्धि अनेक जन्मों में मुझे बहुत बार हुई है किन्तु हे जिनेश! आपके चरणों की प्राप्ति मुझे नहीं हुई है इसलिए यदि इस समय आपके दर्शन से, और आपके चरणों की प्राप्ति हो गई तो संसार में समस्त पदार्थों की सिद्धि हो गई अत: ऐसा कोई ज्ञानी नहीं है जो आपके दर्शनों की इच्छा न करें किन्तु समस्त ज्ञानी पुरुष आपके दर्शनों के लिए लालायित हैं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर पोम्मकयं दंसणत्थुई तुज्झ।
जो पहु पढइ तियालं भवजालं सो समोसरइ ॥३३॥
दृष्टे त्वयि जिनवर पद्मनंदीकृतां दर्शनस्तुति तव।
य: प्रभो पठति त्रिकालं भवजालं स स्फोटयति॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेश! जो भव्यजीव पद्मनंदि नाम के आचार्य द्वारा की गई आपकी दर्शन स्तुति को तीनों काल पढ़ता है वह भव्यजीव संसाररूपी जाल का सर्वथा नाश कर देता है।

भावार्थ—यद्यपि संसाररूपी जाल का सर्वथा नाश करना अत्यन्त कठिन बात है किन्तु हे प्रभो! जो मनुष्य! श्री पद्मनंदि नामक आचार्य द्वारा की गई ऐसी आपकी स्तुति को प्रात:काल; मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनों काल पढ़ता है वह मनुष्य शीघ्र ही संसाररूपी जाल का नाश कर देता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भणियमिणं जणियजणमणाणंदं।
भव्वेहि पढज्जंतं णंदउ सुयरं धरापीठे ॥३४॥
दृष्टे त्वयि जिनवर भणितमिदं जनितजनमनआनंदम्।
भव्यै: पठ्यमानं तत् नंदतु सुचिरं धरापीठे ॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आपको देखकर कहा हुआ तथा समस्त भव्यजनों के मनों को आनंद का देने वाला और भव्य जीवों द्वारा पठ्यमान अर्थात् जिसका सदा भव्यजीव पाठ करते रहते हैं ऐसा यह आपका दर्शन स्तोत्र सदा इस पृथ्वी पर वृद्धि को प्राप्त हो॥३३॥

इस प्रकार श्री पद्मनंदि आचार्य विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिका में
श्रीमज्जिनवरस्तोत्र नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥१४॥

१५.
श्रुतदेवता स्तुति

वंशस्थवृत्त

जयत्यशेषामरमौलिलालितं सरस्वति त्वत्पदपंकजद्वयम्।
हृदि स्थितं यज्जनजाड्यनाशनं रजोविमुक्तं श्रयतीत्यपूर्वताम् ॥१॥

अर्थ—समस्त प्रकार के जो देव उनके मुकुट उनसे लालित अर्थात् जिनको समस्त देव मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं ऐसी हे सरस्वति माता! आपके दोनों चरणकमल सदा इस लोक में जयवंत हैं जो चरण कमल मन में तिष्ठते हुए मनुष्यों की समस्त प्रकार की जड़ताओं के नाश करने वाले और रज से रहित अपूर्वता को आश्रय करते हैं।

भावार्थ—कमल तो स्वयं जड़ होते हैं इसलिए वे दूसरों की जड़ता का नाश भी नहीं कर सकते है किन्तु सरस्वती के चरणकमल मन में स्थित होने पर ही समस्त प्रकार की जड़ता के नाश करने वाले हैं और कमल जो रज (धूलि) से सहित किन्तु सरस्वती के चरण कमल रज से रहित हैं और जिन चरण कमलों को समस्त देव मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं इसलिए आचार्यवर सरस्वती के चरण कमलों की आशीर्वादात्मक स्तुति करते हैं कि इस प्रकार आश्चर्य करने वाले सरस्वती के चरणकमल सदा इस लोक में जयवंत हैं।

अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं न चांतरं नैव बहिश्च भारति।
न तापकृज्जाड्यकरं न तन्महः स्तुवे भवत्याः सकलप्रकाशकम्॥२॥

अर्थ–हे सरस्वति! जो आपका तेज न तो दिन की अपेक्षा करता है और न रात्रि की अपेक्षा करता है और न भीतर की अपेक्षा करता है और न बाहर की अपेक्षा करता है और जो तेज न जीवों को संताप देने वाला है और न जड़ता का करने वाला है तथा जो समस्त प्रकार के पदार्थों का प्रकाश करने वाला है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के सरस्वती के तेज को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ अर्थात् ऐसा सरस्वती का आश्चर्य का करने वाला तेज मेरी रक्षा करे।

भावार्थ—यद्यपि संसार में सूर्य आदि बहुतों के तेज मौजूद हैं किन्तु वे एक-दूसरे की अपेक्षा के करने वाले हैं जिस प्रकार सूर्य का तेज तो दिन की अपेक्षा करने वाला है तथा चन्द्रमा का तेज रात्रि की अपेक्षा करने वाला है और सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों के तेज मनुष्यों को नाना प्रकार के संतापों के देने वाले हैं अर्थात् सूर्य के तेज से तो मनुष्य मारे गर्मी के व्याकुल हो जाते हैं तथा चन्द्रमा का तेज कामोत्पादक होने के कारण कामी पुरुषों को नाना प्रकार के संताप को देने वाला होता है और सूर्य तथा चन्द्रमा के तेज बाह्य के ही प्रकाशक हैं। अंतरंग के प्रकाशक नहीं हैं तथा सूर्य चन्द्रमा के तेज थोड़े ही पदार्थों के प्रकाशक हैं समस्त पदार्थों के प्रकाशक नहीं हैं। किन्तु सरस्वती का तेज न तो दिन की अपेक्षा करता है और न रात की अपेक्षा करता है और न वह भीतर तथा बाहर की ही अपेक्षा करता है और जीवों को संताप का भी देने वाला नहीं है और न जड़ता का करने वाला है तथा समस्त पदार्थों का प्रकाश करने वाला है इसलिए आचार्यवर कहते हैं कि ऐसे सरस्वती के तेज के लिए मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

तव स्तवे यत्कविरस्मि साम्प्रतं भवत्प्रसादादिव लब्धपाटवः।
सवित्रि गंगासरितेऽर्घदायको भवामि तत्तज्जलपूरिताञ्जलिः॥३॥

अर्थ—हे सरस्वति माता! आपकी कृपा से ही प्राप्त किया है चातुर्य जिसने ऐसा मैं इस समय आपकी स्तुति करने में कवि हुआ हूँ, उससे ऐसा मालूम होता है कि गंगा नदी के जल से पूरित (भरी हुई) है अंजुली जिसकी ऐसा मैं गंगा नदी के लिए ही अर्घ देने वाला हुआ हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार गंगा नदी से पानी लेकर उसी को अर्घ देते हैं उसी प्रकार हे माता सरस्वति! आपकी कृपा से ही चातुर्य प्राप्त कर आपकी स्तुति में ही मैं कवि हुआ हूँ।

श्रुतादिकेवल्यपि तावकीं श्रियं स्तुवन्नशक्तोऽहमिति प्रपद्यते।
जयेति वर्णद्वयमेव मादृशा वदन्ति यद्देवि तदेव साहसम्॥४॥

अर्थ—हे सरस्वति माता! आपकी शोभा की स्तुति करता हुआ श्रुत है आदि में जिसके ऐसा केवली भी अर्थात् श्रुतकेवली भी जब ''मैं सरस्वती की शोभा की स्तुति करने में असमर्थ हूँ'' ऐसा अपने को मानता है तब मुझ सरीखे मनुष्यों की तो क्या बात है? अर्थात् मुझ सरीखे मनुष्य तो आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते किन्तु हे देवि! जो मुझ सरीखे मनुष्य आपके लिए 'जय' इन दो वर्णों को भी बोलते हैं वही मेरे सरीखे मनुष्यों का एक बड़ा भारी साहस है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—यद्यपि श्रुतकेवली समस्त शास्त्र के पारंगत होते हैं किन्तु हे माता! आपकी लक्ष्मी (शोभा) इतनी अधिक है कि वे भी आपकी शोभा का वर्णन नहीं कर सकते और जब वे ही आपकी शोभा का वर्णन नहीं कर सकते तो मुझ सरीखे मनुष्यों की तो बात ही क्या है अर्थात् मैं तो अल्पज्ञानी हूँ इसलिए मैं तो आपकी शोभा का वर्णन कर ही नहीं सकता और हे देवि! हम सरीखे मनुष्यों में इतनी

भी शक्ति नहीं है जो आपके लिए 'जय' ये दो अक्षर भी कह सकें किन्तु जो हम आपके लिए 'जय' ये दो अक्षर कहते हैं वह हम सरीखे मनुष्यों का बड़ा भारी साहस है ऐसा समझिये।

त्वमत्र लोकत्रयसद्मनि स्थिता प्रदीपिका बोधमयी सरस्वती।
तदंतरस्थाखिलवस्तुसंचयं जनाः प्रपश्यन्ति सदृष्टयोप्यतः॥५॥

अर्थ—हे सरस्वति माता! आप तीन लोक रूपी घर में स्थित सम्यग्ज्ञानमय उत्कृष्ट दीपक हैं जिस दीपक की कृपा से सम्यग्दृष्टि जीव उन तीनों लोकों के भीतर रहने वाले जीवाजीवादि पदार्थों को भली-भाँति देखते हैं।

भावार्थ—नाना प्रकार के पदार्थों से भरे हुए घर में यदि अंधकार के समय में दीपक रख दिया जाये तो नेत्रवाला पुरुष जिस प्रकार दीपक की सहायता से समस्त पदार्थों को भली-भाँति देख लेता है उसी प्रकार यह तीनों लोक भी एक प्रकार का घर हैं तथा इसमें एक कोने से लेकर दूसरे कोने पर्यंत भली-भाँति जीवादि पदार्थ भरे हुए हैं उस त्रिलोकरूपी घर में समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने में हे माता! आप उत्कृष्ट दीपक के समान हैं क्योंकि आपकी कृपा से सम्यग्दृष्टि पुरुष त्रिलोक में भरे हुए समस्त पदार्थों को भली-भाँति देख लेते हैं।

नभःसमं वर्त्म तवातिनिर्मलं पृथु प्रयातं विबुधैर्न कैरिह।
तथापि देवि प्रतिभासते तरां यदेतदक्षुण्णमिव क्षणेन तत्॥६॥

अर्थ—हे देवि! आपका जो मार्ग है वह आकाश के समान अत्यन्त निर्मल है और अत्यन्त विस्तीर्ण है उस मार्ग में ऐसे कौन से विबुध हैं जो नहीं गये हों अर्थात् सब ही गये हैं, किन्तु वह मार्ग क्षण भर में ऐसा मालूम होता है कि अक्षुण्ण ही है अर्थात् कोई भी उस मार्ग से नहीं गया है।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश का मार्ग अत्यन्त निर्मल तथा विस्तीर्ण है और उस पर अनेक प्रकार के अनेक देव भी गमन करते हैं किन्तु वह क्षणमात्र में ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मार्ग से कोई भी नहीं गया है। उसी प्रकार हे सरस्वति! हे माता! आपका मार्ग भी अत्यन्त निर्मल है और विस्तीर्ण है और अनेक विद्वान उस मार्ग से गये भी हैं तो भी वह मार्ग क्षण भर में ऐसा मालूम होता है कि उस मार्ग से कोई भी नहीं गया है अर्थात् हे सरस्वति माता! आपका मार्ग अत्यन्त गहन है।

तदस्तु तावत्कवितादिकं नृणां तव प्रभावात्कृतलोकविस्मयम्।
भवेत्तदप्याशु पदं यदिष्यते तपोभिरुग्रैर्मुनिभिर्महात्मभिः॥७॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! समस्त लोक को आश्चर्य के करने वाले कविता आदिक गुण मनुष्यों को आपकी कृपा से हों इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं हैं, किन्तु हे माता! जिस पद को बड़े-बड़े मुनि कठिन-कठिन तप करके प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वह पद भी आपकी कृपा से बात ही बात में प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हे माता! जो मनुष्य आपके उपासक हैं और जिनके ऊपर आपकी कृपा है उन मनुष्यों को आपके प्रसाद से समस्त लोक को आश्चर्य करने वाली कविता आदि की प्राप्ति होती है अर्थात् कविता आदि से वे समस्त लोक को आश्चर्य सहित करते हैं। तथा आपकी कृपा से मनुष्यों को उस मोक्षपद की प्राप्ति होती है जिस मोक्षपद की बड़े-बड़े मुनिगण उग्र तपों के द्वारा प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं।

भवत्कला यत्र न वाणि मानुषे न वेत्ति शास्त्रं स चिरं पठन्नपि।
मनागपि प्रीतियुतेन चक्षुषा यमीक्षसे कैर्न गुणैः स भूष्यते॥८॥

अर्थ—हे सरस्वति! हे माता! जिस मनुष्य में आपकी कला नहीं अर्थात् जो मनुष्य आपका कृपा पात्र नहीं है वह चिरकाल तक पढ़ता हुआ भी शास्त्र को नहीं जानता है किन्तु जिसको आप थोड़ा भी स्नेह सहित नेत्र से देख लेती हो अर्थात् जो मनुष्य थोड़ा भी आपकी कृपा का पात्र बन जाता है वह मनुष्य संसार में किन-किन गुणों से विभूषित नहीं होता है ? अर्थात् बिना ही प्रयत्न के वह केवल आपकी कृपा से समस्त गुणों का भंडार हो जाता है।

भावार्थ—हे माता! आपकी बिना कृपा के यदि मनुष्य चाहे कि मैं पढ़-पढ़ कर विद्वान हो जाऊँ तथा वास्तविक तत्त्वों का मुझे ज्ञान हो जावे यह कभी भी नहीं हो सकता किन्तु जिस मनुष्य पर आपकी थोड़ी भी कृपा रहती है वह मनुष्य बिना ही पढ़े विद्वत्ता आदि अनेक गुणों को बात-ही-बात में प्राप्त कर लेता है इसलिए आपकी कृपा ही मनुष्यों के कल्याण को करने वाली है।

स सर्ववित्पश्यति वेत्ति चाखिलं न वा भवत्या रहितोऽपि बुध्यते।
तदत्र तस्यापि जगत्त्रयप्रभोस्त्वमेव देवि प्रतिपत्तिकारणम्॥९॥

अर्थ—संसार में जो केवली भगवान् समस्त पदार्थों को भली-भाँति देखते हैं तथा समस्त पदार्थों को भली-भाँति जानते हैं वे भी आपकी ही कृपा से हे देवि! जानते तथा देखते हैं किन्तु आपकी कृपा के बिना न वे जानते हैं और न देखते ही हैं। इसलिए हे माता! इस संसार में तीनों जगत् के प्रभु उन केवली के ज्ञान तथा दर्शन में भी आप ही कारण हैं।

भावार्थ—हे सरस्वती! यदि आप न होती तो समस्त जगत् के प्रभु केवली भगवान् भी समस्त पदार्थों को न तो देख ही सकते थे और न जान ही सकते थे। इसलिए केवली भगवान् के समस्त पदार्थों के जानने में तथा दर्शन में आप ही असाधारण कारण हैं।

चिरादति क्लेशतैर्भवाम्बुधौ परिभ्रमन् भूरि नरत्वमश्नुते।
तनूभृदेतत्पुरुषार्थसाधनं त्वया विना देवि पुनः प्रणश्यति॥१०॥

अर्थ—चिरकाल से इस संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता हुआ यह जीव, सैकड़ों क्लेशों से इस मनुष्य जन्म को पाता है तथा वह मनुष्य भव ही समस्त पुरुषार्थों का साधन है किन्तु हे देवि! आपके

बिना यह पाया हुआ भी मनुष्य भव नष्ट ही हो जाता है।

भावार्थ—यद्यपि गति चार हैं परन्तु उन सबमें मनुष्यगति (मनुष्यभव) अत्युत्तम है क्योंकि इस मनुष्यभव में ही जीव कर्मों से छूटने का उपाय कर सकते हैं तथा सबसे उत्तम जो स्थान मोक्ष है उसको भी जीव इसी मनुष्यभव में प्राप्त करते हैं किन्तु इस मनुष्यभव की प्राप्ति बड़ी कठिनाई से होती है तथा इस मनुष्य भव की प्राप्ति का फल यथार्थ तत्त्वज्ञानी बनना और तत्त्वज्ञानी बनने का उपाय सरस्वती की सेवा है। इसलिए आचार्यवर कहते हैं कि हे माता सरस्वती! यदि आपकी कृपा न होवे तो मनुष्य का मनुष्यभव पाना व्यर्थ ही है, क्योंकि वह मनुष्य बिना आपकी कृपा से यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है और यथार्थ ज्ञान के बिना जो मनुष्यभव की प्राप्ति का फल है वह उसको नहीं मिल सकता है।

कदाचिदम्ब त्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीतेऽपि न तत्त्वनिश्चयः।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकता त्वया विमुक्तस्य तु जन्म निष्फलम्॥११॥

अर्थ—हे माता! आपके अनुग्रह के बिना शास्त्र के भली प्रकार अध्ययन करने पर भी वास्तविक तत्त्व का निश्चय नहीं होता है और वास्तविक तत्त्व के निश्चय न होने के कारण मनुष्य में हिताहित का विवेक भी नहीं हो सकता है। इसलिए हे देवि! आपके अनुग्रह से रहित जो पुरुष है उसका मनुष्य जन्म पाना निष्फल ही है।

भावार्थ—जिस समय मनुष्य को वास्तविक तत्त्व का निश्चय (श्रद्धान) होता है उसी समय उस मनुष्य को यह पदार्थ त्यागने योग्य है तथा यह पदार्थ ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार का विवेक होता है। और ये दोनों बातें शास्त्र के अध्ययन से प्राप्त होती हैं बिना शास्त्र के अध्ययन के नहीं। किन्तु आचार्यवर सरस्वती की स्तुति करते हैं कि हे माता! यदि मनुष्य के ऊपर आपकी कृपा न होवे तो वह मनुष्य भली-भाँति शास्त्र का पाठी ही क्यों न हो उसको, कदापि वास्तविक तत्त्वों का निश्चय नहीं हो सकता है और जब उसको वास्तविक पदार्थों का निश्चय ही नहीं हो सकता है तब उसको हेय तथा उपादेय का ज्ञान तो हो ही नहीं सकता और आपकी कृपा के बिना उस मनुष्य का बड़े क्लेशों से पाया हुआ मनुष्यभव भी व्यर्थ ही है। इसलिए हे माता! आप ही तो जीवों के तत्त्व के निश्चय में कारण हैं तथा आप ही उनके हिताहित विवेक में कारण हैं तथा आपकी ही कृपा से मनुष्य का मनुष्यभव भी सर्वथा फलीभूत है।

विधाय मातः प्रथमं त्वदाश्रयं श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षयः।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते यदीप्सितं वस्तु लभेत मानवः॥१२॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य, जो घर अंधकार से व्याप्त है ऐसे घर में दीपक के आश्रय से इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार हे माता! बड़े-बड़े ऋषि पहले आपका आश्रय करते हैं पीछे

सर्वोत्कृष्ट उस प्रसिद्ध मोक्ष स्थान को वे पाते हैं।

भावार्थ—जिस घर में बहुत-सा अंधकार भरा हुआ है यदि उस घर में से, कोई मनुष्य चाहे कि मैं बिना दीपक के ही अपनी इष्ट वस्तु को निकालकर ले आऊँ तो वह मनुष्य कदापि नहीं ला सकता किन्तु दीपक की सहायता से ही ला सकता है। इसलिए जिस प्रकार वह मनुष्य दीपक की चाह करता है उसी प्रकार हे माता सरस्वति! यदि बड़े-बड़े मुनि इस बात को चाहें, कि बिना ही आपकी कृपा के सीधे मोक्षपद को चले जावें तो वे कदापि नहीं जा सकते किन्तु आपकी सहायता से, कृपा से ही वे जा सकते हैं। इसलिए वे सबसे प्रथम आपका आश्रय करते हैं पीछे मोक्ष को जाते हैं इसलिए अत्यन्त तपस्वी भी मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति में आप ही कारण हैं।

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छसि।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्र मातः कृतचित्रचेष्टिता ॥१३॥

अर्थ—हे माता! यद्यपि तुझमें अनेक पद हैं तो भी तू जीवों को एक ही पद देती है तथा यद्यपि तू चौतरफा शुक्ल है तो भी तू सुवर्णविग्रहा (सुवर्ण के समान शरीर को धारण करने वाली) है। इसलिए तू इस संसार में आश्चर्यकारी चेष्टा को धारण करने वाली है।

भावार्थ—इस श्लोक में विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिए आचार्यवर शब्द से विरोध दिखाते हैं कि जो अनेक पदों का धारण करने वाला होगा ? वह जीवों को एक ही पद क्यों देगा? तथा जो चौतरफा सफेद होगा वह सुवर्ण के रंग के समान शरीर को धारण करने वाला कैसे होगा ? अब आचार्यवर उस विरोध का अर्थ से परिहार करते हैं कि हे माता! यद्यपि आपमें अनेक पद (सुबन्त तथा तिङन्तरूप) मौजूद हैं तो भी अपने भक्तों को आप मोक्षपद को देती हैं और यद्यपि आप शुक्ल (उज्ज्वल) हैं तो भी आप सुवर्ण विग्रहा (श्रेष्ठ 'वर्ण' अक्षररूपी शरीर को धारण करने वाली) हो। इसलिए आपकी इस प्रकार को चेष्टा आश्चर्य करती है।

सारार्थ—हे माता! आप अनेक सुबन्त तथा तिङन्तस्वरूप पदों को धारण करने वाली हो तथा भव्य जीवों को मोक्ष को देने वाली हो और आप सर्वथा निर्मल हो तथा श्रेष्ठ वर्णरूपी शरीर को धारण करने वाली हो।

समुद्रघोषाकृतिरर्हति प्रभौ यदा त्वमुत्कर्षमुपागता भृशम्।
अशेषभाषात्मतया त्वया तदा कृतं न केषां हृदि मातरद्भुतम्॥१४॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! जिस समय तू भगवान् अर्हत् में अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हुई थी अर्थात् जिस समय समवसरण में तू भगवान् अर्हत् के मुख से दिव्यध्वनि रूप में प्रकट हुई थी उस समय तेरी ध्वनि समुद्र के समान धीर तथा गंभीर थी और उस समय तू अनेक भाषा स्वरूप थी। इसलिए किसके मन में तूने उस समय आश्चर्य नहीं किया था अर्थात् तुझको सुनकर समस्त जीव आश्चर्य करते थे।

भावार्थ—जिस समय ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं उस समय केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तथा उन केवली के बिना ही इच्छा के दिव्य वाणी प्रकट होती है उसी समय का ध्यान कर ग्रन्थकार सरस्वती की स्तुति करते हैं कि हे माता! जिस समय आप केवली के मुख से दिव्यध्वनि रूप परिणत होकर निकलती हैं। उस समय आपकी ध्वनि समुद्र की ध्वनि के समान होती है जिसे दूर भी बैठे हुए पशु, पक्षी भलीभाँति सुन सकते हैं तथा उस समय आप समस्त भाषा स्वरूप परिणत होकर उन केवली के मुख से प्रकट होती हो। इसलिए समस्त पशु, पक्षी आदिक अपनी-अपनी भाषा में आपको समझ लेते हैं तथा उनको असली तत्त्व का भली-भाँति निश्चय हो जाता है और आपको इस स्वरूप में परिणत सुनकर वे लोग बड़ा आश्चर्य करते हैं।

स चक्षुरप्येष जनस्त्वया विना यदंध एवेति विभाव्यते बुधैः।
तदस्य लोकत्रितयस्य लोचनं सरस्वति त्वं परमार्थदर्शने॥१५॥

अर्थ—हे माता सरस्वती! आपके बिना नेत्रों सहित भी इस पुरुष को विद्वान् लोग अंधा ही समझते हैं। इसलिए हे सरस्वती! इन तीनों लोकों के वास्तविक दर्शन में आप ही नेत्र हैं।

भावार्थ—यद्यपि इस लोक में अनेक पदार्थ भरे हुए हैं किन्तु उन सब पदार्थों में परम पदार्थ जो मोक्ष है वही उत्तम पदार्थ है तथा उस परम पदार्थ का दर्शन ही नेत्र का फल है यदि मोक्ष स्थान का दर्शन नेत्र से न होवे तो वह नेत्र ही नहीं है आँखों से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ का दर्शन हो नहीं सकता। इसलिए आँखों के होते भी आपके बिना उस पुरुष को विद्वान् लोग अंधा ही कहते हैं तथा वह परमार्थ का दर्शन हे सरस्वति! आपकी कृपा से ही होता है इसलिए परमार्थ के दर्शन में आप ही नेत्र हैं।

गिरा नरप्राणितमेति सारतां कवित्ववक्तृत्वगुणे च सा च गीः।
इदं द्वयं दुर्लभमेव ते पुनः प्रसादलेशादपि जायते नृणाम्॥१६॥

अर्थ—मनुष्य का जो जीवन है वह वाणी से सफल समझा जाता है और कवित्व तथा वक्तृत्व गुण के होने पर वाणी सारभूत समझी जाती है किन्तु इस संसार में कविपना तथा वक्तापना दोनों ही दुर्लभ हैं परन्तु आपके तो थोड़े से ही प्रसाद (अनुग्रह) से यह दोनों गुण बात-ही-बात में प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ-इस संसार में बड़े कष्टों से तो जीवन प्राप्त होता है यदि उस जीवन में वाणी की प्राप्ति न होवे तो वह दुखों से पाया हुआ भी मनुष्य जन्म निस्सार ही समझा जाता है इसलिए मनुष्य के जीवन की तो सफलता वाणी से है और उस वाणी की सफलता कविपने से तथा वक्तापने से होती है क्योंकि सुंदर वाणी की भी प्राप्ति हुई किन्तु सुंदर कविता करना तथा अच्छी तरह बोलना नहीं आया तो उस वाणी का मिलना न मिलना एक सा ही है किन्तु ये दोनों बातें अर्थात् कविपना तथा वक्तापना संसार में अत्यन्त दुर्लभ है किन्तु हे माता सरस्वति! आपकी कृपा से इन दोनों बातों को मनुष्य बात ही बात में पा लेता है अर्थात् जिस मनुष्य पर आपकी कृपा होती है वह मनुष्य प्रसिद्ध कवि भी बन जाता है

और अच्छी तरह बोलने वाला भी वह मनुष्य हो जाता है।

नृणां भवत्सन्निधिसंस्कृतं श्रवो विहाय नान्यद्धितमक्षयं च तत्।
भवेद्विवेकार्थमिदं परं पुनर्विमूढतार्थं विषयं स्वमर्पयत्॥१७॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! जिस कान का आपके समीप में संस्कार किया गया है अर्थात् जो कान आपके सहवास से शुद्ध एवं पवित्र किया गया है वही कान हित का करने वाला तथा अविनाशी है किन्तु उससे भिन्न कान न हितकारी है और न अविनाशी है और आपके सहवास से पवित्र ही कान मनुष्यों को विवेक के लिए होता है किन्तु उससे भिन्न अपने विषयों की ओर झुकता हुआ कान विवेक के लिए नहीं होता। किन्तु विशेषता से मूढ़ता के लिए ही होता है।

भावार्थ—हे माता! जिस कान से आपके असली-असली तत्त्व सुने जाते हैं वही कान मनुष्यों को हित का करने वाला होता है अर्थात् उस कान से असली तत्त्वों को सुनकर मनुष्य खोटे मार्ग में प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु हितकारी मार्ग में ही गमन करते है तथा वही कान अविनाशी है अर्थात् उसका कभी भी नाश नहीं होता। किन्तु उससे भिन्न कान अर्थात् जिस कान से आपके असली तत्त्व नहीं सुने जाते वह कान न तो मनुष्यों को हित का करने वाला होता है और न अविनाशी ही होता है तथा हे सरस्वति! आपके असली तत्त्वों से पवित्र ही कान मनुष्यों को विवेक के लिए होता है अर्थात् उस कान से असली तत्त्वों को समझकर मनुष्य यह बात जान लेते हैं कि यह वस्तु हमको त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु हमको ग्रहण करने योग्य है किन्तु उस कान से भिन्न कान मनुष्यों को विवेक के लिये नहीं होता, मूढ़ता के लिये ही होता है, क्योंकि वह कान अपने अन्य विषयों में अर्थात् खोटे-खोटे गायन तथा खोटे-खोटे शब्दों के सुनने में प्रवृत्त हो जाता है इसलिए उस कान की कृपा से मनुष्य अधिक मूढ़ ही बन जाते हैं।

कृत्वापि ताल्वोष्ठपुटादिभिर्नृणां त्वमादिपर्यंतविवर्जितस्थितिः।
इतित्वयापीदृशधर्मयुक्तया स सर्वथैकान्तविधिर्विचूर्णितः॥१८॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! यद्यपि तू मनुष्यों के तालु तथा ओष्ठ पुटों से की गई है तो भी तेरी स्थिति आदि तथा अंत से रहित ही है अतः इस प्रकार के धर्मों से संयुक्त हे सरस्वति! तूने सर्वथा एकान्त मार्ग का नाश कर दिया ऐसा भलीभाँति प्रतीत होता है।

भावार्थ—अनेक महाशयों का यह सिद्धान्त है कि सरस्वती कंठ, तालु आदिक स्थानों से ही पैदा हुई है किन्तु यह एकान्त सिद्धान्त उनका वास्तविक सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा ही माना जाये तो सरस्वती आदि अंत से रहित नहीं हो सकती किन्तु अनेकान्त मत को मानकर ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए कि किसी रीति से सरस्वती कंठ, तालु आदिक स्थानों से उत्पन्न भी हुई है तथा किसी रीति से आदि अंत से रहित भी है अर्थात् द्रव्य श्रुत तो तालु, कंठ आदि स्थानों से उत्पन्न है किन्तु भाव

श्रुत ज्ञानात्मक है इसलिए शुद्ध निश्चयनय से वह आदि तथा अंत से रहित है इसी आशय को लेकर इस श्लोक से आचार्यवर सरस्वती माता की स्तुति करते हैं कि हे माता! यद्यपि आप किसी स्वरूप से कंठ, तालु आदि स्थानों से उत्पन्न हुई हो तो भी आप किसी स्वरूप से आदि अंत से रहित ही हो इसलिए इस प्रकार के धर्मों को धारण करने के कारण आपने एकांत विधि का सर्वथा नाश कर दिया है।

अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि द्युधेनुचिंतामणिकल्पपादपाः।
फलंति हि त्वं पुनरत्र [१]चापरे भवे कथं तैरुपमीयसे बुधैः॥१९॥

अर्थ—हे सरस्वति माता! किसी रीति से वश को प्राप्त ऐसे कामधेनु, चिंतामणि तथा कल्पवृक्ष एक ही भव में मनुष्यों को इष्ट फल के देने वाले होते हैं किन्तु आप इस भव में तथा परभव में (दोनों भवों में) मनुष्यों के इष्ट फलों को देने वाली हो इसलिए आपको कामधेनु, आदि की उपमा कभी भी नहीं दी जा सकती है।

भावार्थ—हे सरस्वति! बहुत से कवि जिस समय आपका वर्णन करते हैं उस समय आपको कामधेनु, चिंतामणि तथा कल्पवृक्ष की उपमा दिया करते है किन्तु आपके लिये उस प्रकार की उपमा देना योग्य नहीं है, क्योंकि यदि किसी रीति से कामधेनु तथा कल्पवृक्ष और चिंतामणि मनुष्यों के ऊपर संतुष्ट हो जावें तो वे इतना ही काम कर सकते हैं कि उस मनुष्य को इसी भव में इष्ट फलों को दे सकते हैं, दूसरे भव में नहीं, किन्तु हे माता! यदि आप किसी जीव पर संतुष्ट हो जाओ तो उसको इस भव में तथा परभव में भी इष्ट फल को देती हो इसलिए वे कदापि आप की समता को धारण नहीं कर सकते।

अगोचरो वासरकृन्निशाकृतो र्जनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः।
विभिद्यते वागधिदेवते त्वया त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रगीयसे॥२०॥

अर्थ—हे वागधिदेवते! हे सरस्वति! जो अंधकार सूर्य तथा चन्द्रमा के भी गोचर नहीं है अर्थात् न जिस अंधकार को सूर्य देख सकता है और न चन्द्रमा देख सकता है ऐसा मनुष्यों के चित्त में अंधकार विद्यमान है उस अंधकार को तू नाश करती है। इसलिए संसार में तू ही उत्तम ज्योति है ऐसा (विद्वान् मनुष्य) तेरा गुणगान करते हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसार में सूर्य, चन्द्र, दीपक, रत्न आदिक बहुत से पदार्थ हैं जो अंधकार को नाश करते हैं किन्तु वे बाहरी अंधकार को नाश करते हैं। मनुष्यों के मन में स्थित जो भीतरी अंधकार है उसको नाश नहीं कर सकते, क्योंकि वह अंधकार उनके अगोचर है किन्तु हे माता! आप उस भीतरी

---

१. वा परे।

अंधकार को भी नाश करती हो इसलिए सूर्य, चन्द्र आदि समस्त ज्योतियों में आप ही उत्तम ज्योति हो ऐसा बड़े-बड़े विद्वान् कवि आपका गुणगान करते हैं।

जिनेश्वरस्वच्छसर:सरोजिनी त्वमंगपूर्वादिसरोजराजिता।
गणेशहंसव्रजसेविता सदा करोषि केषां न मुदं परामिह ॥२१॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! तू जिनेश्वररूपी निर्मल सरोवर उसकी तो कमलिनी है और ग्यारह अंग चौदह पूर्वरूपी जो कमल उनसे शोभित है और गणधररूपी जो हंसों का समूह उससे सेवित है। इसलिए तू इस संसार में किसको उत्तम हर्ष को करने वाली नहीं है ?

भावार्थ—जो कमलिनी उत्तम सरोवर में उत्पन्न हुई है और जिसके चारों ओर भाँति-भाँति के कमल शोभा बढ़ा रहे हैं तथा अत्यन्त मनोहर हंसों का समूह जिसकी सेवा कर रहा है ऐसी कमलिनी जिस प्रकार सभी के चित्तों को प्रसन्न करने वाली होती है उसी प्रकार हे माता! आप भी जिनेश्वररूपी उत्तम सरोवर से पैदा हुई हो अर्थात् आपको भी केवली भगवान् ने प्रगट किया है तथा आप ग्यारह अंग चौदह पूर्वको धारण करने वाली हो और बड़े-बड़े गणधर आपकी सेवा करते हैं फिर भी आप मनुष्यों के चित्तों को क्यों नहीं प्रसन्नता की करने वाली होगी ? अर्थात् अवश्य ही मनुष्य आपको सुनकर प्रसन्न होंगे।

परात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपूर्वकं परं पदं यत्र सति प्रसिद्ध्यति।
कियत्ततस्ते स्फुरत: प्रभावतो नृपत्वसौभाग्यवरांगनादिकम्॥२२॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! जब आपकी कृपा से परमात्मतत्त्व का जो ज्ञान उस ज्ञान पूर्वक परमपद (मोक्ष पद) की सिद्धि हो जाती है तब आपके देदीप्यमान प्रभाव के सामने राजापना, सौभाग्य तथा उत्तम स्त्री आदि की प्राप्ति क्या चीज है?

भावार्थ—यद्यपि संसार में राजापना तथा सौन्दर्य और उत्तम स्त्री आदि की प्राप्ति भी अत्यन्त कठिन है किन्तु हे माता! आपके देदीप्यमान प्रभाव के सामने इनकी प्राप्ति कोई कठिन नहीं है अर्थात् जिसके ऊपर आपकी कृपा है वह भाग्यशाली बिना ही परिश्रम से इन पदार्थों को प्राप्त कर लेता है क्योंकि सबसे कठिन परात्मतत्त्व का ज्ञान तथा मोक्षपद की प्राप्ति है। जब मनुष्य आपकी कृपा से परमात्मज्ञान को तथा मोक्षपद को भी बात ही बात में प्राप्त कर लेता है तब उनकी अपेक्षा अत्यन्त सुलभ नृपत्व सौभाग्य आदि चीजों का प्राप्त करना उसके लिए क्या कठिन बात है ?

त्वदङ्घ्रिपद्मद्वयभक्ति भाविते तृतीयमुन्मीलति बोधलोचनम्।
गिरामधीशे सह केवलेन यत्समाश्रितं स्पर्धमिवेक्षतेऽखिलम्॥२३॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! जो भव्य जीव मनुष्य आपके दोनों चरण कमलों की भक्ति तथा सेवा करता है उस मनुष्य के तीसरा सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र प्रकट होता है जो सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र केवलज्ञान के

साथ ईर्ष्या करके ही मानो समस्त पदार्थों को देखता जानता है ऐसा मालूम पड़ता है।

भावार्थ—सरस्वती की कृपा से जीवों को श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है और उस श्रुतज्ञान से केवलज्ञान के समान समस्त पदार्थ जाने जाते हैं। भेद इतना ही है कि केवलज्ञान तो पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जानता है क्योंकि केवल आत्मा की सहायता से होने वाला केवलज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहा गया है तथा श्रुतज्ञान पदार्थों को परोक्षरूप से जानता है क्योंकि वह मन की सहायता से होता है। इसलिए वह परोक्ष ज्ञान कहा गया है। किन्तु पदार्थों के जानने में दोनों ज्ञान समान ही हैं। इसलिए आचार्यवर स्तुति करते हैं कि हे माता! जो मनुष्य आपके दोनों चरण-कमलों का भक्त है उस मनुष्य को श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है और उस श्रुतज्ञान से वह मनुष्य केवलज्ञान के समान समस्त पदार्थों को भली-भाँति जानता है।

त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत्समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम्।
त्वमेव चानंदसमुद्रवर्धने मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम्॥२४॥

अर्थ—हे माता सरस्वति! सम्यग्ज्ञानरूपी जल से भरा हुआ तथा समस्त लोकों की शुद्धि का कारण तू ही तो पवित्र तीर्थ है तथा जो पुरुष परमार्थ को देखने वाले हैं उन मनुष्यों के आनंदरूपी समुद्र के बढ़ाने में तू ही चन्द्रमा है।

भावार्थ—जिससे भव्य जीव तरें उसी का नाम तीर्थ है। इसलिए लोग जिस प्रकार अत्यन्त निर्मल जल से भरे हुए गंगा आदि तीर्थों को तीनों लोकों की शुद्धि का कारण समझते हैं उसी प्रकार हे माता सरस्वति! सम्यग्ज्ञानरूपी जल से भरी हुई और समस्त लोक की शुद्धि का कारण तू भी तीर्थ है अर्थात् जो मनुष्य तुझ में गोता लगाते हैं वे मनुष्य अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं तथा जिस प्रकार चन्द्रमा के उदित होने पर समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार हे माता! जो मनुष्य देखने वाले हैं उन मनुष्यों के आनंदरूपी समुद्र के बढ़ाने में तू चन्द्रमा के समान है।

त्वयादिबोधः खलु संस्कृतो व्रजेत्परेषु बोधेष्वखिलेषु हेतुतां।
त्वमक्षि पुंसामति दूरदर्शने त्वमेव संसारतरोः कुठारिका॥२५॥

अर्थ—हे भगवति सरस्वति! तेरे द्वारा अत्यन्त पवित्र किया हुआ मतिज्ञान ही बाकी के बचे हुए समस्त श्रुत, मनःपर्यय आदि ज्ञानों में कारण है और अत्यन्त दूर देखने में तू ही मनुष्य का नेत्र है और संसाररूपी वृक्ष के काटने के लिए तू ही कुठार है।

भावार्थ—हे माता! समस्त ज्ञानों में तू ही कारण पड़ती है अर्थात् तेरी ही कृपा से समस्त ज्ञान आत्मा में प्रकट होते हैं और जितने दूर पदार्थ हैं उनके देखने में तू ही नेत्र है क्योंकि जितने मेरु आदिक देश से दूर तथा राम और रावण आदि काल से दूर तथा परमाणु आदिक स्वभाव से दूर पदार्थ हैं उन सबका दर्शन तेरी ही कृपा से होता है और संसार के नाश करने में भी तू ही कारण है अर्थात् जो मनुष्य

तेरे भक्त तथा आराधक हैं वे मनुष्य यथार्थ तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर निर्विघ्न रीति से सीधे मोक्ष को चले जाते हैं अर्थात् उनका संसार सर्वथा छूट जाता है।

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती गुरूपदेशोयमवर्णभेदत:।
न ता: श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं प्रयच्छसि प्राणभृते न यच्छुभे॥२६॥

अर्थ—हे शुभे! हे सरस्वति! यह गुरु का उपदेश है कि जो पुरुष शास्त्रानुसार अकार से लेकर अंत तक आपका स्मरण करने वाला है उस पुरुष के न तो कोई ऐसी लक्ष्मी है जिसको आप न देवे और न कोई उत्तम गुण तथा उत्तम पद ही है जो कि आपकी कृपा से वह जीव न पा सके।

भावार्थ—हे माता! जो मनुष्य शास्त्रानुसार आपकी सेवा करने वाला है उस मनुष्य को अंतरंग केवलज्ञानादि तथा बहिरंग समवसरणादि समस्त प्रकार की लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तथा वह मनुष्य आपकी कृपा से औदार्य, धैर्य आदिक समस्त गुणों को भी प्राप्त कर लेता है और आपकी ही कृपा से उसको मोक्षपद की प्राप्ति भी शीघ्र हो जाती है।

अनेकजन्मार्जितपापपर्वतो विवेकवज्रेण स येन भिद्यते।
भवद्वपु:शास्त्रघनान्निरेति तत्सदर्थवाक्यामृतभारमेदुरात्॥२७॥

अर्थ—हे माता! हे सरस्वति! अनेक भवों में संचय किया हुआ जो पापरूपी पर्वत है वह जिस विवेकरूपी वज्र के द्वारा तोड़ा जाता है वह विवेकरूपी वज्र श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्यरूपी जल उसका जो भार उससे वृद्धि को प्राप्त ऐसा आपका शरीरस्वरूप जो शास्त्र वही हुआ मेघ उससे निकला है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम पानी के धारण करने वाले मेघ से वज्र उत्पन्न होता है तथा वह वज्र पर्वत को छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार हे माता! श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्यों से परिपूर्ण ऐसे आपके शास्त्र से मनुष्यों को हिताहित का विवेक होता है तथा उस विवेक से अनेक जन्मों में संचित भी पाप का समूह पलभर में नष्ट हो जाता है।

तमांसि तेजांसि विजित्य वाङ्मयं प्रकाशयद्यत्परमं महन्महः।
न लुप्यते तैर्न च तै: प्रकाश्यते स्वत: प्रकाशात्मकमेव नंदतु॥२८॥

अर्थ—हे सरस्वति! अंधकार तथा अन्य तेजों को जीतकर प्रकाश करता हुआ तथा सर्वोत्कृष्ट तेरी वाणीस्वरूप तेज इस लोक में जयवंत प्रवर्त हो क्योंकि जो तेज न तो अंधकार से नाश होता है और न किसी दूसरे तेज से प्रकाशित होता है किन्तु स्वत: प्रकाशस्वरूप ही है।

भावार्थ—यद्यपि सूर्य-चन्द्र आदि बहुतों के तेज संसार के अंदर मौजूद हैं किन्तु हे माता! आपके वाणीरूपी तेज की तुलना दूसरा कोई भी तेज नहीं कर सकता है क्योंकि वे समस्त तेज अंधकार द्वारा विनाशीक हैं तथा कई एक तेज दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और आपका तेज न तो प्रबल

से प्रबल अंधकार द्वारा ही विनाशीक है और दूसरे तेज की अपने प्रकाश होने में सहायता भी नहीं चाहता किन्तु स्वत: प्रकाशमान है। इसलिए हे सरस्वति! ऐसा आपका तेज सदा इस लोक में जयवंत रहे।

तव प्रसाद: कवितां करोत्यत: कथं जडस्तत्र घटेत मादृश:।
प्रसीद यत्रापि मयि स्वनन्दने न जातु माता विगुणेपि निष्ठुरा॥२९॥

अर्थ—हे सरस्वति! हे माता! तेरा प्रसाद ही कविता का करने वाला है इसलिए मेरे (ग्रन्थकर्ता के) समान वज्रमूर्ख उस कविता के करने में कैसे चेष्टा को कर सकता है ? अत: इस कविता के करने में तू मुझ पर प्रसन्न हो क्योंकि यदि अपना पुत्र निर्गुणी भी होवे तो भी माता उसके ऊपर कठोर नहीं बनती।

भावार्थ—पुत्र कैसा भी निर्गुणी तथा अविनीत क्यों न हो तो भी जिस प्रकार माता उसके ऊपर रुष्ट नहीं होती सदा उसके ऊपर दयालु ही रहती है उसी प्रकार हे सरस्वति! आप भी मेरी माता हो। इसीलिए यद्यपि मैं कैसी भी कविता करने में वज्र मूर्ख क्यों न हूँ तो भी आपको मेरे ऊपर कृपा ही करनी चाहिए क्योंकि यदि मैं चाहूँ कि आपकी कृपा का कुछ न सहारा रखकर कविता करने लगूँ सो हो नहीं सकता क्योंकि कविता के करने में आपकी कृपा ही कारण है अत: मेरे ऊपर प्रसन्न हो।

इमामधीते श्रुतदेवतास्तुतिं कृतिं पुमान् यो मुनिपद्मनंदिन:।
स याति पारं कवितादिसद्गुणप्रबंधसिन्धो: क्रमतो भवस्य च॥३०॥

अर्थ—जो पुरुष मुनिवर श्रीपद्मनंदि द्वारा की गई इस श्रुतदेवता की स्तुतिरूपी कृति को पढ़ता है वह पुरुष कविता आदिक जो उत्तम गुण उनका जो प्रबंधरूपी समुद्र उसके पार को प्राप्त हो जाता है तथा क्रम से संसाररूपी समुद्र के पार को भी प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार श्रीपद्मनंदी आचार्य कहते हैं कि मैंने बड़ी भक्ति से इस श्रुतदेवतास्तुतिरूपी कृति का निर्माण किया है जो भव्यजीव इस कृति को पढ़ने वाला है वह भव्यजीव कविता आदि जितने गुण हैं उन समस्त गुणों में प्रवीण हो जाता है तथा क्रम से वह संसार का भी नाश कर देता है अर्थात् इस श्रुतदेवता की स्तुति की कृपा से मोक्षपद को प्राप्त होकर अव्याबाध सुख का भोगने वाला हो जाता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

कुंठास्तेऽपि बृहस्पतिप्रभृतयो यस्मिन् भवन्ति ध्रुवं,
तस्मिन् देवि तव स्तुतिव्यतिकरे मंदा नरा: के वयम्।
तद्वाक्चापलमेतदश्रुतवतामस्माकमम्ब त्वया,
क्षन्तव्यं मुखरत्वकारणमसौ येनातिभक्ति ग्रह:॥३१॥

अर्थ—हे देवि! हे सरस्वति! जिस आपके स्तवन के करने में बड़े-बड़े विद्वान् बृहस्पति आदिक भी निश्चय से कुंठ अर्थात् मंदबुद्धि हो जाते हैं तब आपके स्तवन के करने में हम सरीखे मंदबुद्धियों की तो बात ही क्या है? अर्थात् हम तो आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते किन्तु थोड़े शास्त्र के जानकार हमारी यह (स्तुति नहीं) वाणी की चपलता है। इसलिए हे मातः! इस हमारे बाबदूकपने (मंदबुद्धि – अज्ञानता) को क्षमा कीजिये क्योंकि आपमें हमारी अत्यन्त भक्ति है।

भावार्थ—हे माता! जब आपकी स्तुति बड़े-बड़े बृहस्पति आदिक विद्वान् भी नहीं कर सकते तब हम सरीखे मंदबुद्धियों की क्या कथा है? अर्थात् हम तो आपकी स्तुति तुषमात्र भी नहीं कर सकते किन्तु यह जो स्तुति के ब्याज से हमने अपनी वाणी की चपलता की है वह आपकी भक्ति के वश होकर की है क्योंकि आपमें हमारी विशेष भक्ति है अतः आप इस हमारे बावदूकपने को क्षमा कीजिये।

इस प्रकार श्रीपद्मनंदि आचार्य विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिका में
श्रुतदेवता स्तुति नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥१५॥

१६.
चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तोत्र
स्वयंभूस्तोत्र

(वंशस्थ)

स्वयंभुवा येन समुद्धृतं जगज्जडत्वकूपे पतितं प्रमादतः।
परात्मतत्त्वप्रतिपादनोल्लसद्वचोगुणैरादिजिनः स सेव्यताम्॥१॥

अर्थ—जो जगत् प्रमाद के वश होकर अज्ञानरूपी कुँए में पड़ा था उस जगत् को जिस स्वयंभू (अपने आप होने वाले) श्री आदिनाथ भगवान ने पर तथा आत्मा के स्वरूप को कहने वाले मनोहर अपने वचनरूपी गुणों से उस अज्ञानरूपी कुँए से बाहर निकाला उन आदिनाथ भगवान की भो भव्य जीवो! आप सेवा करो।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य प्रमादी बनकर कुँए में गिर पड़े। उस मनुष्य को कोई उत्तम मनुष्य रस्सों से बाहर निकाले तो जिस प्रकार कूप से निकालने वाले मनुष्य को वह कुँए से निकला हुआ मनुष्य अपना महान् उपकारी मानता है तथा उसकी शक्त्यनुसार सेवा भी करता है उसी प्रकार यह जगत् भी प्रमाद के वश होकर अज्ञानांधकार में पड़ा हुआ था और सर्वथा हिताहित के विवेक से शून्य था। उस समय श्री आदिनाथ भगवान् ने अपने उपदेश से इस जगत् का उद्धार किया तथा इसको पर और आत्म तत्त्व का ज्ञान कराया। अतः सबसे ज्यादा यदि उपकारी हैं तो श्री आदिनाथ ही भव्य जीवों के उपकारी हैं इसलिए हे भव्य जीवों! आपके परमादरणीय तथा सेवा के पात्र श्री आदिनाथ ही हैं।

अजितनाथ भगवान् की स्तुति

[1]भवारिरेको न परोऽस्ति देहिनां सुहृच्च रत्नत्रयमेकमेव हि।
स दुर्जयो येन जिनस्तदाश्रयात्ततोऽजितान्मे जिनतोऽस्तु सत्सुखम्॥२॥

अर्थ—जीवों का संसार ही एक बैरी है और दूसरा कोई भी बैरी नहीं है तथा मित्र सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही हैं और कोई दूसरा मित्र नहीं है और वह संसाररूपी बैरी अत्यन्त दुर्जय है किन्तु जिन

१. भवोरिरेको।

अजितनाथ भगवान् ने उस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी मित्र की सहायता से उस संसाररूपी भयंकर बैरी को सर्वथा जीत लिया है उन अजितनाथ भगवान से मुझे श्रेष्ठ सुख मिले ऐसी मेरी प्रार्थना है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई भयंकर बैरी, मित्रों की सहायता से पलभर में जीत लिया जाता है उसी प्रकार श्री अजितनाथ भगवान् ने भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूपी मित्र की सहायता से संसाररूपी भयंकर बैरी को जीत लिया है क्योंकि जीवों का सबसे प्रबल बैरी संसार है और मित्र सबसे अधिक रत्नत्रय है। इसलिए इस प्रकार अत्यन्त वीर भी श्री अजितनाथ भगवान् मुझे उत्तम सुख के दाता हों ऐसी मेरी प्रार्थना है।

संभवनाथ भगवान की स्तुति

पुनातु नः संभवतीर्थकृज्जिनः पुनः पुनः संभवदुःखदुःखिताः।
तदर्तिनाशाय विमुक्तिवर्त्मनः प्रकाशकं यं शरणं प्रपेदिरे॥३॥

अर्थ—बारंबार संसार के दुखों से दुःखित जो प्राणी समस्त संसार के दुखों के नाश के लिए मोक्ष के मार्ग को प्रकाश करने वाले ऐसे जिस श्री संभवनाथ की शरण को प्राप्त हुए ऐसे श्री संभवनाथ जिनेन्द्र हमारी रक्षा करें अर्थात् ऐसे श्री संभवनाथ भगवान् को हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—जो संभवनाथ भगवान् प्राणियों को संसार के दुखों से छुड़ाने वाले हैं तथा मोक्ष मार्ग के प्रकाश को करने वाले हैं और शरण में आये हुए जीवों की रक्षा करने वाले हैं ऐसे श्री संभवनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें।

अभिनंदननाथ भगवान की स्तुति

निजैर्गुणैरप्रतिमैर्महानजो न तु त्रिलोकीजनतार्चनेन यः।
यतो हि विश्वं लघु तं विमुक्तये नमामि साक्षादभिनंदनं जिनम्॥४॥

अर्थ—जो अभिनंदननाथ भगवान् तीनों लोक के जनों से पूजित हैं इसलिए बड़े नहीं हैं किन्तु दूसरे जीवों में नहीं पाये जाये ऐसे जो स्वकीय गुण हैं उनमें बड़े हैं और जो जन्म से रहित हैं तथा जिनसे समस्त लोक छोटा है अर्थात् जो सांसारिक सुखों को तुच्छ समझते हैं अथवा जिनके ज्ञान के सामने यह लोक बहुत छोटी चीज है, ऐसे जीवों को समस्त प्रकार के आनंद के देने वाले श्री अभिनंदन जिनेन्द्र को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—जो अपने असाधारण गुणों से महान् हैं किन्तु तीनों लोक के जीवों द्वारा पूजित हैं इसलिए महान् नहीं हैं। तथा जन्म-मरण आदिक जिनके पास भी नहीं भटकने पाते और जो समस्त पदार्थों को देखने वाले हैं और जिनके नाम के स्मरण मात्र से ही समस्त जीवों को आनंद होता है ऐसे श्री अभिनंदननाथ को मैं मुक्ति के लिए मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

सुमतिनाथ भगवान् की स्तुति

नयप्रमाणादिविधान[१] संघटं प्रकाशितं तत्त्वमतीव निर्मलम्।
यतस्त्वया तत्सुमतेऽत्र तावकं तदन्वयं नाम नमोस्तु ते जिन॥५॥

अर्थ—हे सुमतिनाथ जिनेन्द्र! जिसमें प्रमाण तथा नयों का भलीभाँति संघट है और जो अत्यन्त निर्मल है ऐसा तत्त्व आपने प्रकाशित किया है। इसलिए हे जिनेश! आपका नाम सार्थक है तथा आपके लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—जिसकी बुद्धि शोभन होवे उसको सुमति कहते हैं। यह सुमति शब्द का अर्थ है, हे सुमति नाथ जिनेश! आपका यह नाम सर्वथा सार्थक है क्योंकि आपने उस तत्त्व का प्रकाश किया है जिस तत्त्व में प्रमाण तथा नय का अच्छी तरह संघट है तथा जिनमें किसी प्रकार का दोष नहीं है और इसीलिए जो निर्मल हैं अतः हे प्रभो! हे जिनेश! आपके लिए नमस्कार है।

पद्मप्रभ भगवान् की स्तुति

रराज पद्मप्रभतीर्थकृत्सदस्यशेषलोकत्रयलोकमध्यगः।
नभस्युडुव्रातयुतः शशी यथा वचोऽमृतैर्वर्षति यः स[२]पातु वः॥६॥

अर्थ—आकाश में चन्द्रमा जिस प्रकार नक्षत्रों से शोभित होता है तथा जीवों को आनंदामृत का वर्षण करता है उसी प्रकार जो पद्मप्रभ भगवान् तीनों लोकों के जो समस्त जीव उनके मध्यभाग में शोभित होते थे तथा जो अपने वचनरूपी अमृत को वर्षाने वाले थे। ऐसे वे श्री पद्मप्रभ भगवान् हमारी रक्षा करें अर्थात् ऐसे पद्मप्रभ भगवान् को हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा आकाश में नक्षत्रों से वेष्टित हुआ अधिक शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो पद्मप्रभ भगवान् समवशरण में समस्त जीवों के मध्य में अत्यन्त शोभित होते थे तथा जिस प्रकार चन्द्रमा अपने प्रकाश से जगत् को आनंद का देने वाला है उसी प्रकार जो पद्मप्रभ भगवान् अपने उपदेश से जीवों के आनंद के देने वाले थे अर्थात् जिनके उपदेश को सुनकर भव्यजीव आनंद सागर में मग्न हो जाते थे, ऐसे श्री पद्मप्रभ भगवान् हमारी रक्षा करें।

सुपार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति

नरामराहीश्वरपीडने जयी धृतायुधो धीरमना [३]झषध्वजः।
विनापि शस्त्रैर्ननु येन निर्जितो जिनं सुपार्श्वं प्रणमामि सर्वदा॥७॥

अर्थ—जो कामदेव नरेन्द्र, देवेन्द्र, फणीन्द्र को भी दुख का देने वाला है और जो शस्त्रों का धारी है तथा जिसका मन अत्यन्त धीर है और जिसकी मीन की ध्वजा है ऐसा भी कामदेव जिस सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्र ने, बिना ही शस्त्र के पलभर में जीत लिया उन सुपार्श्व भगवान् को मैं सर्वदा मस्तक झुकाकर

---

१. क.पुस्तक में सद्घटं यह भी पाठ है। २. क. पुस्तक में पातु नः यह भी पाठ है। ३. मखध्वजः।

नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—यद्यपि संसार में नरेन्द्र, देवेन्द्र तथा फणीन्द्र भी बड़े वीर गिने जाते हैं किन्तु कामदेव के सामने जिनकी कुछ भी वीरता नहीं चलती अर्थात् जो कामदेव इनको भी जीतने वाला है तथा जिस कामदेव के पास सदा शस्त्र (बाण) रहते हैं और जो धीर मन तथा मीन की ध्वजा का धारी है उस कामदेव को बिना शस्त्र के जिन सुपार्श्वनाथ भगवान् ने बात ही बात में जीत लिया अर्थात् जिन भगवान् के सामने तीन लोक के विजयी भी कामदेव की कुछ भी तीन पाँच न चली। उन श्री सुपार्श्व जिनेन्द्र को मैं सर्वदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

चंद्रप्रभ भगवान् की स्तुति

शशिप्रभो वागमृतांशुभिः शशी परं कदाचिन्न कलंकसंगतः।
न वापि दोषाकरतां ययौ यतिर्जयत्यसौ संसृतिपाप[१]नाशनः॥८॥

अर्थ—जो चन्द्रप्रभ भगवान् वाणीरूपी अमृत की किरणों से यद्यपि चन्द्रमा हैं परन्तु कभी भी कलंक से युक्त नहीं हैं और न कभी दोषाकर को ही प्राप्त हुए हैं तथा समस्त संसार के पापों के नाश करने वाले हैं, ऐसे यति चन्द्रप्रभ भगवान् सदा इस लोक में जयवंत हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी अमृतमयी किरणों से जीवों को आनंद का देने वाला होता है उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् चन्द्रमा ही हैं किन्तु जिस प्रकार चन्द्रमा कलंक से सहित हैं तथा दोषों से सहित है उस प्रकार भगवान् कलंक सहित नहीं हैं किन्तु कलंक से रहित ही हैं तथा दोषाकर नहीं हैं किन्तु दोषों से रहित ही हैं और समस्त संसार के नाश करने वाले हैं, इसलिए ऐसे अपूर्व चन्द्रमा श्री चन्द्रप्रभ भगवान् सदा इस लोक में जयवंत हैं।

पुष्पदंत भगवान् की स्तुति

यदीयपादद्वितयप्रणामतः पतत्यधो मोहनधूलिरंगिनाम्।
शिरोगता मोहठकप्रयोगतः स पुष्पदंतः सततं प्रणम्यते॥९॥

अर्थ—मोहरूपी ठग द्वारा प्राणियों के शिरों में स्थापित मोहन धूलि उन पुष्पदंत भगवान् के दोनों चरण कमलों के प्रणाम से ही पलभर में नीचे गिर पड़ती है उन पुष्पदंत भगवान् को हम सदा प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—कोई ठग किसी मनुष्य पर मोहनधूलि (जादू) डाल देवे तो जिस प्रकार उसको कुछ भी नहीं सूझता तथा वह ठग उसकी सब चीजों को ठग लेता है। उसी प्रकार इस संसार में मोह भी एक बड़ा भारी ठग है तथा उसने भी प्राणियों के मस्तकों पर मोहनधूलि डाल रखी है इसलिए उन प्राणियों को कुछ भी हिताहित का विवेक नहीं है अर्थात् मोह द्वारा उनका सब विवेक ठगा गया है किन्तु

---

१. ताप।

वह मोहनधूलि श्री पुष्पदंत भगवान् के दोनों चरण कमलों को प्रणाम करने से पलभर में नष्ट हो जाती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हम ऐसे श्री पुष्पदंत भगवान् को नमस्कार करते हैं।

शीतलनाथ भगवान् की स्तुति

सतां यदीयं वचनं सुशीतलं यदेव चन्द्रादपि चन्दनादपि।
तदत्र लोके भवतापहारि यत् प्रणम्यते किं न स शीतलो जिनः॥१०॥

अर्थ—जिन शीतलनाथ भगवान् के वचन सज्जनों को चन्द्रमा तथा चंदन से भी अधिक शीतल जान पड़ते हैं और जो वचन समस्त संसार ताप के नाश करने वाले हैं, ऐसे शीतलनाथ भगवान् क्या नमस्कार के पात्र नहीं हैं ? अवश्य ही हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसार में चन्द्रमा तथा चंदन भी शीतल पदार्थ हैं तथा ताप के दूर करने वाले हैं किन्तु ये बहुत थोड़े शीतल पदार्थ हैं तथा थोड़े ही तापको नाश कर सकते हैं किन्तु भगवान् शीतलनाथ के वचन अत्यन्त शीतल तथा समस्त संसार के ताप को दूर करने वाले हैं। इसलिए ऐसे शीतलनाथ भगवान् को मस्तक झुकाकर नमस्कार है।

श्रेयांसनाथ भगवान् की स्तुति

जगत्त्रये श्रेय इतो ह्ययादिति प्रसिद्धनामा जिन एष वन्द्यते।
यतो जनानां बहुभक्ति शालिनां भवंति सर्वे सफला मनोरथाः॥११॥

अर्थ—तीनों लोक में समस्त कल्याणों की प्राप्ति श्री श्रेयांसनाथ भगवान् से होती है, इसलिए ये जिनेन्द्र, श्रेयोनाथ इस नाम से प्रसिद्ध हैं तथा जो भव्यजीव इन श्रेयांसनाथ भगवान् में गाढ़भक्ति से सहित हैं उन भव्य जीवों के इन्हीं भगवान् की कृपा से समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—ग्यारहवें तीर्थंकर का जो श्रेयांसनाथ भगवान् नाम पड़ा है उसका कारण यही है कि तीनों लोक में उन्हीं की कृपा से कल्याणों की प्राप्ति होती है और उन्हीं की कृपा से भव्यजीवों के समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं।

वासुपूज्य भगवान् की स्तुति

पादाब्जयुग्मे तव वासुपूज्य तज्जनस्य पुण्यं प्रणतस्य तद्भवेत्।
यतो न सा श्रीरिह हि त्रिविष्टपे न तत्सुखं यन्न पुरः प्रधावति॥१२॥

अर्थ—हे वासुपूज्य जिनेश! जो भव्यजीव आपके दोनों चरण कमलों को नमस्कार करने वाला है उस भव्यजीव को इस संसार में उस अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिस पुण्य की कृपा से इन तीनों लोकों में न तो कोई ऐसी लक्ष्मी है जो आगे दौड़कर न आती हो और न कोई ऐसा सुख है जो न मिलता हो।

भावार्थ—हे वासुपूज्य जिनेश! जो मनुष्य आपके चरण कमलों की सेवा करने वाले हैं उन मनुष्यों को अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है तथा उस पुण्य की कृपा से वे इस संसार में उत्तमोत्तम लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं और समस्त प्रकार के सुख उनके सामने पलभर में आकर उपस्थित हो जाते हैं।

विमलनाथ भगवान् की स्तुति

मलैर्विमुक्तो विमलो न कैर्जिनो यथार्थनामा भुवने नमस्कृतः।
तदस्य नामस्मृतिरप्यसंशयं करोति वैमल्यमघात्मनामपि॥१३॥

अर्थ—इस संसार में ऐसा कौन होगा ? जिसने समस्त मलों से रहित तथा सार्थक नाम को धारण करने वाले जिनेन्द्र श्रीविमलनाथ को नमस्कार न किया हो अर्थात् समस्त ही जीव श्रीविमलनाथ भगवान् को नमस्कार करते हैं। इसीलिए श्रीविमलनाथ भगवान् के नाम का स्मरण ही पापी मनुष्यों को भी अत्यन्त विमल बना देता है।

भावार्थ—जो मनुष्य पापी हैं अर्थात् रात-दिन पाप का संचय करते रहते हैं यदि वे मनुष्य भी श्रीविमलनाथ जिनेन्द्र का नाम ले लेवें तो वे बात ही बात में समस्त पापों से रहित हो जाते हैं क्योंकि विमलनाथ भगवान् स्वयं समस्त प्रकार के मलों से रहित हैं तथा (समस्त प्रकार के मलों से जो रहित हो उसको विमल कहते हैं) इस सार्थक नाम को भी विमलनाथ भगवान् धारण करते हैं तथा समस्त संसारी जीव उनको नमस्कार करते हैं।

अनंतनाथ भगवान् की स्तुति

अनंतबोधादिचतुष्टयात्मकं दधाम्यनंतं हृदि तद्गुणाशया।
भवेद्यदर्थी ननु तेन सेव्यते तदन्वितो भूरितृषेव सत्सरः॥१४॥

अर्थ—अनंत विज्ञानादि स्वरूप श्रीअनंतनाथ भगवान् को मैं उनके गुणों की आशा से अपने हृदय में धारण करता हूँ क्योंकि संसार में यह बात प्रत्यक्षगोचर है कि जो पुरुष जिस गुण की प्राप्ति का इच्छुक होता है वह मनुष्य उसकी ही सेवा करता है जिस प्रकार अत्यन्त प्यासा मनुष्य अपनी प्यास की शांति के लिए उत्तम (स्वच्छ जल से भरे हुए) सरोवर की सेवा करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार अत्यन्त प्यासा मनुष्य अपनी प्यास को बुझाने के लिए अत्यन्त निर्मल जलसे भरे हुए सरोवर की सेवा करता है। उसी प्रकार अनंतविज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतसुख तथा अनंतदर्शन इस अनंतचतुष्टय का मैं भी आकांक्षी हूँ इसलिए अनंतचतुष्टय को धारण करने वाले श्रीअनंतनाथ भगवान् को मैं अपने हृदय में धारण करता हूँ क्योंकि जो जिस गुण की प्राप्ति का अभिलाषी होता है वह अवश्य ही उसकी सेवा करता है।

धर्मनाथ भगवान् की स्तुति

नमोस्तु धर्माय जिनाय मुक्तये सुधर्मतीर्थप्रविधायिने सदा।
यमाश्रितो भव्यजनोऽतिदुर्लभां लभेत कल्याणपरम्परां पराम्॥१५॥

अर्थ—जिस धर्मनाथ भगवान् को आश्रय कर भव्यजीव अत्यन्त दुर्लभ सर्वोत्कृष्ट कल्याणों की परंपरा को प्राप्त होते हैं उन श्रेष्ठ धर्मरूपी तीर्थ के प्रवर्तानेवाले तथा अष्टकर्मों के जीतने वाले श्रीधर्मनाथ भगवान् को मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिए सर्वदा नमस्कार करता हूँ।

शांतिनाथ भगवान् की स्तुति

विधाय कर्मक्षयमात्मशांतिकृज्जगत्सु यः शांतिकरस्ततोऽभवत्।
इति स्वमन्यं प्रति शांतिकारणं नमामि शांतिं जिनमुन्नतश्रियम्॥१६॥

अर्थ—जो शांतिनाथ भगवान् अपनी आत्मा की शांति करने वाले कर्मों के क्षय को करके समस्त जगत् में शांति के करने वाले होते हुए ऐसे स्व तथा पर को शांति के करने वाले और अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार की लक्ष्मी के स्वामी सोलहवें तीर्थंकर श्रीशांतिनाथ भगवान् को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ अर्थात् शांति के देने वाले श्रीशांतिनाथ भगवान् मुझे भी शांति प्रदान करें।

भावार्थ—जब तक इस आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध रहता है तब तक यह मेरा है-यह तेरा है। इस प्रकार के विकल्पों को करता हुआ यह सदा व्याकुल ही रहा करता है किन्तु जिस समय कर्म आत्मा से जुदे हो जाते हैं उस समय विकल्पों से रहित होने के कारण आत्मा शांत हो जाता है श्रीशांतिनाथ भगवान् ने अपने तपोबल से घातिया कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया है इसलिए कर्मों से रहित होने के कारण वे शांत हैं और वे स्वयं शांत समस्त जगत् में शांति के करने वाले हैं। इसलिए इस प्रकार स्व-पर की शांति के करने वाले और समस्त लक्ष्मी के स्वामी श्रीशांतिनाथ भगवान् को मैं मस्तक झुकाकर शांति की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

कुंथुनाथ भगवान् की स्तुति

दयांगिनां चिद्द्वितयं विमुक्तये परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन तत्।
विशुद्धमासीदिह यस्य मादृशां स कुंथुनाथोऽस्तु भवप्रशांतये॥१७॥

अर्थ—बाह्य तथा अभ्यंतर के भेद से समस्त प्रकार के परिग्रहों के छोड़ने के कारण जिन कुंथुनाथ भगवान् के समस्त प्राणियों पर दया और चैतन्य ये दोनों विशुद्ध हो गये वे श्री कुंथुनाथ भगवान्, मेरे समान मनुष्यों को संसार की शांति के लिए हों।

भावार्थ—जब तक 'ममेदमिति' (यह मेरा है ऐसे) मूर्छा लक्षण परिग्रह का सम्बन्ध आत्मा के साथ में रहता है तब तक किसी प्रकार की विशुद्धता नहीं होती और जिस समय इस परिग्रह का सम्बन्ध

छूट जाता है उस समय विशुद्धि की प्राप्ति होती है श्रीकुंथुनाथ भगवान् ने समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है इसलिए बाह्य में तो समस्त प्राणियों पर दया की विशुद्धि हुई तथा अंतरंग में चैतन्य की विशुद्धि हुई इसलिए ऐसे श्रीकुंथुनाथ भगवान् मेरे समान मनुष्यों को संसार की शांति के लिए होवें।

अरनाथ भगवान् की स्तुति

विभांति यस्यांघ्रिनखा नमत्सुरस्फुरच्छिरोरत्नमहोऽधिकप्रभा:।
जगद्गृहे पापतमोविनाशना इव प्रदीपा: स जिनो जयत्यर:॥१८॥

अर्थ—नमस्कार करते हुए जो देवता उनके मस्तकों पर मुकुटों में लगे हुए देदीप्यमान रत्न उनकी जो कान्ति उससे भी है अधिक प्रभा जिनकी, ऐसे जिन अरनाथ जिनेन्द्र के चरणों के नख, संसाररूपी घर में पापरूपी अंधकार को नाश करने वाले दीपकों के समान शोभित होते हैं वे अरनाथ भगवान् इस लोक में जयवंत हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक अंधकार का नाश करता है उसी प्रकार अत्यन्त देदीप्यमान भगवान् के चरण नख भी पापरूपी अंधकार का नाश करते हैं अर्थात् जो भव्यजीव भगवान् के चरण नखों की आराधना करते हैं उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

मल्लिनाथ भगवान् की स्तुति

सुहृत्सुखी स्यादहित: सुदु:खित: स्वतोप्युदासीनतमादपि प्रभो:।
यत: स जीयाज्जिनमल्लिरेकतां गतो जगद्विस्मयकारिचेष्टित:॥१९॥

अर्थ—यद्यपि मल्लिनाथ भगवान् स्वयं उदासीन हैं तो भी जिन मल्लिनाथ प्रभु से उनके स्नेही भक्त सुख पाते हैं तथा उनके शत्रु दुख पाते हैं। इसलिए ऐसे वे आत्मस्वरूप में लीन तथा समस्त जगत् को आश्चर्य करने वाली चेष्टा को धारण करने वाले श्रीमल्लिनाथ भगवान् सदा इस लोक में जयवंत हों।

भावार्थ—यद्यपि यह बात अनुभवगोचर है कि जो मनुष्य उदासीन होता है अर्थात् जो मित्र-शत्रु को समान मानता है उससे न तो मित्र सुखी होते हैं और न शत्रु दुखी ही होते हैं किन्तु मल्लिनाथ भगवान् में यह विचित्रता है कि वे स्वयं उदासीन होने पर भी अपने भक्तों को सुख के देने वाले हैं तथा निंदकों को दुख के देने वाले हैं (अर्थात् जो मनुष्य उनकी सेवा तथा भक्ति करता है उसको शुभकर्म का बंध होता है जिससे उसको शुभकर्म के फलस्वरूप सुख की प्राप्ति होती है तथा जो मनुष्य उनकी निंदा करता है, उनको घृणा की दृष्टि से देखता है उसको अशुभकर्मों का बंध होता है जिससे उसको संसार में नाना प्रकार के दुखों का सामना करना पड़ता है)। इसलिए इस प्रकार अपने आत्मस्वरूप में लीन तथा आश्चर्यकारी चेष्टा को धारण करने वाले श्रीमल्लिनाथ भगवान् इस लोक में जयवंत रहें।

मुनिसुव्रतनाथ भगवान् की स्तुति

विहाय नूनं तृणवत्स्वसम्पदं मुनिर्व्रतैर्योऽभवदत्र सुव्रतः।
जगाम तद्धाम विरामवर्जितं सुबोधदृङ्मे स जिनः प्रसीदतु॥२०॥

अर्थ—जो मुनिसुव्रतनाथ मुनि, समस्त पदार्थों को निश्चय से तृण के समान छोड़कर व्रतों को धारण करने से 'मुनिसुव्रत' नाम को धारण करते हुए और जो नाश से रहित (अविनाशी) मोक्षपद को प्राप्त हुए तथा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के धारी हैं ऐसे वे मुनिसुव्रतनाथ भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

भावार्थ—जो उत्तम व्रतों को धारण करने वाला हो उसको सुव्रत कहते हैं। बीसवें तीर्थंकार का जो मुनिसुव्रत नाम पड़ा है सो इसलिए पड़ा है कि उन्होंने समस्त संपदाओं का त्यागकर व्रतों को धारण किया है। इसलिए इस प्रकार व्रतों को पालने के कारण सुव्रत नाम को धारण करने वाले तथा अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के धारी श्रीमुनिसुव्रतनाथ भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों ऐसी मेरी प्रार्थना है।

नमिनाथ भगवान् की स्तुति

परम्परायत्ततयातिदुर्बलं चलं [१]स्वसौख्यं यदसौख्यमेव तत्।
अदः प्रमुच्यात्मसुखे कृतादरो नमिर्जिनो यः स ममास्तु मुक्तये॥२१॥

अर्थ—जो नमिनाथ भगवान् पराधीनता से प्राप्त तथा पर (भिन्न) और अत्यन्त दुर्बल तथा चंचल ऐसा इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख, दुःखस्वरूप ही है ऐसा समझकर तथा इन्द्रिय सम्बन्धी सुख को छोड़कर आत्मसम्बन्धी सुख में आदर करते हुए वे श्रीनमिनाथ भगवान् मुझे मुक्ति के लिए हों।

भावार्थ—इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख पराधीन है और वास्तविक सुख से भिन्न है अत्यन्त दुर्बल है तथा चंचल है और वह सुख नहीं दुःखस्वरूप ही है किन्तु आत्मसम्बन्धी सुख स्वाधीन है स्वीय (अपना) है, दुर्बलता रहित है, स्थिर है और वही वास्तविक सुख है ऐसा भलीभाँति समझकर इन्द्रिय सम्बन्धी सुख को छोड़कर आत्मसम्बन्धी सुख में भलीभाँति आदर करते हुए वे श्रीनमिनाथ भगवान् मुझे मुक्ति के लिए होवें अर्थात् मुझे मुक्ति देवें ऐसी मेरी प्रार्थना है।

नेमिनाथ भगवान् की स्तुति

अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमितामुपागतो भव्यजनेषु यो जिनः।
अरिष्टनेमिर्जगतीतिविश्रुतः स ऊर्जयन्ते जयतादिनः शिवम्॥२२॥

अर्थ—जो भगवान् भव्यजनों के अशुभकर्मों को नाश करने में चक्र की धारापने को प्राप्त हैं इसीलिए जो संसार में 'अरिष्टनेमि' इस नाम से प्रसिद्ध हैं तथा जो गिरनार पर्वत से मोक्ष को पधारे वे अरिष्टनेमि भगवान् सदा इस लोक में जयवंत रहें।

भावार्थ—जिस प्रकार चक्र की धार छेदन करने में पैनी रहती है उसी प्रकार भगवान् भी

१. खसौख्यं।

भव्यजीवों के अशुभकर्मों के नाशक हैं अर्थात् भगवान् की कृपा से भव्यजीवों के अशुभकर्म नष्ट हो जाते हैं इसीलिए जो, भव्यजीवों के अशुभकर्मों के नाश करने में चक्र की धार के समान हैं अतएव जिन्होंने 'अरिष्टनेमि' इस नाम को धारण किया है तथा जिन्होंने परमपूज्य श्रीगिरनार पर्वत से मोक्ष पाया है वे श्रीअरिष्टनेमि भगवान् सदा इस लोक में जयवंत रहें।

पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति

यदूर्ध्वदेशे नभसि क्षणादहिप्रभोः फणारत्नकरैः प्रधावितम्।
पदातिभिर्वा कमठाहतेःकृते करोतु पार्श्वः स जिनो ममामृतम्॥२३॥

अर्थ—जिन पार्श्वनाथ भगवान् के मस्तक पर आकाश में कमठासुर को मारने के लिए शेषनाग के फणों में लगे हुए जो रत्न उनकी किरणें, पदाति (सेना) के समान धावा करती हुई मालूम पड़ती थी, वे पार्श्वनाथ भगवान् मेरे लिए मोक्ष को दें।

भावार्थ—किसी समय भगवान् ध्यान में अत्यन्त लीन होकर वन में विराजमान थे उस समय उनके पूर्व भव का बैरी कमठासुर आकाशमार्ग से चला जा रहा था जिस समय उसका विमान इनके मस्तक पर आया तो आगे चला ही नहीं क्योंकि तीर्थंकर आदि महात्माओं के ऊपर से किसी का विमान नहीं जाता। तब वह नीचे उतरा और भगवान् को देखते ही उसको पूर्वभव का स्मरण हो गया बस फिर क्या था भगवान् को ध्यान से चलायमान करने के लिए उसने बहुत से उपाय सोचे और किए, परन्तु भगवान् के सामने वे सब निष्फल ही हुए अंत में उसने मेघ बर्षाए तथा ओले गिराये और प्रचंड पवन चलायी उस समय धरणेन्द्र और पद्मावती ने भगवान् का उपसर्ग निवारण किया क्योंकि धरणेन्द्र ने भगवान् के मस्तक पर अपना फण फैलाकर मेघ का निवारण किया तथा पद्मावती ने वज्र का छत्र बनाकर भगवान् के उपसर्ग का निवारण किया। उसी बात को अपने मन में धारण कर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान् के मस्तक पर शेषनाग के फणों के रत्नों की किरण जहाँ-तहाँ नहीं फैल रहीं हैं किन्तु वे कमठ के मारने के लिए सेना ही है अतः ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् मुझे मुक्ति प्रदान करें।

वर्धमान भगवान् की स्तुति

त्रिलोकलोकेश्वरतां गतोऽपि यः स्वकीयकायेऽपि तथापि निस्पृहः।
स वर्धमानोऽन्त्यजिनो नताय मे ददातु मोक्षं मुनिपद्मनंदिने॥२४॥

अर्थ—जो वर्धमान स्वामी तीनलोक के ईश्वर होने पर भी अपने शरीर में भी निस्पृह (इच्छा रहित) रहे। वे अंतिम जिनेन्द्र वर्धमान स्वामी नमस्कार करते हुए मुझ पद्मनंदि मुनि के लिए मोक्ष प्रदान करें।

इस प्रकार इस श्रीपद्मनंदि आचार्य विरचित श्रीपद्मनंदिपञ्चविंशतिका में
चतुर्विंशतिजिनेन्द्रस्तोत्र-स्वयंभूस्तोत्र समाप्त हुआ ॥१६॥

१७.
सुप्रभाताष्टक स्तोत्र

(शार्दूलविक्रीडित)

निःशेषावरणद्वयस्थिति - निशाप्रान्तेन्तरायक्षयो
द्योते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरतः।
सम्यग्ज्ञानदृगक्षियुग्ममभितो विस्फारितं यत्र-
तल्लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥१॥

अर्थ—दोनों जो निश्शेषावरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण उनकी जो स्थिति वही हुई रात्रि उसके अंत होने पर तथा अंतराय कर्म के क्षय से प्रकाश होने पर और मोहनीय कर्म के द्वारा किए हुए निद्रा के भार को शीघ्र ही दूर होने पर जिस सुप्रभात में सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शनरूप दोनों नेत्र उन्मीलित हुए (खुले) उस अचल सुप्रभात को जिन यतियों ने प्राप्त कर लिया है उन यतियों के लिए नमस्कार है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रभात काल में रात्रि का सर्वथा अंत हो जाता है तथा प्रकाश प्रकट हो जाता है और निद्रा का नाश हो जाता है अर्थात् सोते हुए प्राणी उठ बैठते हैं और दोनों नेत्र खुल जाते हैं उसी प्रकार जिस सुप्रभात में ज्ञानावरण और दर्शनावरण के सर्वथा नाश होने पर तथा मोहनीय कर्म की कृपा से उत्पन्न हुई निद्रा के सर्वथा दूर हो जाने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रकट हुए और ऐसे सुप्रभात को जिन मुनियों ने प्राप्त कर लिया है उन मुनियों के लिए मस्तक झुकाकर नमस्कार है।

यत्सच्चक्रसुखप्रदं यदमलं ज्ञानप्रभाभासुरं
लोकालोकपदप्रकाशनविधिप्रौढं प्रकृष्टं सकृत्।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्तं परं प्राणिभिः
त्रैलोक्याधिपतेर्जिनस्य सततं तत्सुप्रभातं स्तुवे॥२॥

अर्थ—तीनों लोकों के स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान् के उस सुप्रभात स्तोत्र को नमस्कार करता हूँ कि जो जिनेन्द्र भगवान् का सुप्रभात समस्त जीवों को सुख का देने वाला है और समस्त प्रकार के मलों से रहित होने के कारण अमल है और ज्ञान की जो प्रभा उससे देदीप्यमान है तथा समस्त

लोकालोक को प्रकाश करने वाला है और जो अत्यन्त महान् है और जिसके एकबार ही उदित होने पर समस्त प्राणियों को ऐसा मालूम पड़ता है कि हमको उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् वे अपना जीवन धन्य समझते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रभातकाल समस्त प्राणियों को सुख का देने वाला होता है और अंधकार के नाश हो जाने पर प्रभात काल के उदित होने पर समस्त प्राणी अपना जीवन उत्कृष्ट समझते हैं उसी प्रकार तीन लोक के स्वामी श्री जिनेन्द्रदेव का भी प्रभात (केवलज्ञान) है क्योंकि यह भी समस्त जीवों को सुख का देने वाला है (अर्थात् जिस समय केवल ज्ञान प्रकट होता है उस समय तीनों लोकों के जीवों को आनंद होता है) और ज्ञानावरणादि कर्मों के अभाव से निर्मल है तथा ज्ञान की (अपनी) प्रभा से देदीप्यमान है। समस्त लोक तथा अलोक का प्रकाश करने वाला है, महान् है और जिस केवलज्ञान के उदित होने पर समस्त प्राणी अपने को धन्य समझते है उन तीनों लोकों के स्वामी श्री जिनेन्द्र देव के सुप्रभात (केवलज्ञान) के लिए नमस्कार है।

एकान्तोद्धतवादिकौशिकशतैर्नष्टं भयादाकुलै-
र्जातं यत्र विशुद्धखेचरनुतिव्याहारकोलाहलम्।
यत्सद्धर्मविधिप्रवर्तनकरं तत्सुप्रभातं परं
मन्येऽर्हत्परमेष्ठिनो निरुपमं संसारसंतापहृत्॥३॥

अर्थ—जिन अर्हत् भगवान् के उपमा रहित सुप्रभात के होने पर भयभीत होकर एकान्त सिद्धान्त से मत्त ऐसे सैकड़ों वादीरूपी कौशिक (बाल उल्लू) नष्ट हो गये और अत्यन्त शुद्ध जो विद्याधरों की स्तुति उसका जो शब्द उसका कोलाहल होता हुआ और जो सुप्रभात उत्तमधर्म की प्रवृत्ति का करने वाला है वह अर्हत् भगवान् का सुप्रभात (केवलज्ञान) समस्त संसार के संतापों को दूर करने वाला है ऐसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार सुबह के समय समस्त उल्लू छिप जाते हैं तथा पक्षिगण अपने कलकल शब्दों से आकाश में कोलाहल करते हैं और उत्तमधर्म की प्रवृत्ति होती है अर्थात् जिस प्रभात काल में मनुष्य अपनी-अपनी धर्म क्रियाओं में तत्पर हो जाते हैं और जो सुप्रभात उपमा रहित है तथा समस्त संतापों को दूर करने वाला है उसी प्रकार अर्हत् भगवान् का भी सुप्रभात है क्योंकि भगवान् के सुप्रभात के (केवलज्ञान के) सामने भी वस्तु के एकांत स्वरूप को ही मानकर मदोन्मत्त वादीरूपी उल्लू नष्ट हो जाते हैं और जिस सुप्रभात में विद्याधर भगवान् की स्तुति करते हैं उस समय उनकी स्तुति के शब्द का कोलाहल सब जगह पर व्याप्त हो जाता है तथा भगवान् का सुप्रभात (केवलज्ञान) श्रेष्ठ कर्म की प्रवृत्ति का करने वाला है अर्थात् जिस समय संसार अज्ञानांधकार से व्याप्त हो जाता है उस समय केवलज्ञानी के केवल ज्ञान से ही श्रेष्ठमार्ग की प्रवृत्ति होती है और यह भगवान् का सुप्रभात उत्कृष्ट है, उपमा रहित है तथा समस्त संसार के संतापों का दूर करने वाला है ऐसा मैं मानता हूँ।

सानंदं सुरसुन्दरीभिरहित: शक्रैर्यदा गीयते
प्रात: प्रातरधीश्वरं यदतुलं वैतालिकै: पठ्यते।
यच्चाश्रावि नभश्चरैश्च फणिभि: कन्याजनाद्गायत
स्तद्वन्दे जिनसुप्रभातमखिलं त्रैलोक्यहर्षप्रदम्॥४॥

अर्थ—जिन जिनेन्द्र भगवान् के समस्त सुप्रभात स्तोत्र का आनंद युक्त देवागंना तथा इंद्र गान करते हैं तथा उपमा रहित स्तोत्र को विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनते भी हैं उन तीनों लोकों को हर्ष के देने वाले भगवान् के सुप्रभात स्तोत्र को मैं शिर नवाकर नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—जिन जिनेन्द्र भगवान् के स्तोत्र का स्वर्ग में तो बड़े आनंद से देवांगना तथा इन्द्र गान करते हैं और मध्यलोक में राजाओं के आगे प्रात:काल में बंदीजन गान करते हैं तथा अधोलोक में नागकन्या अपने मधुर स्वर से गान करती हैं जिसको बड़ी लालसा से विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनते हैं ऐसे उस तीनों लोकों को हर्ष के करने वाले भगवान् के सुप्रभात को मैं नमस्कार करता हूँ।

उद्द्योते सति यत्र नश्यति तरां लोकेऽन्धचौरश्चिरं
दोषेशोंतरतीत यत्र मलिनो मंदप्रभो जायते।
यत्रानीतितमस्ततेर्विघटनाज्जाता दिशो निर्मला
वंद्यं नंदतु शाश्वतं जिनपतेस्तत्सुप्रभातं परम्॥५॥

अर्थ—जिन जिनेन्द्र भगवान् के सुप्रभात के प्रकाशमान होने पर संसार में पापरूपी चोर सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा मनरूपी चन्द्रमा मलिन मंदप्रभ (फीका) हो जाता है और अनीतिरूपी अंधकार के सर्वथा नाश हो जाने के कारण समस्त दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं तथा जो भगवान् का सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदा काल रहने वाला है और वंदनीक है ऐसा वह जिनेन्द्र भगवान् का सुप्रभात सदा इस लोक में जयवंत प्रवर्ते।

भावार्थ—जिस प्रकार सुबह के हो जाने पर सब चोर नष्ट हो जाते हैं और चन्द्रमा मलिन तथा फीका पड़ जाता है तथा समस्त अंधकार के नाश हो जाने से दिशा सर्वथा स्वच्छ हो जाती है और जो उत्कृष्ट तथा वंद्य हैं, उसी प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव का भी सुप्रभात (केवलज्ञान) है क्योंकि इस जिनेन्द्र के सुप्रभात के प्रकाशमान होने पर भी समस्त पापरूपी चोर सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा मनरूपी चन्द्रमा भी मलिन तथा फीका पड़ जाता है अर्थात् मन का व्यापार सर्वथा नष्ट हो जाता है और अनीतिरूपी मार्ग के सर्वथा नाश हो जाने के कारण समस्त दिशायें निर्मल हो जाती हैं (अर्थात् भगवान् के सुप्रभात के प्रकाशमान होने पर मिथ्यामार्ग की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और उत्तममार्ग की प्रवृत्ति होती है) और जो जिनेन्द्रभगवान् का सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदा काल रहने वाला है और समस्त भव्य जीवों का वंद्य (स्तुति के करने योग्य) है।

मार्गं यत्प्रकटीकरोति हरते दोषानुषंगस्थितिं
लोकानां विदधाति दृष्टिमचिरादर्थावलोकक्षमाम्।
कामासक्तधियामपि कृशयति प्रीतिं प्रियायामिति
प्रातस्तुल्यतयापि कोऽपि महिमापूर्वः प्रभातोऽर्हताम्॥६॥

अर्थ—जो अर्हत् भगवान् का सुप्रभात मार्ग प्रकट करता है और समस्त दोषों के संग से होने वाली स्थिति को नष्ट करता है तथा लोगों की दृष्टियों को शीघ्र ही पदार्थों के देखने में समर्थ बनाता है और जिन मनुष्यों की बुद्धि काम में आसक्त है अर्थात् जो पुरुष कामी हैं उनकी स्त्री विषयक प्रीति को नष्ट करता है। इसलिए यद्यपि अर्हत् देव का प्रभात प्रातःकाल के समान मालूम पड़ता है तो भी यह प्रातःकाल से वचनागोचर अपूर्व महिमा का धारी है ऐसा जान पड़ता है।

भावार्थ—यद्यपि शब्द से प्रातःकाल तथा जिनेन्द्र का सुप्रभात समान ही प्रतीत होते हैं तो भी प्रातःकाल की (सुबह की) अपेक्षा अर्हत् भगवान् के सुप्रभात की महिमा अपूर्व ही है क्योंकि प्रातःकाल तो मनुष्यों के चलने के लिए सड़क आदि मार्ग को प्रकट करता है किन्तु भगवान् का सुप्रभात सम्यग्दर्शनादि स्वरूप मोक्ष के मार्ग को प्रकट करता है तथा प्रातःकाल तो रात्रि की स्थिति का नाश करता है किन्तु भगवान् का सुप्रभात रागद्वेष रूपी दोषों की स्थिति को दूर करता है और प्रातःकाल तो घटपटादि थोड़े पदार्थों के देखने में ही मनुष्यों की दृष्टियों को समर्थ करता है किन्तु अर्हत् भगवान् का सुप्रभात मनुष्यों की दृष्टि को मूर्तिक तथा अमूर्तिक समस्त पदार्थों के देखने में समर्थ बनाता है तथा प्रातःकाल तो कामी पुरुषों की स्त्री विषयक प्रीति को ही नष्ट करता है किन्तु अर्हत् भगवान् का सुप्रभात समस्त प्रकार के मोह का नाश करने वाला है इसलिए प्रातःकाल की अपेक्षा अर्हत् भगवान् का सुप्रभात अपूर्व महिमा का धारी है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

यद्भानोरपि गोचरं न गतवच्चित्ते स्थितं तत्तमो
भव्यानां दलयत्तथा कुवलये कुर्याद्विकासश्रियम्।
तेजः सौख्यहतेरकर्तृ [1]सदिदं नक्तंचराणामपि
क्षेमं वो विदधातु जैनमसमं श्री सुप्रभातं सदा॥७॥

अर्थ—जो अंधकार सूर्य के भी गोचर (विषयभूत) नहीं है ऐसे इस भव्यजीवों के चित्तों में विद्यमान भी अंधकार को जो जिनेन्द्र का सुप्रभात नष्ट करने वाला है तथा भूमंडल में जो जिनेन्द्र का सुप्रभात विकास की शोभा को धारण करता है (अर्थात् पृथ्वीमंडल में विकसित होता है) और जो जिनेन्द्र का सुप्रभात रात्रि में गमन करने वाले जीवों के तेज तथा सुख के नाश को नहीं करता है ऐसा यह समीचीन तथा उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान् का सुप्रभात सदा आप लोगों के कल्याण को करे।

भावार्थ—जो जिनेन्द्र का सुप्रभात, जहाँ पर सूर्य को भी गम्य नहीं है ऐसे भव्यजीवों के मन

१. यदिदं।

में मौजूद अंधकार का नाश करने वाला है तथा जो समस्त पृथ्वी मंडल के ऊपर प्रकाशमान है और सूर्य तो रात्रि में गमन करने वाले उल्लू आदि जीवों के तेज तथा सुख का नाश करने वाला है किन्तु जिनेन्द्र भगवान् का सुप्रभात रात्रि में गमन करने वाले जीवों के न तो तेज का नाश करने वाला है तथा न सुख का नाश करने वाला है और जो समीचीन है तथा उपमा रहित है ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान् का सुप्रभात सदा आप लोगों का कल्याण करे।

भव्याम्बोरुहनन्दिकेवलरविः प्राप्नोति यत्रोदयं
दुष्कर्मोदयनिद्रया परिहृतं जागर्ति सर्वं जगत्।
नित्यं यैः परिपठ्यते जिनपतेरेतत्प्रभाताष्टकं
तेषामाशु विनाशमेति दुरितं धर्मः सुखं वर्धते॥८॥

अर्थ—जिन श्री जिनेन्द्रदेव के सुप्रभात में भव्यरूपी कमलों को आनंद का देने वाला केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय को प्राप्त होता है और जिन भगवान् के सुप्रभात में समस्त जगत् खोटे कर्मों से पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्था को प्राप्त होता है आचार्यवर कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान् के इस प्रकार के उत्तम सुप्रभाताष्टक को जो भव्यजीव नित्य पढ़ते हैं उन भव्यजीवों के समस्त पापों का नाश हो जाता है और उनके धर्म की वृद्धि होती है तथा सुख की भी वृद्धि होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रातःकाल में कमलों को आनंद के देने वाले सूर्य का उदय होता है तथा समस्त लोक निद्रा से रहित होकर प्रबोध अवस्था को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जग जाता है उसी प्रकार भगवान् का सुप्रभात भी है क्योंकि भगवान् के सुप्रभात में भी भव्यरूपी कमलों को आनंद के देने वाले अथवा भव्य पद्मनंदी आचार्य को आनंद के देने वाले केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता है और समस्त लोक खोटे कर्मों से पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए आचार्यवर कहते हैं कि जो भव्यजीव सदा इस जिनेन्द्र भगवान् के सुप्रभातष्टक स्तोत्र को पढ़ते हैं उन भव्यजीवों के समस्त अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है और उनके सुख की तथा धर्म की वृद्धि होती है।

इस प्रकार श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदीपंचविंशतिका में सुप्रभाताष्टक स्तोत्र नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥१७॥

१८.
श्री शांतिनाथ स्तोत्र

(शार्दूलविक्रीडित)

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं
यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते।
अश्रांतोद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भर्त्सितार्कप्रभं
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथः सदा॥१॥

अर्थ—जिन श्री शांतिनाथ भगवान् के मस्तक के ऊपर तीनों लोक के स्वामीपने के प्रकट करने में तत्पर तथा देवन्द्रों द्वारा आरोपित चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान तीन छत्र शोभित होते हैं और निरंतर उदय को प्राप्त ऐसा जो केवलज्ञान उसकी जो निर्मल कांति उससे जिनने सूर्य की प्रभा को भी शोभाहीन (लज्जित) कर दिया है और जो समस्त पापों से रहित हैं ऐसे वे श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र सदा हम लोगों की रक्षा करें।

भावार्थ—श्री शांतिनाथ भगवान् तीनों लोक के स्वामी हैं इस बात को प्रकट करने के लिए जिन श्री शांतिनाथ भगवान् के मस्तक के ऊपर देवेन्द्रों ने चन्द्रमा के समान तीन छत्र आरोपित किए हैं और जिन्होंने सदा उदय को प्राप्त ऐसे अपने केवलज्ञान की कांति से सूर्य की प्रभा को भी लज्जित (शोक रहित) कर दिया है और ज्ञानावरणादि कर्म जिनके पास नहीं भटकते इसीलिए जो कर्मों से उत्पन्न हुई कालिमा से रहित हैं ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान् सदा हमारी रक्षा करें अर्थात् ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान् को नमस्कार है।

देवः सर्वविदेष एव परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः
संत्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां सम्मताः।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः
सोस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्री शांतिनाथः सदा ॥२॥

अर्थ—देवताओं से ताड़ित (बजाई हुई) जिन श्री शांतिनाथ भगवान् की दुन्दुभि (नगाड़ा) संसार में मानों इस बात को प्रकट कर रही है कि समस्त पदार्थों को जानने वाले तथा उत्कृष्ट और तीनों लोकों

के पति यदि हैं तो शांतिनाथ भगवान् ही हैं किन्तु इनसे भिन्न न कोई समस्त पदार्थों का जानने वाला है और न उत्कृष्ट तथा तीनों लोकों का पति ही है तथा समस्त तत्त्वों का वर्णन करने वाले इन्हीं (भगवान्) के वचन सज्जनों को मान्य हैं किन्तु इनसे भिन्न किसी के वचन मान्य नहीं हैं ऐसे वे समस्त कर्मों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् सदा हमारी रक्षा करें।

दिव्यस्त्रीमुखपङ्कजैकमुकरप्रोल्लासिनानामणि
स्फारीभूतविचित्ररश्मिरचितानम्रामरेन्द्रायुधैः।
सच्चित्रीकृतवातवर्त्मनि लसत्सिंहासने यः स्थितः
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा॥३॥

अर्थ—श्री शांतिनाथ भगवान्, देवांगनाओं के मुख कमल वे ही हुए एक दर्पण उनमें देदीप्यमान जो नाना प्रकार के रत्न उनकी जो चारों ओर फैली हुई किरणें उनसे बनाये हुए, जो इन्द्र धनुष, उनसे चित्र-विचित्र जो आकाश, उसमें देदीप्यमान सिंहासन में विराजमान होते हुए ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् सदा हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—जिस समय भगवान् को देवांगनायें आकर नमस्कार करती हैं उस समय उनके भूषणों के रत्नों की किरणों से चित्र-विचित्र आकाश ऐसा मालूम पड़ता है मानों उसमें इन्द्रधनुष ही पड़े हों तो इस प्रकार इन्द्रधनुषों के समान चित्र-विचित्र आकाश में जो शांतिनाथ भगवान् सिंहासन पर विराजमान होते हुए ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें अर्थात् ऐसे शांतिनाथ भगवान को मस्तक झुकाकर नमस्कार है।

गंधाकृष्टमधुव्रतव्रजरुतैर्व्यापारिता कुर्वती
स्तोत्राणीव दिवःसुरैः सुमनसां वृष्टिर्यदग्रेऽभवत्।
सेवायातसमस्तविष्टपपतिस्तुत्याश्रयस्पर्धया,
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथो जिनः॥४॥

अर्थ—जिन श्री शांतिनाथ भगवान् के आगे आकाश में देवों द्वारा की हुई फूलों की वर्षा इस प्रकार से होती हुई मानो सेवा में आये हुए जो समस्त लोक के स्वामी देवेन्द्रादिक उनकी स्तुति से उत्पन्न हुई ईर्ष्या से, सुगंध से खिचे हुए भ्रमर समूह उनके शब्दों से स्तोत्रों को ही कर रही हो। इसलिए इस प्रकार समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि जिस समय भगवान् के ऊपर पुष्पवृष्टि होती है उस समय उसकी सुगंधि से आये हुए जो भ्रमर उनके जो गुंजार शब्द, वे गुंजार शब्द नहीं हैं किन्तु तीनों लोक के पति देवेन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आकर भगवान् की स्तुति करते हैं। उस समय उनकी स्तुति की ईर्ष्या से पुष्पवृष्टि भी भगवान की मानों स्तुति कर रही है ऐसी मालूम होती है।

खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके शुभ्राभ्रलेशावथ
सूर्याचंद्रमसाविति प्रगुणितौ लोकाक्षियुग्मैः सुरैः।
तर्क्येते हि यदग्रतोतिविशदं तद्यस्यभामण्डलं
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः श्री शांतिनाथः सदा॥५॥

अर्थ—जिन श्री शांतिनाथ भगवान् के भामंडल के आगे सूर्य तथा चन्द्रमा को लोगों के नेत्र तथा देव ऐसा मानते थे कि, क्या ये सूर्य चन्द्रमा दो खद्योत (जुगनू) हैं अथवा अग्नि के दो फुलिंगे हैं वा सफेद मेघ के ये दो टुकड़े हैं ऐसा जिन शांतिनाथ भगवान् का भामंडल था। ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—जिन श्री शांतिनाथ भगवान् का भामंडल इतना देदीप्यमान था कि जिसके सामने अत्यन्त प्रकाशमान सूर्य-चन्द्रमा भी जुगुनू तथा अग्नि के फुलिंगे और सफेद मेघ के टुकड़ों के समान जान पड़ता था। ऐसे वे समस्त कर्मों से पैदा हुई कालिमा से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें।

यस्याशोकतरुर्विनिद्रसुमनोगुच्छप्रसक्तैः क्वणद्
भृगैर्भक्तियुतः प्रभोरहरहर्गायन्निवास्ते यशः।
शुभ्रं साभिनयो मरुच्चललतापर्यंतपाणिश्रिया
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथः सदा॥६॥

अर्थ—जिन श्री शांतिनाथ भगवान् का भक्ति सहित अशोक वृक्ष खिले हुए फूल उनके जो गुच्छे उन पर बैठे हुए जो शब्द करते हुए भ्रमर उनसे प्रभू के निर्मल यश का गान कर रहा है ऐसा मालूम होता है और पवन से कंपित जो लता उनके जो अग्रभाग वे ही हुए हाथ उनसे ऐसा जान पड़ता है मानों नृत्य ही कर रहा हो ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—जिसके खिले हुए फूलों के गुच्छों पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं और जिसके शाखाओं के अग्रभाग पवन से हिल रहे हैं ऐसे अशोक वृक्ष के नीचे बैठे ध्यानारूढ़ भगवान् को अपने मन में भावना से ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो अशोक वृक्ष के फूले हुए फूलों पर भ्रमर गुंजार शब्द कर रहे हैं वे शब्द उनके गुंजार के शब्द नहीं हैं किन्तु भक्ति वश अशोक वृक्ष भगवान् के निर्मल यश का गान कर रहा है तथा वे जो पवन से अशोक वृक्ष की लताओं के अग्रभाग हिल रहे हैं वे लताओं के अग्रभाग नहीं हैं किन्तु वे अशोक वृक्ष के हाथ हैं तथा हाथ फैलाकर अशोक वृक्ष भक्ति वश नृत्य कर रहा है इसलिए जिनका अशोक वृक्ष भक्ति युक्त होकर ऐसी चेष्टा कर रहा है ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें।

विस्तीर्णाखिलवस्तुतत्त्वकथनापारप्रवाहोज्ज्वला
निश्शेषार्थिनिषेवितातिशिशिरा शैलादिवोत्तुंगतः।

प्रोद्भूता हि सरस्वती सुरनुता विश्वं पुनाना यतः
सोऽस्मान्पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्री शांतिनाथ:सदा॥७॥

अर्थ—जो अत्यन्त विस्तीर्ण है तथा समस्त तत्त्वों का जो कथन वही हुआ प्रवाह उससे उज्ज्वल है और जिनकी समस्त अर्थिजन (याचक) सेवा करते हैं और जो अत्यन्त शीतल है तथा जिनकी समस्त देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जगत् को पवित्र करने वाली है ऐसी सरस्वती (गंगा) अत्यन्त ऊँचे पर्वत के समान जिन श्री शांतिनाथ भगवान् से प्रकट हुई है ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—जिस प्रकार गंगा नदी अत्यन्त लंबी-चौड़ी है और जिसका पार नहीं है, ऐसे प्रवाह से उज्ज्वल है तथा जिसकी याचक गण सेवा करते हैं और जो अत्यन्त शीतल है तथा जिसकी बड़े-बड़े देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जगत् को पवित्र करने वाली है तथा अत्यन्त उन्नत ऐसे हिमालय पर्वत से प्रकट हुई है उसी प्रकार सरस्वती भी है क्योंकि यह भी अत्यन्त विस्तीर्ण है तथा समस्त तत्त्वों का कथन, वही हुआ प्रवाह उससे अत्यन्त निर्मल है। इसके भक्त लोग इसकी भी सेवा करते हैं और यह अत्यन्त शीतल है और इसकी बड़े-बड़े देव स्तुति करते हैं तथा समस्त जगत् को पवित्र करने वाली है और अत्यन्त उन्नत श्री शांतिनाथ हिमालय से उत्पन्न हुई है। इसलिए जिनसे इस प्रकार गंगा नदी के समान सरस्वती उत्पन्न हुई है, ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें।

लीलोद्वेल्लितबाहुकंकणरणत्कारप्रहृष्टैः सुरै
श्चंचच्चन्द्रमरीचिसंचयसमाकारैश्चलच्चामरैः।
नित्यं यः परिवीज्यते त्रिजगतां नाथस्तथाप्यस्पृहः
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथः सदा॥८॥

अर्थ—जिन शांतिनाथ भगवान् के ऊपर लीला से कंपित जो भुजा उनमें पहने हुए कंकण उनका जो रणत्कार शब्द उनसे अत्यन्त हर्षित ऐसे देव, देदीप्यमान जो चन्द्रमा उसकी किरणें, उनका जो समूह उसके समान रूप को धारण करने वाले चंचल चमरों को ढ़ोरते हैं और जो तीनों लोक के नाथ हैं और जो निरीह हैं अर्थात् समस्त पदार्थों में इच्छा से रहित हैं ऐसे वे समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् सदा हमारी रक्षा करें अर्थात् ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान् को नमस्कार है।

भावार्थ—जिन श्री शांतिनाथ भगवान् के ऊपर समस्त आभूषणों से सहित देवेन्द्र, चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल चँवरों को ढ़ोरते हैं और जो तीनों लोक के नाथ हैं जिन भगवान् की किसी पदार्थ में इच्छा नहीं है ऐसे वे समस्त प्रकार के पातकों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् सदा हमारी रक्षा करें।

निश्शेषश्रुतबोध वृद्धमतिभिः प्राज्यैरुदारैरपि
स्तोत्रैर्यस्य गुणार्णवस्य हरिभिः पारो नहि प्राप्यते।
भव्यांभोरुहनंदिकेवलरविर्भक्त्या मयापि स्तुतः
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथः सदा॥९॥

अर्थ—समस्त शास्त्रों के ज्ञान से जिनकी बुद्धि अत्यन्त विशाल हैं ऐसे इन्द्र भी अत्यन्त उत्कृष्ट तथा बड़े-बड़े स्तोत्रों से जिन शांतिनाथ के गुणरूपी समुद्र का पार नहीं पा सकते ऐसे उन भव्यरूपी कमलों को अथवा भव्य पद्मनंदि को आनंद के करने वाले केवलज्ञानरूपी सूर्य के धारी श्री शांतिनाथ भगवान् की मैंने स्तुति की है इसलिए समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपञ्चविंशतिका में
श्री शांतिनाथ स्तोत्र समाप्त हुआ ॥१८॥

१९.
श्री जिनपूजाष्टक

(वसन्ततिलका)

जातिर्जरामरणमित्यनलत्रयस्य जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत्।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि॥१॥

अर्थ—जीवों के आश्रित अर्थात् जीवों में होने वाली तथा अत्यन्त संताप को देने वाली ऐसी जन्म, जरा और मरण ये तीन प्रकार की अग्नि हैं उन तीनों प्रकार की अग्नियों को यथावत् बुझाने के लिए श्री जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों के अग्रभाग की भूमि में उत्तम जल से बनाई हुई तीन धाराओं का मैं क्षेप करता हूँ।

भावार्थ—जितने भी संसारी जीव हैं उन जीवों को जिस प्रकार अग्नि अत्यन्त संताप को देने वाली होती है उसी प्रकार जन्म, जरा और मरण ये तीन अत्यन्त संताप को देने वाले हैं इसलिए इन तीनों के विनाश के लिए श्री जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों के अग्र भाग की भूमि में मैं उत्तम निर्मल जल से बनाई हुई तीन धाराओं का क्षेप करता हूँ अर्थात् तीन बार जल को चढ़ाता हूँ ॥जलम्॥

यद्वद्वचोजिनपतेर्भवतापहारि नाहं सुशीतलमपीह भवामि तद्वत्।
कर्पूरचंदनमितीव मयार्पितं सत् त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं करोति॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार भगवान् के वचन समस्त संसार के संताप को हरण करने वाले हैं उसी प्रकार अत्यन्त शीतल भी मैं चंदन संसार के संतापों का हरण करने वाला नहीं हूँ। इसीलिए ऐसा समझकर मेरे द्वारा चढ़ाया हुआ यह कपूर मिला हुआ चंदन हे भगवन्! आपके चरण कमलों के आश्रय को करता है।

भावार्थ—यद्यपि संसार में चंदन भी अत्यन्त शीतल पदार्थ है किन्तु चंदन अपने को आपके वचनों के सामने अत्यन्त शीतल नहीं समझता, क्योंकि आपके वचन तो संसार संबंधी समस्त संतापों के दूर करने वाले हैं किन्तु ऐसा चंदन नहीं। इसलिए हे भगवन्! मेरे द्वारा आपके चरण कमलों में चढ़ाया हुआ यह कपूर मिश्रित चंदन आपके चरण कमलों का आश्रय करता है ॥चंदनम्॥

राजत्यसौ शुचितराक्षतपुंजराजिर्दत्ताधिकृत्य जिनमक्षतमक्षधूर्तैः।
वीरस्य नेतरजनस्य तु वीरपट्टो बद्धः शिरस्यतितरां श्रियमातनोति॥३॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी धूर्त, उससे नहीं नष्ट किए गये, ऐसे जो जिनेन्द्र भगवान् हैं उनको आश्रय कर दी गई अत्यन्त निर्मल अक्षतों के पुंजों की पंक्ति है वह अत्यन्त शोभित होती है सो ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य अत्यन्त शूरवीर हैं उसके मस्तक पर बंधा हुआ ही वीरपट्ट शोभा को प्राप्त होता है डरपोक के मस्तक पर बंधा हुआ शोभा को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—जो मनुष्य शूरवीर है। उसके शिर पर बंधा हुआ वीरपट्ट जिस प्रकार शोभा को प्राप्त होता है उस प्रकार डरपोक के शिर पर बंधा हुआ वीरपट्ट शोभा को नहीं प्राप्त होता। उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रियरूपी धूर्तों से अक्षत हैं अर्थात् जो इन्द्रियों के वश में नहीं है उन्हीं मनुष्यों के आश्रय से दी हुई यह निर्मल अक्षतों के पुंजों की श्रेणी सुशोभित होती है किन्तु जो मनुष्य इन्द्रियों के आधीन हैं, उन मनुष्यों के लिए दी हुई अक्षतों के पुंजों की पंक्ति शोभित नहीं होती, जिनेन्द्रदेव ने समस्त इन्द्रियों को वश में कर लिया है। इसलिए उनके आश्रय से दी हुई यह अक्षतों के पुंजों की पंक्ति शोभित होती है ॥अक्षतम्॥

साक्षादपुष्पशर एष जिनस्तदेनं संपूजयामि शुचिपुष्पशरैर्मनोज्ञैः।
नान्यं तदाश्रयतया किल यन्न यत्र तत्तत्र रम्यमधिकां कुरुते च लक्ष्मीम्॥४॥

अर्थ—ये जिनेन्द्र भगवान् साक्षात् अपुष्पशर हैं अर्थात् मदन से रहित हैं। इसीलिए मैं इन जिनेन्द्र भगवान् का अत्यन्त मनोहर ऐसे फूलों के हारों से पूजन करता हूँ किन्तु भगवान् से जो अन्य हैं वे मदन से रहित नहीं हैं सहित ही हैं, इसलिए फूलों के हारों से उसकी पूजा नहीं करता, क्योंकि जो चीज जहाँ पर होती है वह वहाँ पर मनोहर समझी जाती है। वह वहाँ पर अत्यन्त शोभा को प्राप्त होती है जो जहाँ पर मनोहर वस्तु नहीं होती वह वहाँ पर अत्यन्त लक्ष्मी को ही धारण कर सकती है।

भावार्थ—यह नियम है कि जो चीज जहाँ पर नहीं होती है वही वहाँ पर मनोहर समझी जाती है तथा वही वहाँ पर शोभा को प्राप्त होती है किन्तु जो चींज जहाँ पर होती है वह वहाँ पर मनोहर नहीं समझी जाती और वह वहाँ पर शोभा को भी प्राप्त नहीं होती। श्री जिनेन्द्र से भिन्न जितने भी देव हैं उन सबके पास पुष्पशर हैं अर्थात् वे सब 'मदन सहित' हैं इसलिए उनकी पुष्पों की मालाओं से मैं पूजन नहीं करता क्योंकि उनके चरणों में चढ़ाई हुई फूलों की माला न मनोहर ही समझी जा सकती है और न वहाँ पर शोभा को ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु श्री जिनेन्द्र भगवान् पुष्पशर रहित (मदन रहित) हैं इसलिए उनके चरण कमलों में चढ़ाई हुई फूलों की माला मनोहर होती है तथा शोभा को भी प्राप्त होती हैं इसलिए श्री जिनेन्द्रदेव का ही मैं फूलों की मालाओं से पूजन करता हूँ ॥पुष्पम्॥

देवोऽयमिन्द्रियबलं प्रलयं करोति नैवेद्यमिन्द्रियबलप्रदखाद्यमेतत्।
चित्रं तथापि पुरतः स्थितमर्हतोऽस्य शोभां बिभर्ति जगतो नयनोत्सवाय॥५॥

अर्थ—यह श्री जिनेन्द्र देव तो समस्त इन्द्रियों के बल को नष्ट करते हैं और यह नैवेद्य इन्द्रियों के बल को बढ़ाने वाला है तथा खाने योग्य है तो भी श्री अर्हत भगवान् के सामने चढ़ाया हुआ यह नैवेद्य समस्त जगत् के नेत्रों के उत्सव के लिए शोभा को धारण करता है यह आश्चर्य है।

भावार्थ—संसार में यह देखने में आता है कि जो पुरुष जिस व्यसन का विरोधी होता है यदि वह व्यसनों को उत्पन्न करने वाली वस्तु उसके सामने रख दी जावे तो उस वस्तु को देखकर वह मनुष्य अवश्य ही विकृत हो जाता है किन्तु भगवान् में यह आश्चर्य है कि नैवेद्य भगवान् के सामने रखा हुआ भी भगवान् को विकृत नहीं करता क्योंकि नैवेद्य इन्द्रियों के बल को बढ़ाने वाला है तथा सुस्वादु है और भगवान् समस्त इन्द्रियों के बल का प्रलय करने वाले हैं। इसलिए ऐसा नैवेद्य भगवान् के सामने रखा हुआ लोगों के नेत्रों को उत्सव का करने वाला है ॥नैवेद्यम्॥

आरार्तिकं तरलवन्हिशिखं विभाति स्वच्छे जिनस्य वपुषि प्रतिबिम्बितं सत्।
ध्यानानलो मृगयमाण इवावशिष्टं दग्धुं परिभ्रमति कर्मचयं प्रचंडः॥६॥

अर्थ—चंचल है अग्नि की शिखा जिसमें ऐसी तथा श्री जिनेन्द्र भगवान् के स्वच्छ शरीर में प्रतिबिम्बित हुई आरती ऐसी मालूम होती है मानो प्रचंड ध्यानरूपी अग्नि बचे हुए कर्मों को भस्म करने के लिए जहाँ-तहाँ ढूँढ़ती हुई भ्रमण करती है।

भावार्थ—उन्नत शिखा को धारण करने वाली जो आरती की ज्वाला भगवान् के शरीर में प्रतिबिम्बित है वह आरती की ज्वाला नहीं है किन्तु भगवान् की ध्यानरूपी अग्नि है तथा वह बचे हुए समस्त अघातिया कर्मों को नाश करने के लिए ढूँढ़ती फिरती है ऐसी मालूम होती है ॥दीपम्॥

कस्तूरिका-रसमयीरिव पत्रवल्लीः कुर्वन् मुखेषु चलनैरिव दिग्वधूनाम्।
हर्षादिव प्रभुजिनाश्रयणेन वात प्रेङ्खद्वपुर्नटति पश्यत धूपधूम्रम्॥७॥

अर्थ—दिशारूपी स्त्रियों के मुख में कस्तूरी के रस से बनाई हुई पत्र रचना के समान पत्र रचना को करता हुआ प्रभु श्री जिनेन्द्रदेव के आश्रय से पवन से कंपित है शरीर जिसका ऐसा धूप का धुआँ हर्ष से मानों नृत्य ही कर रहा है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—धूप का धुँआ सब जगह पर फैल रहा है इससे तो यह मालूम पड़ता है मानो वह दिशारूपी स्त्रियों के मुख पर कस्तूरी के रस से रची हुई पत्र रचना के समान पत्र रचना को कर रहा हो क्योंकि कस्तूरी के रस का रंग तथा धुँआ का रंग एकसा ही होता है तथा निकलते समय पवन से कंपित होता है उससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मानो श्री जिनेन्द्र के आश्रय करने से हर्ष से नृत्य ही कर रहा हो ॥धूपम्॥

उच्चैः फलाय परमामृतसंज्ञकाय नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि।
तद्भक्तिरेव सकलानि फलानि दत्ते मोहेन तत्तदपि याचत एव लोकः॥८॥

अर्थ—सबसे ऊँचे तथा उत्तम अमृत है संज्ञा जिसकी ऐसे उस फल के लिए अर्थात् मोक्ष फल के लिए मैं श्री जिनेन्द्र भगवान् की भाँतिभाँति के फलों से पूजा करता हूँ यद्यपि श्री जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति ही समस्त फलों को देने वाली है तो भी लोक, मोह से फलों की याचना करता ही है।

भावार्थ—यद्यपि भगवान् की भक्ति में ही यह सामर्थ्य है कि जो मनुष्य भगवान् की भक्ति को करता है उसको उत्तमोत्तम समस्त प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है तो भी मनुष्य मोह के वश होकर फलों की याचना करता है। उसी प्रकार मुझे भक्ति करने से अविनाशी सुख के भंडार मोक्ष रूपी सुख की प्राप्ति हो सकती है तो भी मैं मोह के वश होकर उस मोक्षरूप फल की प्राप्ति के लिए श्री जिनेन्द्र भगवान् की नाना प्रकार के फलों को चढ़ाकर पूजा करता हूँ ॥फलम्॥

पूजाविधिं विधिवदत्र विधाय देवे स्तोत्रं च संमदरसाश्रितचित्तवृत्तिः।
पुष्पाञ्जलिं विमलकेवललोचनाय यच्छामि सर्वजनशांतिकराय तस्मै॥९॥

अर्थ—श्रेष्ठ जो हर्ष वही हुआ रस उससे आश्रित है चित्त की वृत्ति जिसकी ऐसा मैं (पूजक) शास्त्रानुसार भगवान् की भलीभाँति पूजा करके तथा भलीभाँति स्तोत्र को पढ़ करके निर्मल केवल ज्ञानरूपी नेत्र के धारण करने वाले और समस्त जीवों को शांति के देने वाले उन श्री जिनेन्द्र भगवान् के लिए पुष्पों की अंजलि को समर्पण करता हूँ ॥पुष्पांजलिः॥

श्रीपद्मनंदितगुणौघ न कार्यमस्ति पूजादिना यदपि ते कृतकृत्यतायाः।
स्वश्रेयसे तदपि तत्कुरुते जनोऽर्हन् कार्या कृषिः फलकृते न तु भूपकृत्यै॥१०॥

अर्थ—श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा गान किया गया है गुणों का समूह जिनका ऐसे हे अर्हन्! हे वीतराग! यद्यपि आप कृतकृत्य हैं इसलिए उस कृतकृत्यपनेरूप हेतु से आपको पूजा आदिक से कुछ भी कार्य नहीं है तो भी लोक अपने कल्याण के लिए ही आपकी पूजा करते हैं क्योंकि खेती अपने कल्याणों की प्राप्ति के लिए ही की जाती है किन्तु राजा के काम के लिए नहीं की जाती।

भावार्थ—जिस प्रकार किसान लोग खेती को अपने ही कल्याणों के लिए करते हैं राजा के कल्याण के लिए नहीं। उसी प्रकार हे समस्त गुणों के भंडार श्री जिनेन्द्रदेव! जो मनुष्य आपकी पूजा करते हैं वे अपने कल्याणों के लिए ही करते हैं आपके लिए नहीं करते, क्योंकि आप समस्त कर्मों को नष्ट कर चुके हैं इसलिए कृतकृत्य हैं अतः आपको पूजन आदि कार्य से किसी प्रकार का कोई भी प्रयोजन नहीं है ॥१०॥

इस प्रकार श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपञ्चविंशतिका में
श्री जिनपूजाष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥१९॥

२०.

करुणाष्टक

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानंदैककारण कुरुष्व।
मयि किंकरेऽत्र करुणां यथा तथा जायते मुक्तिः॥१॥

अर्थ—हे तीनों लोकों के गुरु, हे कर्मों को जीतने वाले महात्माओं के स्वामी और हे उत्कृष्ट मोक्षरूपी आनंद के देने वाले जिनेन्द्र मुझ दास पर ऐसी दया कीजिए, जिससे कि मेरा मोक्ष हो जावे अर्थात् समस्त पाप कर्मों से मैं सर्वथा छूट जाऊँ।

निर्विण्णोहं नितरामर्हन् बहुदुःखया भवस्थित्या।
अपुनर्भवाय भवहर कुरु करुणामत्र मयि दीने॥२॥

अर्थ—हे समस्त घातिया कर्मों को जीतने वाले अर्हंत भगवान्, अनेक प्रकार के दुखों को देने वाली ऐसी जो संसार की स्थिति है उससे मैं सर्वथा खिन्न हूँ। इसलिए हे संसार के नाश करने वाले जिनेन्द्र! इस संसार में मुझ दीन पर ऐसी दया कीजिये जिससे मुझे फिर से जन्म न धारण करना पड़े अर्थात् मैं मुक्त हो जाऊँ।

उद्धर मां पतितमतो विषमाद्भवकूपतः कृपां कृत्वा।
अर्हन्नलमुद्धरणे त्वमसीति पुनः पुनर्वच्मि ॥३॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं इस भयंकर संसाररूपी कुएँ में पड़ा हुआ हूँ इसलिए मेरे ऊपर दया करके मुझे इस संसाररूपी भयंकर कुएँ से बाहर निकालिए क्योंकि हे अर्हन्! हे भगवन्! इस कुएँ से मुझे निकालने में आप ही समर्थ हैं ऐसा मैं बारम्बार आपकी सेवा में निवेदन करता हूँ।

त्वं कारुणिकः स्वामी त्वमेव शरणं जिनेश तेनाहम्।
मोहरिपुदलितमानः पूत्कारं तव पुरः कुर्वे ॥४॥

अर्थ—हे जिनेश! हे प्रभो! यदि संसार में कोई दयावान् हैं तो आप ही हैं और भव्य जीवों के शरण हैं तो आप ही हैं। इसलिए मोहरूपी बैरी ने जिसका मान (अभिमान) नष्ट कर दिया है ऐसा मैं आपके सामने ही फूत्कार को करता हूँ अर्थात् फुक्का मार-मार कर रोता हूँ।

ग्रामपतेरपि करुणा परेण केनाप्युपद्रुते पुंसि।
जगतां प्रभो न किं तव जिन मयि खलकर्मभिः प्रहते॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य जिस गाँव का अध्यक्ष (मुखिया) है यदि उस गाँव में किसी मनुष्य पर कोई अन्य मनुष्य आकर उपद्रव करें अर्थात् उसको दुख देवें तो वह ग्राम का मुखिया भी जब उस दुःखित मनुष्य पर करुणा करता है तो हे जिनेन्द्र! आप तो तीनों लोक के प्रभू हैं और मुझे अत्यन्त दुष्ट कर्मों ने सता रखा है तो क्या आप मेरे ऊपर करुणा न करेंगे ? अवश्य ही दया करेंगे।

अपहर मम जन्म दयां [१]कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्ये।
तेनातिदग्ध, इति मे देव बभूव प्रलापित्वम् ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो! सबका मूलभूत एक ही शब्द कह देना चाहिए। वह एक शब्द यही है कि कृपाकर आप मेरे जन्म को (संसार को) सर्वथा नष्ट करें क्योंकि मैं इस जन्म से अत्यन्त दुःखित हूँ। इसीलिए यह मेरा आपके सामने प्रलाप हुआ है अर्थात् मैं विलख-विलख कर रो रहा हूँ।

तव जिन चरणाब्जयुगं करुणामृतसंगशीतलं यावत्।
संसारातपतप्तः करोमि हृदि तावदेव सुखी॥७॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! संसाररूपी आतप से संतप्त हुआ मैं जब तक दयारूपी जल के संग से अत्यन्त शीतल ऐसे आपके दोनों चरण कमलों को हृदय में धारण करता हूँ तभी तक मैं सुखी हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य धूप के संताप से अत्यन्त संतप्त होवे तथा उस समय पानी के सम्बन्ध से अत्यन्त शीतल ऐसे कमलों को अपने हृदय पर रख जिस प्रकार वह सुखी होता है उसी प्रकार हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! मैं भी संसार के प्रखर संताप से अत्यन्त संतप्त हूँ तब तक मैं दयारूपी जल के सम्बन्ध से अत्यन्त शीतल ऐसे आपके दोनों चरण कमलों को अपने हृदय में धारण करता हूँ तब तक मैं अत्यन्त सुखी रहता हूँ।

जगदेकशरण भगवन्नसमश्रीपद्मनन्दितगुणौघ।
किं बहुना कुरु करुणामत्र जने शरणमापन्ने॥८॥

अर्थ—हे समस्त जगत् के एक शरण, हे भगवन्! आप से अतिरिक्त जनों में नहीं पाये जाये, ऐसे श्री पद्मनंदि नामक आचार्य द्वारा गान किए गुणों के समूह को धारण करने वाले हे जिनेश! हे प्रभो! अब मैं विशेष कहाँ तक कहूँ बस यही प्रार्थना है कि इस, शरण में आये हुए मुझपर आप इस संसार में दया करें।

इति श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
करुणाष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥२०॥

---

१. कृत्वैकत्व।

२१.
क्रियाकाण्डचूलिका

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दर्शन - बोधवृत्त - समताशीलक्षमाद्यैर्घनैः
संकेताश्रयवज्जिनेश्वर भवान् सर्वैर्गुणैराश्रितः।
मन्ये त्वय्यवकाशलब्धिरहितैः सर्वत्र लोके वयं
संग्राह्या इति गर्वितैः परिहृतो दोषैरशेषैरपि॥१॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेश! निविड जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, समता, शील और क्षमा आदिक समस्त गुण हैं। उन्होंने संकेत के घर के समान आपका आश्रय किया है। इसीलिए आपमें जिन्होंने स्थान को नहीं पाया है और जो समस्त लोक में हम संग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) हैं इस प्रकार के अभिमान से संयुक्त हैं ऐसे समस्त दोषों ने, आपको छोड़ दिया है, ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे जिनेन्द्र! आपमें जो समस्त गुण ही गुण दिखते हैं और दोष एक भी नहीं दिखता उसका कारण यही मालूम पड़ता है कि समस्त गुणों ने पहले से ही आपस में सलाहकर आपको स्थान बना लिया और पीछे उनके विरोधी जो दोष हैं उन्होंने आपमें स्थान को नहीं पाया तब उन दोषों को इस बात का अभिमान उत्पन्न हुआ कि हम समस्त संसार में फैले हुए हैं और समस्त संसार के ग्रहण करने योग्य हैं यदि केवल जिनेन्द्र में हमको आश्रय नहीं मिला और उन्होंने हमको ग्रहण नहीं किया तो हमारा कोई भी नुकसान नहीं। इसीलिए इस प्रकार के अभिमान से आपको उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया।

(वसंततिलका)

यस्त्वामनंतगुणमेकविभुं त्रिलोक्याः स्तौति प्रभूतकवितागुणगर्वितात्मा।
आरोहति द्रुमशिरः स नरो नभोऽन्तं गन्तुं जिनेन्द्र मति विभ्रमतो बुधोऽपि॥२॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आप तो अनन्तगुणों के भंडार हैं और तीनों लोक के एक स्वामी हैं ऐसा समझकर भी यदि प्रचुर जो कविता का गुण उससे जिसकी आत्मा अत्यन्त गर्व से सहित है अर्थात्

जो कविता चातुर्य का बड़ा भारी अभिमानी है–ऐसा कोई मनुष्य आपकी स्तुति करे तो समझ लेना चाहिए कि वह बुद्धिमान् भी मनुष्य अपनी बुद्धि के भ्रम से (मूर्खता से) आकाश के अंत को प्राप्त होने के लिए वृक्ष की चोटी पर चढ़ता है ऐसा निस्संदेह मालूम होता है।

भावार्थ–आकाश अनंत है तथा सब जगह पर व्याप्त है इसलिए सैकड़ों वृक्षों की चोटी पर चढ़ने से भी जिस प्रकार उसका अंत नहीं मिल सकता। उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! आप भी अनंत गुणों के भंडार हैं और समस्त जगत् के स्वामी हैं इसलिए आपका स्तवन करना ही अत्यन्त कठिन है यदि कोई मनुष्य अपनी कवित्व शक्ति का अभिमान रखकर आपकी स्तुति करना चाहें तो वह बुद्धिमान् होने पर भी सर्वथा मूर्ख है ऐसा समझना चाहिए।

शक्नोति कर्तुमिह कः स्तवनं समस्तविद्याधिपस्य भवतो विबुधार्चिताङ्घ्रेः।
तत्रापि तज्जिनपते कुरुते जनो यत्तच्चित्तमध्यगतभक्तिनिवेदनाय॥३॥

अर्थ–हे प्रभो! आप समस्त विद्याओं के स्वामी हैं और आपके चरणों की बड़े-बड़े देव अथवा बड़े-बड़े पंडित आकर पूजन करते हैं। इसलिए संसार में आपकी स्तुति करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है तो भी हे जिनेन्द्र! जो लोग आपकी स्तुति करते हैं वे केवल अपने चित्त में प्राप्त जो भक्ति उसके निवेदन करने के लिए ही करते हैं और दूसरा कोई भी कारण नहीं है।

[१]**नामापि देव भवतः स्मृतिगोचरत्वं वाग्गोचरत्वमथ येन सुभक्ति भाजा।**
नीतं लभेत स नरो निखिलार्थसिद्धिं साध्वी स्तुतिर्भवतु मा किल कात्र चिंता॥४॥

अर्थ–हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! जो आपका भक्त मनुष्य आपके नाम को भी स्मरण करता है अथवा आपके नाम को वचन द्वारा कहता भी है उस मनुष्य को भी संसार में समस्त प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है तब आपकी उत्तम रीति से स्तुति हो अथवा ना हो कोई भी चिंता नहीं।

भावार्थ–जो मनुष्य आपकी स्तुति तथा भक्ति करता है वह किसी न किसी लाभ के लिए ही करता है यदि उस भव्य जीव को आपके नाम के स्मरण से अथवा आपके नाम के उच्चारण करने से ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जावें तो चाहे आपकी स्तुति उससे उत्तम रीति से हो या न हो कोई चिंता नहीं।

एतावतैव मम पूर्यत एव देव सेवां करोमि भवतश्चरणद्वयस्य।
अत्रैव जन्मनि परत्र स सर्वकालं न त्वामितः परमहं जिन याचयामि॥५॥

अर्थ–हे जिनेश! इस भव में तथा परभव में मैं आपके दोनों चरणों की सदा काल सेवा करता रहूँ यही मुझे प्राप्ति होवे किन्तु मैं इससे अधिक आपसे कुछ भी नहीं माँगता।

---

१. यह श्लोक ख. पुस्तक में नहीं है मालूम होता है लेखक की कृपा से छूट गया है क्योंकि यह श्लोक प्रकरण से सर्वथा सम्बन्ध रखता है।

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो मोक्षाय वृत्तमपि सम्प्रति दुर्घटं नः।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम्॥६॥

अर्थ—समस्त प्रकार के शास्त्रों के ज्ञान से निश्चय से तत्त्वों का ज्ञान होता है और उन्हीं शास्त्रों से मोक्ष के लिए सम्यक्चारित्र की भी प्राप्ति होती है किन्तु इस पंचमकाल में हमारे लिए वे दोनों मूर्खता के कारण तथा दुर्गंध मय शरीर के कारण अत्यन्त दुर्घट हैं अर्थात् सहसा प्राप्त नहीं हो सकते इसलिए मुझमें जो आपकी भक्ति है वही क्रम से मोक्ष के लिए होवे ऐसी प्रार्थना है।

भावार्थ—यद्यपि मोक्ष के लिए तत्त्वज्ञान की प्राप्ति तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति शास्त्रों से हो सकती है किन्तु इस पंचमकाल में अज्ञानता की अधिकता से तथा असमर्थ और दुर्गंधमय शरीर के कारण न तो तत्त्व ज्ञान ही हम सरीखे मनुष्यों को हो सकता है और न सम्यक्चारित्र ही पल सकता है और मोक्ष को चाहते ही हैं। इसलिए हे जिनेन्द्र! यह विनयपूर्वक प्रार्थना है कि जो मुझमें आपकी भक्ति मौजूद है वही मुझे मोक्ष के लिए होवे।

हरति हरतु वृद्धं वार्धकं कायकान्तिं दधति दधतु दूरं मंदतामिन्द्रियाणि।
भवति भवतु दुःखं जायतां वा विनाशः परमिह जिननाथे भक्तिरेका ममास्तु॥७॥

अर्थ—वृद्धावस्था समस्त शरीर की कांति को नष्ट करती है सो करे तथा समस्त इन्द्रियाँ बहुत काल तक मंद हो जाती हैं सो होवें और संसार में दुख होता है सो भी हो, तथा विनाशभी हो किन्तु जिनेन्द्र भगवान् में जो मेरी भक्ति है वह सदा रहे ऐसी प्रार्थना है।

भावार्थ—वृद्धावस्था में चाहे मेरे समस्त शरीर की कांति नष्ट हो और मेरी समस्त इंद्रिया भी शिथिल होवें तथा मुझे दुख भी भोगना पड़े और मेरा मरण भी हो जावे तो भी जो जिनेन्द्र भगवान् में मेरी भक्ति है वह सदा स्थिर रहे यह विनय से प्रार्थना है।

अस्तु त्रयं मम सुदर्शनबोधवृत्तसम्बन्धि यांतु च समस्तदुरीहितानि।
याचे न किञ्चिदपरं भगवन् भवन्तं नाप्राप्तमस्ति किमपीह यतस्त्रिलोक्याम्॥८॥

अर्थ—हे प्रभो! इस संसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी जो त्रयी है वह मेरे होवे तथा मेरे समस्त पाप नष्ट हो जावें बस यही मैं आपसे याचना करता हूँ किन्तु इससे भिन्न दूसरी वस्तु, मैं नहीं माँगता क्योंकि संसार में इनसे भिन्न ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो गई हो।

भावार्थ—हे जिनेश! मैं इस संसार में बड़ी से बड़ी ऋद्धिधारी देव भी हो चुका तथा राजा भी हो चुका और भी मैंने अनेक विभूतियाँ प्राप्त कर लीं किन्तु अभी तक मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई है और मेरे पाप भी अभी नष्ट नहीं हुए हैं। इसलिए मैं यह आपसे याचना करता हूँ कि मुझे इन तीनों की प्राप्ति हो जावे तथा समस्त कर्म मेरे नष्ट हो जावें और इनसे

अधिक मैं आपसे कुछ भी नहीं माँगता क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि से भिन्न वस्तु का माँगना बिना प्रयोजन का है।

(वसंततिलका)

धन्योऽस्मि पुण्यनिलयोऽस्मि निराकुलोऽस्मि शांतोस्मि नष्टविपदस्मि विदस्मि देव।
श्रीमज्जिनेन्द्र भवतोऽङ्घ्रियुगं शरण्यं प्राप्तोस्मि चेदहमतीन्द्रियसौख्यकारि॥९॥

अर्थ—हे श्री जिनेन्द्र! जो सुख अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों से नहीं हो सकता है उस सुख को करने वाले यदि मुझे संसार में आपके दोनों चरण प्राप्त हो गये तो हे देव! मैं अपने को धन्य हूँ, पुण्यवान् हूँ, समस्त प्रकार की आकुलताओं से रहित हूँ, शांत हूँ तथा सब प्रकार की आपत्तियों से भी रहित हूँ और ज्ञानी हूँ ऐसा भलीभाँति समझता हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! यदि संसार में जीवों को अलभ्य हैं तो अतीन्द्रिय सुख के करने वाले आपके चरण कमल ही हैं और तथा ज्ञानी हूँ ऐसा मैं अपने को मानता हूँ।

रत्नत्रये तपसि पंक्तिविधे च धर्मे मूलोत्तरेषु च गुणेष्वथ गुप्तिकार्ये।
दर्पात् प्रमादात् उतागसि मे प्रवृत्ते मिथ्यास्तु नाथ जिनदेव तव प्रसादात्॥१०॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेश! सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में, तप में, दश प्रकार के धर्म में तथा मूलगुण और उत्तर गुणों में और तीन प्रकार की गुप्तियों में जो कुछ अभिमान से अथवा प्रमाद से मुझे अपराध लगा हो सो हे जिनदेव! हे नाथ! आपके प्रसाद से वह मेरा अपराध सर्वथा मिथ्या हो ऐसी प्रार्थना है।

मनोवचोऽङ्गैः कृतमङ्गिपीडनं प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम॥११॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! प्रमाद से अथवा अभिमान से जो मैंने मन-वचन-काय से जीवों को पीड़ा दी है अथवा दूसरों से मैंने दिलवाई है वा जीवों को पीड़ा देने वाले दूसरे जीवों को मैंने अच्छा कहा है इनसे पैदा हुआ वह समस्त पाप मेरा मिथ्या हो।

(शार्दूलविक्रीडित)

चिंतादुष्परिणामसंततिवशादुन्मार्गगाया गिरः
कायात्संवृतिवर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया।
तन्नाशं व्रजतु प्रभो जिनपते त्वत्पादपद्मस्मृते
रेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं नास्मिन् समर्था भवेत्॥१२॥

अर्थ—हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! चिंता से खोटे परिणामों की संतति से तथा खोटे मार्ग में गमन करने वाली वाणी से और संवर रहित शरीर से जो मैंने नाना प्रकार के कर्मों का उपार्जन किया है वे समस्त कर्म आपके चरण कमलों के स्पर्श से सर्वथा नाश को प्राप्त होवें क्योंकि आपके दोनों चरण कमलों

की जो स्मृति है वह निश्चय से मोक्ष फल को देने वाली है इसलिए वह पाप कर्मों के नाश करने में क्यों नहीं समर्थ होगी?

भावार्थ—हे जिनेश! मैंने खोटे पदार्थों की चिंता से तथा खोटे परिणामों से, कुत्सित वचनों से और संवर से रहित शरीर से अनेक प्रकार के कर्मों का संचय किया है किन्तु हे जिनेन्द्र! अब उन कर्मों के नाश का उपाय आपके दोनों चरण कमलों की स्मृति ही है। अत: उससे ये मेरे समस्त पाप नष्ट हो जावें क्योंकि आपके दोनों चरण कमलों की स्मृति में जब जीवों को मोक्षरूपी फल के देने की शक्ति मौजूद है तब क्या वह स्मृति इन पाप कर्मों के नाश में समर्थ नहीं हो सकती है, अवश्य ही हो सकती है।

(वसन्ततिलका)

वाणी प्रमाणमिह सर्वविदस्त्रिलोकीसद्मन्यसौ प्रवरदीपशिखासमाना।
स्याद्वादकांतिकलिता नृसुराहिवंद्या कालत्रये प्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वा॥१३॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ देव की वाणी स्याद्वादरूपी कांति से संयुक्त है और जिसकी मनुष्य, देव, नागकुमार सब ही स्तुति करते हैं तथा जो तीनों कालों में रहने वाले समस्त तत्त्वों को प्रकट करने वाली है अतएव जो तीन लोकरूपी घर में उत्कृष्ट दीपक की शिखा के समान है वही वाणी प्रमाण है।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक कांति से सहित होता है और वंदनीय होता है तथा पदार्थों का प्रकाश करने वाला होता है उसी प्रकार जो सर्वज्ञ की वाणी स्याद्वाद रूपी कांति से सहित है और मनुष्य, देव, नागकुमार आदि सभी से वंदनीय है तथा तीनों कालों में रहने वाले समस्त पदार्थों को प्रकट करने वाली है ऐसी वह त्रिलोक रूपी मकान में उत्कृष्ट दीपक के समान केवली की वाणी ही प्रमाण है।

(पृथ्वी)

क्षमस्व तद्वाणि तज्जिनपतिश्रुतादिस्तुतौ यदूनमभवन्मनोवचनकायवैकल्यत:।
अनेकभवसंभवैर्जडिमकारणै: कर्मभि: कुतोत्र किल मादृशे जननि तादृशं पाटवम्॥१४॥

अर्थ—हे माता सरस्वती! मन, वचन, काय की विकलता से जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति में अथवा शास्त्र की स्तुति में जो कुछ (मुझसे) हीनता हुई है उसको क्षमा करो क्योंकि अनेक भवों में उत्पन्न हुए तथा जड़ता के कारण जो कर्म हैं उनसे मेरे समान मनुष्य में जिनेन्द्र की तथा शास्त्र आदि की भलीभाँति स्तुति करने में कहाँ से इतनी चतुरता आ सकती है?।

भावार्थ—हे मात! अनेक भवों में उत्पन्न तथा जड़ता के कारण घोर कर्मों का प्रभाव मेरी आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ है इसलिए जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति में तथा शास्त्र आदि की स्तुति में जितनी विद्वत्ता होनी चाहिए उतनी विद्वत्ता मुझमें नहीं है। इसलिए मन, वचन, काय की विकलता से जो श्रीजिनेन्द्र की स्तुति में अथवा शास्त्र आदि की स्तुति में हीनता हुई है उसको हे माता सरस्वती! आप

क्षमा करे।

(अनुष्टुप्)

पल्लवोयं क्रियाकांडकल्पशाखाग्रसंगतः।
जीयादशेषभव्यानां प्रार्थितार्थिफलप्रदः॥१५॥

अर्थ—समस्त भव्य जीवों को अभिलषित फलों का देने वाला ऐसा यह क्रियाकांडरूपी कल्पवृक्ष की शाखा में लगा हुआ क्रियाकांड चूलिकाधिकाररूपी जो पल्लव है वह सदा इस लोक में जयवंत रहो।

भावार्थ—जिस प्रकार कल्पवृक्ष की शाखा के अग्रभाग में लगा हुआ पल्लव जीवों को अभीष्ट फलों का देने वाला होता है। उसी प्रकार यह क्रियाकांडरूपी कल्पवृक्ष की शाखा पर लगा हुआ क्रियाकांड चूलिका नामक अधिकार रूपी पल्लव भी भव्य जीवों को अभीष्ट फल का देने वाला है। इसलिए ऐसा वह पल्लव सदा इस लोक में जयवंत रहे।

भुजंगप्रयात

क्रियाकांडसंबंधिनी चूलिकेयं नरैः पठ्यते यैस्त्रिसन्ध्यं च तेषाम्।
वपुर्भारती चित्तवैकल्यतो या न पूर्णा क्रिया सापि पूर्णत्वमेति॥१६॥

अर्थ—जो भव्यजीव इस क्रियाकांड संबंधिनी चूलिका को तीनों काल (प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल) पढ़ता है तथा पढ़ेगा उस भव्य जीव की जो क्रिया मन-वचन-काय की विकलता से पूर्ण नहीं हुई है वह शीघ्र ही पूर्ण हो जाती है।

(पृथ्वी)

जिनेश्वर नमोस्तु ते त्रिभुवनैकचूडामणे गतोऽस्मि शरणं विभो भवभिया भवंतं प्रति।
तदाहतिकृते बुधैरकथि तत्त्वमेतन्मया श्रितं सुदृढचेतसा भवहरस्त्वमेवात्र यत्॥१७॥

अर्थ—हे तीन भुवन के चूड़ामणि जिनेन्द्र! आपके लिए नमस्कार हो। संसार के भय से भीत होकर मैं आपकी शरण को प्राप्त हुआ हूँ। विद्वान् लोगों ने जो संसार की पीड़ा के नाश करने के लिए तत्त्व कहा है उसका मैंने दृढ़चित्त से आश्रय कर लिया है अर्थात् अपने अंतरंग में धारण कर लिया है क्योंकि इस संसार में आप ही समस्त संसार के नाश करने वाले हो।

(वसंततिलका)

अर्हन् समाश्रितसमस्तनरामरादिभव्याब्जनन्दिवचनांशुरवेस्तवाग्रे।
मौखर्यमेतदबुधेन मया कृतं यत् तद्भूरिभक्तिरभसस्थितमानसेन॥१८॥

अर्थ—हे अर्हन्! सभा में बैठे हुए जो समस्त मनुष्य तथा देव आदिक भव्यजीव वे ही हुए

कमल उनको आनंद के देने वाले हैं वचनरूपी किरण जिनके ऐसे आप जिनदेव सूर्य के सामने जो मुझ अपंडित ने वाचालता प्रकट की है वह अत्यन्त गाढ़ भक्ति उसमें स्थित मन से ही की है।

भावार्थ—इस श्लोक से आचार्य ने अपनी लघुता प्रकट की है यथा हे जिनेन्द्र जिस प्रकार सूर्य की किरण कमलों को आनंद देने वाली होती हैं उसी प्रकार आपके वचन रूपी किरण भी समवसरण में बैठे हुए समस्त मनुष्य, देव आदि भव्य जीवों को आनंद देने वाली है इसलिए आप सूर्य के समान हैं। अतः आपके आगे मैं मूर्ख हूँ आपकी स्तुति कर नहीं सकता किन्तु यह जो मैंने कुछ वचनों से वाचालता प्रकट की है वह आपकी भक्ति से प्रेरित मन से ही की है।

इति श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदि पञ्चविंशतिका में क्रियाकाण्डचूलिका नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥२१॥

२२.
एकत्वभावना

(अनुष्टप्)

स्वानुभूत्यैव यद्रम्यं रम्यं यच्चात्मवेदिनाम्।
जल्पे तत्परमज्योतिरवाङ्मानसगोचरम्॥१॥

अर्थ—जो परमतेज स्वानुभव से ही जाना जाता है और जो पुरुष आत्मस्वरूप के जानने वाले हैं उनको मनोहर मालूम पड़ता है और जो तेज न वचन के गोचर है और न मन का विषय भूत है उस परम तेज का मैं वर्णन करता हूँ।

भावार्थ—परम ज्योति से यहाँ पर आत्मरूपी तेज लिया गया है वह आत्म तेज अमूर्त है, (चैतन्यस्वरूप है) इसलिए न तो मूर्तवाणी के गोचर है और न मन के गोचर है और जो आत्मस्वरूप के जानने वालों को अत्यन्त मनोहर मालूम पड़ता है तथा जो स्वानुभव गम्य है ऐसे उस तेज का मैं वर्णन करता हूँ।

एकत्वैकपदप्राप्तमात्मतत्त्वमवैति यः।
आराध्यते स एवान्यैस्तस्याराध्यो न विद्यते॥२॥

अर्थ—जो भव्यजीव एकत्व स्वरूप को प्राप्त ऐसे आत्म तत्त्व को जानता है उस पुरुष की अन्य लोग पूजा आराधना करते हैं किन्तु उसका आराध्य कोई नहीं अर्थात् वह किसी को नहीं पूजता।

एकत्वज्ञो बहुभ्योऽपि कर्मभ्यो न बिभेति सः।
योगी सुनौगतोऽम्भोधिजलेभ्य इव धीरधीः॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार धीर बुद्धि पुरुष उत्तम नाव में बैठा हुआ समुद्र के जल से भय नहीं करता है उसी प्रकार जो योगी एकत्व स्वरूप का जानने वाला है वह बहुत भी कर्मों से अंशमात्र भी भय नहीं करता है।

चैतन्यैकत्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा।
लब्धा कथं कथञ्चिच्चेच्चिंतनीया मुहुर्मुहुः॥४॥

अर्थ—चैतन्य के एकत्व का जो ज्ञान है वह अत्यन्त दुर्लभ है और वह ज्ञान ही मोक्ष का देने वाला है। इसलिए यदि किसी रीति से उस चैतन्य का ज्ञान हो जावे तो बारम्बार उस ज्ञान का चिंतन करना चाहिए।

भावार्थ—जिस समय आत्मा समस्त कर्मों के सम्बन्ध से रहित एक है इस प्रकार आत्मा में एकत्व का ज्ञान होता है उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है क्योंकि मोक्ष का कारण चैतन्य के एकत्व का ज्ञान ही है किन्तु इस चैतन्य के एकत्व का ज्ञान होता बड़ी कठिनता से है। यदि भाग्यवश चैतन्य के एकत्व का ज्ञान हो भी जाये तो विद्वानों को (मोक्ष की प्राप्ति के अभिलाषियों को) चाहिए कि वे बारम्बार इसका चिंतन करें, किन्तु उसके चिंतन करने में प्रमाद न करें।

इसी आशय को लेकर समयसार में भी कहा है—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुबलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्य ॥१॥

अर्थ—जितने भी जीव संसार में मौजूद हैं उन सबने प्रायः काम, भोग सम्बन्धी कथा तो सुनी है तथा उसका परिचय और अनुभव भी किया है इसलिए काम, भोग सम्बन्धी कथा उनके लिए सुलभ है, किन्तु एकत्वविभक्त आत्मा का उनको कभी भी ज्ञान नहीं हुआ है इसलिए केवल उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे एकत्वविभक्त आत्मा की प्राप्ति के लिए उद्योग करें।

मोक्ष एव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः।
संसारेऽत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत्॥५॥

अर्थ—साक्षात् यदि सुख है तो मोक्ष में ही है और उस सुख को मोक्षाभिलाषी ही सिद्ध कर सकते हैं। इस संसार में साक्षात् सुख नहीं है और जो है भी वह निश्चय से सुख नहीं दुख ही है।

भावार्थ—बहुत से मूर्ख मनुष्य इन्द्रियों से उत्पन्न सुख को ही साक्षात् सुख समझते हैं किन्तु वह साक्षात् सुख नहीं क्योंकि वह अनित्य है तथा परिणाम में दुख का देने वाला है किन्तु वास्तविक सुख मोक्ष में ही है क्योंकि वह नित्य है और निर्विकल्प है। उस सुख को जो मनुष्य मोक्ष के अभिलाषी हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं। इसलिए मोक्षाभिलाषियों को चाहिए कि वे उस सुख के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करें।

किञ्चित्संसारसंबंधि बंधुरं नेति निश्चयात्।
गुरूपदेशतोऽस्माकं निःश्रेयसपदं प्रियम्॥६॥

अर्थ—संसार सम्बन्धी कोई भी वस्तु निश्चय से हमको प्रिय नहीं है किन्तु श्रीगुरु के उपदेश से हमको मोक्षपद ही प्रिय है।

भावार्थ—अनेक मनुष्य संसार में स्त्री, पुत्र, मित्र, सुवर्ण आदि पदार्थों को प्रिय मानते हैं किन्तु वे निश्चय से हमको प्रिय नहीं हैं क्योंकि वे दुख के देने वाले हैं यदि एक प्रिय है तो श्रीगुरु के उपदेश से जिसका स्वरूप जाना गया है ऐसा मोक्ष ही प्रिय है।

मोहोदयविषाक्रान्तमपि स्वर्गसुखं चलम्।
का कथाऽपरसौख्यानामलं भवसुखेन मे॥७॥

अर्थ—मोह का उदय वही हुआ विष उससे व्याप्त यदि स्वर्ग सुख भी संसार में विनाशीक है तब स्वर्ग से भिन्न जितने भी सुख हैं उनकी क्या कथा है अर्थात् वे तो अवश्य ही विनाशीक हैं। इसलिए मुझे संसार सम्बन्धी सुख नहीं चाहिए।

भावार्थ–समस्त मनुष्यों का यह सिद्धान्त है कि संसार में सबसे उत्तम सुख स्वर्ग का सुख है किन्तु यह उन मनुष्यों का भ्रम है क्योंकि मोहोदय रूप विष से व्याप्त वह स्वर्ग सुख भी चलायमान तथा विनाशीक हैं और जब स्वर्ग सुख ही चलायमान तथा विनाशीक है तब और सुख तो अवश्य ही विनाशीक है। इसलिए मुझे संसार के सुख से कोई प्रयोजन नहीं।

[१]लक्ष्यीकृत्य सदात्मानं शुद्धबोधमयं मुनिः।
आस्ते यः [२]सुमतिश्चात्र सोप्यमुत्र चरन्नपि॥८॥

अर्थ—श्रेष्ठ बुद्धि का धारक जो मुनि इस भव में निर्मल सम्यग्ज्ञान स्वरूप तथा श्रेष्ठ आत्मा को लक्ष्य कर रहता है वह परभव में गया हुआ भी इसी प्रकार आत्मा को लक्ष्य कर रहता है।

भावार्थ—आत्मा सम्यग्ज्ञान स्वरूप है तथा अति श्रेष्ठ है इसलिए जो उत्तम बुद्धि का धारक मुनि इस भव में इस प्रकार के आत्मा को लक्ष्य कर रहता है परभव में गये हुए भी उस मुनि का लक्ष्य आत्मा में वैसा ही बना रहता है। इसलिए मुनियों को चाहिए कि वे इसी प्रकार आत्मा में लक्ष्य रखें।

वीतरागपथे [३]स्वस्थः प्रस्थितो मुनिपुंगवः।
तस्य मुक्ति सुखप्राप्तेः कः प्रत्यूहो जगत्त्रये॥९॥

अर्थ—अपने आत्मस्वरूप में तिष्ठने वाले जिस उत्तम मुनि ने वीतराग मार्ग में गमन किया है उस मुनि को मोक्ष की प्राप्ति में तीनों लोक में कोई भी विघ्न नहीं है।

भावार्थ—जब तक मुनि वीतराग मार्ग में गमन नहीं करता तब तक तो उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसके लिए मोक्ष की प्राप्ति में बहुत से विघ्न उपस्थित हो जाते हैं किन्तु जो मुनि वीतराग मार्ग में गमन करने वाले हैं उनको मोक्ष सुख की प्राप्ति में तीनों लोकों में किसी प्रकार का विघ्न आकर उपस्थित नहीं होता। इसलिए मोक्ष सुख के अभिलाषी मुनियों को वीतराग मार्ग में

---

१. क.पुस्तक में 'लक्ष्मीकृत्य' यह भी पाठ है। २. ख. पुस्तकमें 'समितिश्वत्र' यह भी पाठ है। ३. क. पुस्तक में 'स्वच्छ' यह भी पाठ है।

ही स्थित रहना चाहिए।

इत्येकाग्रमना नित्यं भावयन् भावनापदम्।
मोक्षलक्ष्मीकटाक्षालिमालापद्मश्च जायते॥१०॥

अर्थ—जो मुनि इस प्रकार एक चित्त हो कर सदा ऐसी भावना करता रहता है वह मुनि मोक्ष रूपी लक्ष्मी उसके जो कटाक्ष वे ही हुए अलि माला (भ्रमर समूह) उसके लिए कमल के समान होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कमल पर स्वयं भौंरे आकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार जो मुनि उपर्युक्त भावना को करने वाले हैं उन मुनियों के ऊपर मुग्ध होकर स्वयं मोक्ष रूपी लक्ष्मी अपने कटाक्ष पातों को करती है अर्थात् वे मुनि शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए मुनियों को चाहिए कि वे सदा ऐसी ही भावना करते रहें।

[१]एतद्धर्मफलं धर्मः स चेदस्ति ममामलः।
आपद्यपि कुतश्चिंता मृत्योरपि कुतो भयम्॥११॥

अर्थ—इस मनुष्य भव का फल धर्म है यदि मेरे वह निर्मल धर्म मौजूद हैं तो आपत्ति के आने पर भी मुझे चिंता नहीं और न मुझे मरण से ही भय है।

भावार्थ—जब तक निर्मल धर्म की प्राप्ति नहीं होती तब तक तो आपत्ति में चिंता रहती है तथा जन्म, मरण से भी भय रहता है किन्तु यदि इस मनुष्य भव का फल निर्मल धर्म मेरे पास मौजूद है तो मुझे आपत्ति में किसी प्रकार की चिंता नहीं हो सकती है और न मुझे जन्म-मरण से भय हो सकता है।

इति श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिका में
एकत्वभावना नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥२२॥

---

१. एतज्जन्मफलं।

२३.
परमार्थविंशतिः

(शार्दूलविक्रीडित)

मोहद्वेषरतिश्रिता विकृतयो दृष्टाः श्रुताः सेविताः
बारम्बारमनंतकालविचरत्सर्वाङ्गिभिः संसृतौ।
अद्वैतं पुनरात्मनो भगवतो [१]दुर्लक्ष्यमेकं परं
बीजं मोक्षतरोरिदं विजयते भव्यात्मभिर्वंदितम्॥१॥

अर्थ—संसार में अनंतकाल से भ्रमण करते हुए प्राणियों ने मोह, द्वेष, राग के आश्रित जो विकार हैं उनको देखा है, सुना है तथा उनको अनुभव भी किया है किन्तु भगवान् आत्मा के अद्वैत को न देखा है और न सुना है तथा उसका अनुभव भी नहीं किया है। इसलिए कठिन रीति से देखने योग्य तथा एक और उत्कृष्ट तथा भव्य जीवों से सदा वंदित ऐसा यह भगवान् आत्मा का अद्वैत इस लोक में जयवंत है।

भावार्थ—मोह, राग–द्वेष आदि कर्मों का विकार समस्त संसारी प्राणियों के साधारण रीति से पाये जाते हैं इसलिए जो जीव अनंत काल से संसार में भ्रमण करने वाले हैं उन्होंने अनेक बार इन मोह विकारों को देखा है तथा सुना है और इनका अनुभव भी किया है किन्तु अभी तक कर्मों से रहित आत्मा का अनुभव नहीं किया है। इसलिए दुर्लक्ष्य कठिन रीति से देखने योग्य तथा एक, उत्कृष्ट और मोक्षरूपी वृक्ष का बीज तथा जिसकी भव्य जीव सदा स्तुति करते रहते हैं ऐसा वह आत्मा का अद्वैत (कर्म रहित आत्मा) सदा इस लोक में जयवंत है।

अंतर्बाह्यविकल्पजालरहितां शुद्धैकचिद्रूपिणीं
वन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम्।
यत्रानंतचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं
न प्राप्नोति जरादिदुस्सहशिखो जन्मोग्रदावानलः॥२॥

---

१. क. पुस्तक में ''दुर्लक्षम्' यह भी पाठ है।

अर्थ—जो स्वस्थता अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के विकल्पों से रहित है तथा शुद्ध एक चैतन्यस्वरूप को धारण करने वाली है और परमात्मा से प्रीति कराने वाली है तथा कृतकृत्य है ऐसी उस स्वस्थता को नमस्कार करता हूँ क्योंकि जिस अनंत विज्ञानादि चतुष्टय स्वस्थता रूपी अमृत नदी के मध्य में रहे हुए आत्मा को वृद्धावस्था आदि दुस्सह ज्वालाओं को धारण करने वाली जन्म रूपी भयंकर अग्नि प्राप्त ही नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम जल से भरी हुई नदी के भीतर स्थित पदार्थ का भयंकर ज्वाला को धारण करने वाली भयंकर अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती उसी प्रकार जिस अनंतचतुष्टय स्वरूपी नदी के मध्य में प्रविष्ट आत्मा का जरा आदि दुस्सह ज्वालाओं को धारण करने वाली भी भयंकर जन्म रूपी अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती अर्थात् जिस स्वस्थता को (आत्मस्वरूप के अनुभवपने की) प्राप्ति से आत्मा जन्म-मरण आदि से रहित हो जाता है और जो शुद्ध, एक चैतन्यस्वरूप को धारण करने वाली है तथा परमात्मा से स्नेह कराने वाली तथा कृतकृत्य है ऐसी उस स्वस्थता को मैं नमस्कार करता हूँ।

एकत्वस्थितये मतिर्यदनिशं संजायते मे तया-
प्यानंदः परमात्मसंन्निधिगतः किञ्चित्समुन्मीलति।
किंचित्कालमवाप्य सैव सकलैः शीलैर्गुणैराश्रितां
तामानंदकलां विशालविलसद्बोधां करिष्यत्यसौ॥३॥

अर्थ—जो निरंतर मेरी बुद्धि एकत्व स्थिति की ओर जाती है उससे भी मुझे परमात्मा सम्बन्धी कुछ-कुछ आनंद उत्पन्न होता है यदि वही बुद्धि कुछ काल तक समस्त शील आदि उत्तम गुणों से सहित होकर रहेगी तो अवश्य ही विशाल तथा देदीप्यमान है ज्ञान जिसमें, ऐसी उस आनंद की कला को प्राप्त करेगी।

भावार्थ—जब मुझे एकत्व स्थिति की ओर बुद्धि के जाने से ही परमात्मा सम्बन्धी कुछ ज्ञान होता है तब यदि मेरी बुद्धि कुछ काल तक शील आदि गुणों से विशिष्ट रहेगी तो अवश्य ही परमात्मा के आनंद को प्राप्त होगी इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा
प्रेमाङ्गेपि न मेस्ति सम्प्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः।
संयोगेन यदत्र कष्टमभवत्संसारचक्रे चिरं
निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते॥४॥

अर्थ—मेरे आश्रित जो मित्र हैं न तो मुझे उनसे कुछ काम है और न मुझे दूसरे से भी काम है और मुझे अपने शरीर में भी प्रेम नहीं इस समय मैं अकेला ही सुखी हूँ क्योंकि मुझे संसाररूपी चक्र से, मित्र आदि के संयोग से कष्ट हुआ था इसलिए मैं निश्चय से उदासीन हूँ और मुझे अब एकान्त

स्थान ही प्रिय है।

भावार्थ—जब तक मेरा मित्र, स्त्री, पुत्र आदि पर पदार्थों से सम्बन्ध रहा तब तक मुझे नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ा। इसलिए अब मुझे उन मित्र तथा स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों से कुछ भी काम नहीं है किन्तु मैं अब सर्वथा उदासीन हूँ और मुझे एकांत ही अच्छा लगता है।

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत्
सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं सदेतत् परम्।
यच्चान्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकायादि वा
श्रुत्वा शास्त्रशतानि सम्प्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते॥५॥

अर्थ—जो जानता है वही सदा देखता है और जो चैतन्यस्वरूप को नहीं छोड़ता है वह मैं ही हूँ तथा अन्य पदार्थ मेरा कुछ भी नहीं है और यही समीचीन तत्त्व है। अन्य जो क्रोधादिक तथा शरीर आदिक हैं वे समस्त कर्मों से उत्पन्न हुए हैं इसलिए सैकड़ों शास्त्रों को सुनकर मन में यही सिद्धान्त स्थित है।

भावार्थ—मैंने सैकड़ों शास्त्रों का अवलोकन किया है। इसलिए मेरे मन में वह सिद्धान्त स्थिर हो गया है कि जो जानता है वही देखता है और चैतन्यस्वरूप को नहीं छोड़ता है वह मैं ही हूँ और संसार में दूसरा कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और ये जो क्रोध आदि तथा शरीर आदिक कार्य हैं वे समस्त कर्मों से पैदा हुए हैं।

हीनं संहननं परीषहसहं नाभूदिदं साम्प्रतं
काले दुःखमसंज्ञकेऽत्र यदपि प्रायो न तीव्रं तपः।
कश्चिन्नातिशयस्तथापि यदसावार्तं हि दुष्कर्मणा
मंतः शुद्धचिदात्मगुप्तमनसः सर्वं परं तेन किम्॥६॥

अर्थ—दुःखम है नाम जिसका ऐसे इस पंचमकाल में संहनन हीन होता है इसीलिए इस समय वह संहनन परीषहों का सहने वाला भी नहीं होता है और प्रायः करके तीव्र तप भी नहीं हो सकता है तथा किसी प्रकार का अतिशय भी नहीं होता और मैं दुष्कर्मों से पीड़ित हूँ इसलिए अंतरंग में शुद्ध जो चैतन्यस्वरूप उससे गुप्त मन के धारी मुझसे समस्त पदार्थ पर हैं मुझे उन पर पदार्थों से क्या प्रयोजन है?।

भावार्थ—जिस समय चतुर्थकाल की प्रवृत्ति थी उस समय संहनन उत्तम था और वह संहनन समस्त परीषहों का सहन करने वाला था और उस समय घोर तप भी धारण किया जा सकता था तथा अनेक प्रकार के अतिशय भी प्रकट होते थे, इसलिए उस समय दुष्कर्मों की पीड़ा का भय नहीं था किन्तु इस पंचमकाल में न तो उत्तम संहनन है और इसीलिए वह संहनन परीषहों के सहन करने में

समर्थ भी नहीं है इस काल में घोर तप भी धारण नहीं किया जाता है तथा किसी प्रकार का अतिशय भी प्रकट नहीं होता और दुष्कर्म, दुख बराबर देते ही हैं। इसलिए अंतरंग में शुद्ध ऐसे चैतन्यस्वरूप से गुप्त मन को धारण करने वाले मुझसे समस्त पदार्थ पर हैं तथा उनसे मुझे किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं है यही मुझे विचारना चाहिए।

सदृग्बोधमयं विहाय परमानंदस्वरूपं परं
ज्योतिर्नान्यदहं विचित्रविलसत्कर्मैकतायामपि।
कार्ष्ण्ये कृष्णपदार्थसन्निधिवशाज्जाते मणौ स्फाटिके
यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्॥७॥

अर्थ—नाना प्रकार के विद्यमान जो कर्म उनकी एकता होने पर भी मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान स्वरूप और परमानंदस्वरूप तथा उत्कृष्ट तेज के धारी आत्मा को छोड़कर भिन्न नहीं हूँ अर्थात् आत्मस्वरूप ही हूँ क्योंकि काले पदार्थ के सम्बन्ध से स्फटिकमणि के काले होने पर भी वह कृष्णता उससे भिन्न ही है और विकार जो संसार में होता है वह दो पदार्थों द्वारा किया हुआ ही होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार अत्यन्त निर्मल स्फटिकमणि के पास कोई चीज काले वर्ण की रख दी जावे तो यद्यपि उस काले पदार्थ के सम्बन्ध से स्फटिकमणि काली हो जाती है तो भी वह कालिमा उस स्फटिकमणि से भिन्न ही है उसका स्वरूप नहीं किन्तु उसका स्वच्छता आदिक ही स्वरूप है उसी प्रकार यद्यपि कर्म तथा आत्मा नीर-क्षीर के समान अभिन्न मालूम पड़ते हैं तो भी मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानस्वरूप तथा परमानंदस्वरूप और उत्कृष्ट तेज के धारी आत्मा से भिन्न नहीं हूँ किन्तु उस आत्मस्वरूप ही हूँ।

इसी आशय को लेकर समयसार में भी कहा है–

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाःस्यु दृष्टमेकं परं स्यात्॥१॥

अर्थ—इस पुरुष के रूप, रस, गंध आदिक तथा राग, द्वेष, मोह आदिक जितने भी भाव हैं समस्त भिन्न हैं। इसलिए जो पुरुष अंतरंग तत्त्व का देखने वाला है उसके दृष्टिगोचर ये कोई भाव नहीं होते किन्तु उसके दृष्टिगोचर वह प्रधान तेज ही होता है।

आपत्सापि यतेः परेण सह यः संगो भवेत् केनचित्
सापत्सुष्ठु गरीयसी पुनरहो यः श्रीमतां संगमः।
यत्तु श्रीमदमद्यपानविकलैरुत्तानितास्यैर्नृपैः
सम्पर्कःसमुमुक्षुचेतसि सदा मृत्योरपि क्लेशकृत्॥८॥

अर्थ—यति का किसी दूसरे पदार्थ के साथ जो संयोग होता है वह एक प्रकार की आपत्ति है और उसी यति का श्रीमानों के साथ संगम हो जावे तो बड़ी भारी आपत्ति है और जो पुरुष लक्ष्मी के मदरूपी

मदिरा से मत्त हो रहे हैं और जिनके मुख ऊँचे हैं ऐसे राजाओं के साथ सम्बन्ध हो जावे तो वह सम्बन्ध मोक्षाभिलाषी के चित्त में मरण से भी अधिक दुख का देने वाला है।

भावार्थ—यह बात अनुभव सिद्ध है कि मनुष्यों को जो कुछ कष्ट होते हैं वे पर के सम्बन्ध से ही होते हैं और यतियों का यतिपना तो पर के सम्बन्ध से रहित होने से ही होता है क्योंकि यदि यतियों का सामान्य लोगों के साथ भी सम्बन्ध हो तो उनको दुख भोगना पड़ता है और यदि उन्हीं यतीश्वरों का श्रीमान् मनुष्यों के साथ सम्बन्ध हो जावे तो उनको घोर आपत्ति का सामना करना पड़ता है और जिस प्रकार मदिरा के पान से मनुष्य मत्त हो जाता है और उन्नत मुख हो जाता है उसी प्रकार राजा, लक्ष्मी का जो घमंड वही हुआ मद्य उसके पीने से मत्त हैं और जिनके मुख ऊपर को चढ़े हुए हैं ऐसे राजाओं के साथ उन मोक्षाभिलाषी यतियोंका सम्बन्ध हो जावे तो उन यतियों के चित्त में वह सम्बन्ध मरण से भी अधिक वेदना का करने वाला होता है। इसलिए जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं उनको संसार में किसी के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए किन्तु अपने आत्मस्वरूप का ही चिंतन करना चाहिए।

स्निग्धा मा मुनयो भवंतु गृहिणो यच्छन्तु मा भोजनं
मा किञ्चिद्धनमस्तु मा वपुरिदं रुग्वर्जितं जायताम्।
नग्नं मामवलोक्य निन्दतु जनस्तत्रापि खेदो न मे
नित्यानंदपदप्रदं गुरुवचो जागर्ति चेच्चेतसि॥९॥

अर्थ—सदा आनंद स्थान को देने वाला ऐसा श्रीगुरु का वचन यदि मेरे चित्त में प्रकाशमान है तो चाहे मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति मति करो और भले ही गृहस्थ लोग मुझे भोजन मत दो और मेरे पास धन भी चाहे कुछ न हो और मेरा शरीर भी भले ही रोग से रहित मत हो और लोग मुझे नग्न देखकर चाहे मेरी निन्दा भी करे तो भी मुझे किसी प्रकार का खेद नहीं।

भावार्थ—जिस समय मेरे मन में सदा आनंद का देने वाला गुरु का वचन प्रकाशमान न हो उस समय यदि मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति न करें तथा श्रावक लोग मुझे भोजन न देवें और मेरे पास धन न होवे तथा शरीर भी नीरोग न होवे तथा मुझे नग्न देखकर लोग मेरी निन्दा करें तो मुझे खेद हो सकता है किन्तु यदि मेरे मन में श्रीगुरु का उपदेश विराजमान है तो मुझे उपर्युक्त कोई भी बात खेद के करने वाली नहीं हो सकती क्योंकि श्रीगुरु का उपदेश सदा आनंद स्थान का देने वाला है।

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यन्ति सर्वेऽगिङ्नः।
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो
यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पदम्॥१०॥

अर्थ—जो संसाररूपी वन नाना प्रकार के दुखरूपी हस्ती अथवा अजगर उनसे व्याप्त है और

जिसमें हिंसा, असत्य, चोरी आदिक दोष रूपी वृक्ष मौजूद हैं और जो संसाररूपी वन दुर्गतिरूपी भीलों के स्थान और जो खोटे मार्ग उनसे सहित है ऐसे संसाररूपी वन में सदा समस्त जीव भ्रमण करते रहते हैं किन्तु उसी संसाररूपी वन में उत्तम गुरुओं द्वारा प्रकाशित मार्ग में जो मनुष्य गमन करने वाला है वह मनुष्य समस्त प्रकार के आनंद को करने वाले और उत्कृष्ट, निश्चल और अनुपम ऐसे निर्वाण स्थान को अर्थात् मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार वन नाना प्रकार के हस्ती, अजगर और वृक्ष तथा भिल्लों के घरों से सहित भयंकर मार्गों का स्थान होता है और उसी वन में किसी हितैषी द्वारा बतलाये हुए मार्ग से जो मनुष्य गमन करता है, वह अपने उत्तम अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। उसी प्रकार यह संसार भी वन है क्योंकि इसमें भी नाना प्रकार के दुख रूपी हस्ती मौजूद हैं, यह हिंसा आदिक दोष रूपी वृक्षों का स्थान है तथा दुर्गति रूप भीलों के घरों से सहित है, खोटे भयंकर मार्ग इसमें भी हैं, इसलिए इस प्रकार के संसाररूपी वन में जो मनुष्य उत्तम गुरुओं द्वारा प्रकाशित मार्ग में गमन करता है वह मनुष्य कल्याणों के करने वाले निश्चल उत्कृष्ट तथा अनुपम निर्वाण पुर को प्राप्त होता है।

यत्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं तत-
स्तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं जानन्ति ये योगिनः।
ईदृग्भेदविभावनाश्रितधियां तेषां कुतोहं सुखी
दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि॥११॥

अर्थ—जीवों में जो सुख तथा दुख हैं वे समस्त कर्मों के कार्य हैं इसलिए कर्म ही हैं और ये कर्म आत्मा से भिन्न हैं इस बात को जो योगीश्वर जानते हैं, इस प्रकार की भेद भावना के भाने वाले योगीश्वरों के मन में, मैं सुखी हूँ और मैं दुखी हूँ इस प्रकार विकल्प सम्बन्धी जरा सी भी मलिनता स्थान को कैसे प्राप्त कर सकती है?

भावार्थ—जब तक योगियों को इस बात का भलीभाँति ज्ञान नहीं होता कि सुख, दुख आदिक जो कार्य हैं वे कर्मों के कार्य हैं इसलिए कर्म ही हैं और आत्मा कर्मों से सर्वथा भिन्न है तभी तक उनके मन में मैं सुखी हूँ तथा दुखी हूँ इस प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं किन्तु जिस समय योगियों को इस प्रकार का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है कि कर्म तथा उनके सुख-दुख आदि कार्य सर्व आत्मा से भिन्न हैं उस समय उनके मन में कभी भी मैं सुखी हूँ तथा दुखी हूँ इस प्रकार के मलिन विकल्प नहीं होते हैं। इसलिए योगियों को चाहिए कि वे कर्म तथा आत्मा के भेद को भलीभाँति जानकर मैं सुखी हूँ तथा दुखी हूँ इस प्रकार के मलिन विकल्पों से सर्वदा विमुक्त रहें।

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे
सर्वं भक्ति परा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात्।

अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण-
स्फारीभूतमतिप्रबंधमहसामात्मैव तत्त्वं परम्॥१२॥

अर्थ—जब तक हम व्यवहार मार्ग में स्थित हैं तभी तक हम भक्ति में तत्पर होकर देव को, देव की प्रतिमा को, गुरु को, मुनिजनों को तथा सर्व शास्त्र आदि को मानते हैं किन्तु निश्चयनय से तो एकत्व के आश्रय से प्रकट हुआ जो चैतन्यरूपी गुण उससे प्रगल्भ जो बुद्धि उस बुद्धि सम्बन्धी तेज के धारी हमारे केवल एक आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व है किन्तु इससे भिन्न कोई भी तत्त्व नहीं है।

भावार्थ—जब तक हम व्यवहार मार्ग में स्थित हैं तब तक तो हम भक्ति वश होकर देव को भी मानते हैं देवकी प्रतिमा को भी नमस्कार करते हैं तथा गुरु और मुनि जनों को भी मानते हैं शास्त्र आदि की भी भलीभाँति भक्ति करते हैं किन्तु जिस समय हम शुद्ध निश्चय मार्ग का अवलंबन करते हैं उस समय आत्मा ही हमारा उत्कृष्ट तत्त्व है क्योंकि उस समय एकत्व की भावना से प्राप्त हुई जो बुद्धि की प्रौढ़ता उससे देव आदि का कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता।

वर्षं हर्षमपाकरोतु तुदतु स्फीता हिमानी तनुं
धर्मः शर्महरोस्तु दंशमशकं क्लेशाय सम्पद्यताम्।
अन्यैर्वा बहुभिः परीषहभटैरारभ्यतां मे मृति-
र्मोक्षं प्रत्युपदेशनिश्चलमतेनात्रापि किञ्चिद्भयम्॥१३॥

अर्थ—चाहे वर्षा मेरे हर्ष को नष्ट करे और बढ़ा हुआ जो बर्फ का समूह वह भले ही मेरे शरीर को पीड़ा दे और सूर्य का आतप भी मेरे कल्याणों का नाश करने वाला हो और डांस मच्छर भी मुझे दुख देवे तथा और भी जो बचे हुए परीषहरूपी सुभट हैं उनसे भी भले ही मेरा मरण हो जाए तो भी मुझे इनमें किसी से कुछ भी भय नहीं है क्योंकि मेरी बुद्धि मोक्ष के प्रति जो उपदेश उससे निश्चल है।

भावार्थ—परीषह आदि के जय से मोक्ष होता है। ऐसे मोक्ष के लिए श्रीगुरु द्वारा दिये हुए उपदेश से मेरी बुद्धि निश्चल है इसलिए वर्षाकाल में चाहे वर्षा मेरे हर्ष का नाश करे और शरद काल में चाहे बढ़े हुए बर्फ का समूह मेरे शरीर को दुःखित करे और उष्ण काल में सूर्य का आतप भले ही मेरे कल्याणों का नष्ट करने वाला होवे और डांस मच्छर आदिक भी चाहें मुझे दुख देवे और दूसरे-दूसरे बचे हुए सुभटों से भी चाहे मेरी मृत्यु हो जावे तो भी मुझे इनमें से किसी से भी कुछ भय नहीं है।

चक्षुर्मुख्यहृषीककर्षकमयो ग्रामो मृतो मन्यते
[1]चेद्रूपादिकृषिक्षमां बलवता बोधारिणा त्याजितः।
तच्चिंतां न च सोऽपि सम्प्रति करोत्यात्मा प्रभुःशक्तिमान्
यत्किञ्चिद्द्रवितात्र तेन च भवोप्यालोक्यते नष्टवत् ॥१४॥

---

१. चिद्रूपा

अर्थ—आत्मा सर्वशक्तिशाली प्रभु है। इसलिए यह यद्यपि सम्यग्ज्ञान का बैरी जो ज्ञानावरण कर्म (अथवा मोह) है उनमें नेत्र है प्रधान जिसमें ऐसी जो इन्द्रियाँ उन इन्द्रियरूपी किसानों से बना हुआ (इन्द्रियरूपी किसानस्वरूप) जो ग्राम उसको मरा हुआ मानता है तथा उन इन्द्रियरूपी किसानों की जो रूपादि खेती उसकी जो जमीन उससे रहित भी मानता है तो भी उन इन्द्रियों की तथा इन्द्रियों के विषयों की कुछ भी चिंता नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि जो कुछ होने वाला है, वह तो होगा ही। इसलिए वह समस्त जगत् को सर्वथा नष्ट-सा ही समझता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्वशक्तिमान राजा किसी बैरी द्वारा उजड़े हुए अपने गाँव को तथा जमीन को देखकर कुछ भी चिन्ता नहीं करता उसी प्रकार सर्वशक्तिशाली यह आत्मा भी ज्ञानावरणादि द्वारा नेत्रादि इन्द्रियों को नष्ट मानता है तथा रूपादि से रहित भी मानता है तो भी उनकी चिंता नहीं करता क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि जो कुछ होने वाला है वह तो नियम से होता ही है। इसलिए वह समस्त जगत् को नष्ट ही सदा समझता रहता है।

कर्मक्षत्युपशांतिकारणवशात्सद्देशनाया गुरो-
रात्मैकत्वविशुद्धबोधनिलयो निश्शेषसंगोज्झितः।
शश्वत्तद्गतभावनाश्रितमना लोके वसन् संयमी
नावद्येन स लिप्यतेब्जदलवत्तोयेन पद्माकरे॥१५॥

अर्थ—कर्मों के क्षय से तथा कर्मों के उपशम से अथवा गुरु के उत्तम उपदेश से जो संयमी आत्मा के एकत्व से निर्मल ज्ञान का स्थान है तथा समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित है और निरन्तर जिसका मन आत्म सम्बन्धी भावना से सहित है ऐसा वह संयमी संसार में रहता हुआ भी जिस प्रकार सरोवर में कमल का पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार अंश मात्र भी पापों से लिप्त नहीं होता।

भावार्थ—चाहे कमल का पत्ता कितने भी अगाध पानी में क्यों न पड़ा हो तो भी वह जरा भी पानी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जिस संयमी का मन कर्मों के उपशम से अथवा कर्मों के सर्वथा क्षय से वा गुरु के उत्तम उपदेश से आत्मा के एकत्व सम्बन्धी निर्मलज्ञान का धारक है और समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित है और जिसका चित्त सदा आत्म सम्बन्धी भावना से सहित है वह संयमी यद्यपि संसार में भी मौजूद है तथापि समस्त प्रकार के पापों से अलिप्त ही है अर्थात् उसकी आत्मा के साथ किसी प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध नहीं।

गुर्वंघ्रिद्वयदत्तमुक्ति पदवीप्राप्त्यर्थनिर्ग्रंथता-
जातानन्दवशान्ममेन्द्रियसुखं दुःखं मनो मन्यते।
सुस्वादुःप्रतिभासते किल खलस्तावत्समासादितो
यावन्नो सितशर्करातिमधुरा सन्तर्पिणी लभ्यते॥१६॥

अर्थ—गुरु के जो दोनों चरण उनसे दी हुई जो मोक्ष पदवी उसकी प्राप्ति के लिए जो निर्ग्रंथता उससे उत्पन्न हुआ जो आनंद उससे मेरा मन इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ जो सुख है वह दुखी ही है ऐसा मानता है सो ठीक ही है क्योंकि जब तक स्वच्छ तथा अत्यन्त मधुर और तृप्ति करने वाली शर्करा (शक्कर) की प्राप्ति नहीं होती तभी तक खल अत्यन्त मिष्ट मालूम पड़ती है।

भावार्थ—जब तक स्वच्छ अत्यन्त मिष्ट तथा तृप्ति की करने वाली शक्कर की प्राप्ति नहीं होती तभी तक मनुष्य को खल अत्यन्त मिष्ट मालूम पड़ती है किन्तु जिस समय उत्तम मिष्ट शक्कर की प्राप्ति हो जाती है उस समय वह खल जरा भी मिष्ट नहीं मालूम होती उसी प्रकार जब तक जीवों को गुरु के दोनों चरणों से प्रदत्त जो मोक्षरूपी पदवी उसकी प्राप्ति के लिए जो निर्ग्रंथता उससे उत्पन्न हुआ जो आनंद उसका अनुभव नहीं होता तभी तक उनको इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख, सुख मालूम पड़ता है किन्तु जिस समय उस आनंद का अनुभव हो जाता है उस समय इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख, सुख नहीं प्रतीत होता किन्तु वह दुख ही प्रतीत होता है। मुझे उस प्रकार के वचनागोचर आनंद का अनुभव है। इसलिए मुझे इन्द्रियों से उत्पन्न सुख, दुख ही है ऐसा सर्वथा मालूम पड़ता है।

निर्ग्रन्थत्वमुदा ममोज्वलतरध्यानाश्रितस्फीतया
दुर्ध्यानाक्षसुखं पुनः स्मृतिपथप्रस्थाप्यपि स्यात्कुतः।
निर्गत्योद्गतवातबोधितशिखिज्वालाकरालाद्गृहा-
च्छीतां प्राप्य च वापिकां विशति कस्तत्रैव धीमान्नरः ॥१७॥

अर्थ—अत्यन्त निर्मल जो ध्यान उसके आश्रय से अत्यन्त वृद्धिंगत निर्ग्रंथता से पैदा हुआ यदि हर्ष मेरे मौजूद है तो मुझे खोटे ध्यान से उत्पन्न हुआ जो इन्द्रिय सम्बन्धी सुख उसका कैसे स्मरण हो सकता है? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है जो चलती हुई पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्नि की ज्वाला उससे अत्यन्त भयंकर ऐसे घर से निकलकर और अत्यन्त शीत ऐसी बावड़ी को पाकर फिर उसी जाज्वल्यमान अग्नि से भयंकर घर में प्रवेश करेगा?

भावार्थ—अत्यन्त उत्कृष्ट पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्नि की ज्वाला उससे भयंकर घर से निकलकर तथा अत्यन्त निर्मल जल से भरी हुई वावड़ी को पाकर जिस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष फिर से उस जाज्वल्यमान अग्नि से भयंकर मकान में प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार यदि मुझमें अत्यन्त निर्मल जो ध्यान उसके आश्रय से अत्यन्त बढ़ा हुआ ऐसा निर्ग्रंथता से उत्पन्न हुआ आनंद मौजूद है तो मुझे खोटे ध्यान से उत्पन्न हुआ जो इन्द्रिय सम्बन्धी सुख उसका स्मरण नहीं हो सकता है अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुख को मैं सुख नहीं मान सकता।

जायेतोद्गतमोहतोऽभिलषिता मोक्षेपि सा सिद्धिहृत्
तद्भूतार्थपरिग्रहो भवति किं कापि स्पृहालुर्मुनिः।

इत्यालोचनसंगतैकमनसा शुद्धात्मसम्बन्धिना
तत्त्वज्ञानपरायणेन सततं स्थातव्यमग्राहिणा॥१८॥

अर्थ—यदि उत्पन्न हुए मोह से मोक्ष में भी अभिलाषा की जाये तो वह इच्छा मोक्ष को नाश करने वाली ही होती है। इसलिए जो शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करने वाला है वह कहीं भी, कैसी भी इच्छा नहीं करता इसलिए जिस मुनि का मन आलोचना से सहित है और जो शुद्ध आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला है और तत्त्वों के ज्ञान में दत्तचित्त है उस मुनि को चाहिए कि वह समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित ही रहे।

भावार्थ—समस्त कर्म तथा कर्मों के कार्यों का जिस समय सर्वथा नाश हो जाता है उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। इच्छा मोह से उत्पन्न होती है इसलिए वह कर्म का कार्य होने पर भी कर्म ही है इसलिए मोक्ष के विषय में भी किसी मुनि की इच्छा हो जावे तो वह इच्छा मोक्ष का निषेध करने वाली ही है। अत: जो मुनि शुद्ध निश्चय नय के आश्रय करने वाले हैं और मोक्ष के अभिलाषी हैं वे कदापि किसी पदार्थ में जरा भी इच्छा नहीं करते हैं। इसलिए आचार्यवर उपदेश देते हैं कि जिन मुनियों का मन आलोचना से सहित है तथा जो समस्त कर्मों से रहित आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाले हैं अर्थात् कर्म रहित आत्मा का ध्यान करने वाले हैं और जो तत्त्वों के ज्ञान में दत्तचित्त हैं उनको चाहिए कि वे सर्वथा समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित ही रहें अर्थात् किसी पदार्थ में (ममेदं) यह मेरा है ऐसी बुद्धि कदापि न करें।

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मन-
श्चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पंचताम्॥१९॥

अर्थ—सदा आनन्दस्वरूप जो शुद्धात्मा उसके चिंतन होने पर रस जो हैं सो विरस हो जाते हैं और गोष्ठी में जो कथा का कौतूहल है वह नष्ट हो जाता है और समस्त विषय नष्ट हो जाते हैं तथा शरीर में भी अंशमात्र भी प्रीति नहीं रहती और वाणी भी मौन का अवलम्बन कर लेती है और समस्त दोषों के साथ मन भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जब तक मनुष्य निरंतर आनन्द स्वरूप परमात्मा का विचार नहीं करता तब तक उसको रस प्रिय लगते हैं गोष्ठी की कथा का कौतूहल भी उत्तम लगता है और तब तक विषय भी नष्ट नहीं होते तथा शरीर में भी प्रीति बनी रहती है और वाणी भी मौन को धारण नहीं करती तथा समस्त दोष भी मौजूद रहते हैं और मन भी कायम रहता है किन्तु जिस समय उस आनन्दस्वरूप परमात्मा का विचार आकर उपस्थित हो जाता है उस समय रस प्रिय नहीं रहते, गोष्ठी में जो कथा का कौतूहल रहता है वह भी नष्ट हो जाता है विषय भी समस्त किनारा कर जाते हैं शरीर में प्रीति भी नहीं रहती

और वाणी मौन को धारण कर लेती है और किसी प्रकार का दोष भी नहीं रहता तथा दोषों के साथ मन भी सर्वथा नष्ट हो जाता है।

तत्त्वं वागतिवर्ति शुद्धनयतो यत्सर्वपक्षच्युतं
तद्वाच्यं व्यवहारमार्गपतितं शिष्यार्पणे जायते।
प्रागल्भ्यं न तथापि तत्र विवृतौ बोधो न तादृग्विधः
तेनायं ननु मादृशो जडमतिर्मौनाश्रितस्तिष्ठति॥२०॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनय से तो तत्त्व वचन के अगोचर है तथा समस्त प्रकार के पक्षों से (अपेक्षाओं से) रहित है किन्तु व्यवहार मार्ग में आया हुआ वह तत्त्व शिष्यों के बोध के लिए वाच्य (वचन के द्वारा कहने योग्य) होता है तो भी (ग्रन्थकार कहते हैं) कि उस तत्त्व के व्याख्यान के करने में न तो मुझमें भलीभाँति प्रौढ़ता है और न मुझमें उसके वर्णन करने योग्य ज्ञान ही है इसलिए मेरे समान जड़ बुद्धि पुरुष मौन को ही धारण कर लेता है।

भावार्थ—यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से तत्त्व अवाच्य है तथा समस्त प्रकार की अपेक्षाओं से रहित है तो भी वह तत्त्व शिष्यों को बोध कराने के लिए व्यवहार से वाच्य है। वचन से कहा जा सकता है इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं तो भी इस परमार्थ तत्त्व को मैं भलीभाँति वर्णन नहीं कर सकता क्योंकि उस तत्त्व के वर्णन करने में न तो मुझे अपने में प्रौढ़ता ही प्रतीत होती है और न उतना मुझमें ज्ञान ही विद्यमान है। इसलिए मैं अब मौन को ही धारण करता हूँ।

इति श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिका में
परमार्थविंशति नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥२३॥

२४.
शरीराष्टक

(शार्दूलविक्रीडित)

दुर्गंधाशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दु:खाखुभिश्छिद्रितम्।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावह्निना
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते ॥१॥

अर्थ—यह शरीररूपी झोपड़ा दुर्गंध तथा अपवित्र वीर्य आदि धातुरूपी भीतों से बना हुआ है और चाम से ढँका हुआ है तथा विष्टा, मूत्र आदि से भी भरा हुआ है और इसमें क्षुधा आदिक बलवान् दुखरूपी चूहों ने छेदकर रखे हैं और यह अत्यन्त क्लिष्ट है और इसके चारों ओर जरा रूपी अग्नि मौजूद है तो भी मूर्ख जीव इसको स्थिर तथा अत्यन्त पवित्र मानता है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

दुर्गन्धं कृमिकीटजालकलितं नित्यं स्त्रवद्दूरसं
शौचस्नानविधानवारिविहितप्रक्षालनं रुग्भृतम्।
मानुष्यं वपुराहुरुन्नतधियो नाडीव्रणं भेषजं
तत्रान्नं वसनानि पट्टकमहो तत्रापि रागी जन: ॥२॥

अर्थ—दुर्गन्ध मय तथा लट और कीड़ाओं के समूह कर व्याप्त और जिसमें चारों ओर से रक्त, पीब आदि बह रहे हैं और जिसका प्रक्षालन पवित्र जल से किया जाता है और जो नाना प्रकार के रोगों से व्याप्त है और जिसमें औषधि अन्न और वस्त्ररूपी पट्टी है ऐसे मनुष्य के शरीर को उच्च बुद्धि के धारक मनुष्य नाड़ीव्रण (घाव) कहते हैं तो भी बड़े आश्चर्य की बात है ऐसे निकृष्ट शरीर में भी जीव रागी बनते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार घाव अत्यन्त दुर्गन्धमय होता है और नाना प्रकार के लट, कीड़े आदिक से व्याप्त होता है और सदा जिसमें रक्त आदि टपकता रहता है और अत्यन्त शुद्ध जल से धोया जाता

है तथा जिसके ऊपर औषधि लगाई जाती है तथा पट्टी बाँधी जाती है उसी प्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी नाना प्रकार की दुर्गंधों से व्याप्त है तथा इसमें भी नाना प्रकार के कीड़े मौजूद हैं और लोहू, पीव आदिक घृणा के करने वाले रस भी इससे सदा बहते रहते हैं और उत्तम जल से भी इसका स्नान कराया जाता है तथा नाना प्रकार के भयंकर रोगों का भी यह घर है। अन्नरूपी औषधि भी इसके उपयोग में लायी जाती है और वस्त्ररूपी पट्टी भी इस पर बाँधी जाती है परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे निकृष्ट शरीर में भी मनुष्य राग करता है? और इसको खराब नहीं मानता है।

नृणामशेषाणि सदैव सर्वथा वपूंषि सर्वाशुचिभाञ्जि निश्चितम्।
ततः क एतेषु बुधः प्रपद्यते शुचित्वमम्बुप्लुतिचंदनादिभिः॥३॥

अर्थ—मनुष्यों के समस्त शरीर सदा काल सब प्रकार से अपवित्र हैं ऐसा भलीभाँति निश्चित है इसलिए संसार में ऐसा कौन-सा बुद्धिमान् पुरुष होगा जो इस शरीर को स्नान से तथा चंदन से पवित्र करने का प्रयत्न करेगा।

भावार्थ—यदि मनुष्य का शरीर किसी प्रकार से तथा किसी काल में पवित्र होता तब तो स्नानों से तथा चंदनों के लेप से इसका पवित्र करना मनुष्यों का फलप्रद समझा जाता परन्तु यह शरीर तो न किसी प्रकार से शुद्ध हो सकता है और न किसी काल में पवित्र हो सकता है। इसलिए जो मनुष्य वास्तविक रीति से शरीर की दशा को जानने वाले हैं ऐसे वे विद्वान् पुरुष कभी भी स्नान तथा चंदनादि के लेपों से शरीर को शुद्ध बनाने का प्रयत्न नहीं करते।

[1]तिक्तेष्वाकुफलोपमं वपुरिदं नैवोपभोग्यं नृणां
स्याच्चेन्मोहकुजन्मरन्ध्ररहितं शुष्कं तपोघर्मतः।
नांतं गौरवितं तदा भवनदीतीरे क्षमं जायते
तत्तत्त्र नियोजितं वरमथासारं सदा सर्वथा॥४॥

अर्थ—मनुष्यों का शरीर कड़वी तूमड़ी के समान है इसलिए वह सर्वथा उपयोग करने के योग्य नहीं है। यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्मरूपी छिद्रों से रहित होवे और तपरूपी धूप से सूखा हुआ होवे और अंतरंग में अभिमान से सहित न होवे तो यह संसाररूपी नदी से पार करने में समर्थ हो सकता है। इसलिए उस शरीर में उत्कृष्ट चंदन आदि लगाना सदा सर्वथा असार ही है।

भावार्थ—जिस प्रकार तूंबी कड़वी होने के कारण उपभोग योग्य नहीं होती और यदि वही तूंबी छिद्र से रहित होवे तथा धूप से सूखी हुई होवे और अंतरंग में भारी न होवे तो नदी के पार होने में समर्थ होती है उसी प्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी तूंबी के समान कड़वा, दुख का देने वाला है और यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्मरूपी छेदों से रहित होवे, तपरूपी धूप से सूखा हुआ होवे और

---

१. पुस्तक में 'तिक्तस्वाकु' यह भी पाठ है।

अंतरंग में अभिमान से सहित न होवे तो अवश्य ही यह संसाररूपी नदी के पार होने में समर्थ हो सकता है, अन्यथा असार है। इसलिए भव्य जीवों को ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे उनका शरीर मोहादि छिद्रों से रहित होवे और तप सहित होवे तथा अंतरंग में अभिमान से सहित न होवे तभी उनको मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

(मालिनी)

[१]भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि।
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मी:॥५॥

अर्थ—वस्तु के वास्तविक स्वरूप का दिखाने वाला यदि गुरु का वचन मेरे मन में विद्यमान है तो यह मेरा शरीर जैसा रहे वैसा रहे कोई चिंता नहीं क्योंकि मन में विद्यमान उस श्रीगुरु के वचन के अनुभव से ही बात ही बात में असाधारण सर्वोत्तम आनंद को देने वाली तथा अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यदि मन में गुरु का वचन विद्यमान न रहे और उस समय शरीर पुण्य की संचय करने वाली शुभ क्रियाओं में न लगा हो तो उस समय चिंता अवश्य करनी चाहिए और यदि समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का प्रकाश करने वाला गुरु का वचन मन में विद्यमान है तो शरीर चाहे कैसा भी रहे कोई चिंता नहीं क्योंकि उन गुरु के वचन के अनुभव से ही दूसरी जगह पर न पाया जाये ऐसे सर्वोत्तम आनंद को देने वाली तथा अविनाशी मोक्ष रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसलिए जहाँ तक बने वहाँ तक भव्य जीवों को गुरु के वचन में अवश्य ही श्रद्धान रखना चाहिए।

(शार्दूलविक्रीडित)

पर्यन्ते कृमयोऽथ वह्निवशतो भस्मैव मत्स्यादनात्
विष्ठा स्यादथवा वपु: परिणतिस्तस्येदृशी जायते।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि क्षय्येव यत्तत्कृते
क: पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता कष्टा यतो दुर्गति:॥६॥

अर्थ—जिस शरीर की अवस्था ऐसी होती है कि अंत समय में तो लटें पड़ जाती हैं अथवा अग्नि से भस्म हो जाता है और मछली आदिकों के खाने से विष्टारूप में परिणत हो जाता है। नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकार की रसायन आदिक खाने पर भी नष्ट हो जाता है। उस शरीर के लिए ऐसा संसार में कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो पाप करेगा जिस पाप से आगे अनेक प्रकार के दु:खों को देने वाली दुर्गति होवेगी।

भावार्थ—यदि यह शरीर अंत समय में लट आदि कीड़ों से व्याप्त तथा अग्नि से भस्म और

---

१. भवति।

मछली आदि के खाने पर विष्टारूप न होता तथा नित्य और रसायनादि के खाने से विनाशीक न होता तब तो उस शरीर के लिए अनेक प्रकार के पापों का करना कोई खराब नहीं था। यह शरीर तो मरण समय में अनेक प्रकार के कीड़ों से व्याप्त हो जाता है तथा अग्नि से जलकर भस्म हो जाता है और जिस समय मछली आदिक जीव इसको खाते हैं उस समय यह उनकी विष्टारूप में परिणत हो जाता है तथा नित्य भी यह नहीं है और अनेक प्रकार के रसायन आदिकों के खाने पर भी नष्ट हो जाता है फिर ऐसा कौन-सा बुद्धिमान् होगा जो इसके लिए अनेक प्रकार के पापों को संचय करेगा? क्योंकि पापों से अनेक प्रकार के दुखों को देने वाली दुर्गति की आगामी भवों में प्राप्ति होती है।

संसारस्तनुयोग एष विषयो दुःखान्यतो देहिनो
वह्नेर्लोहसमाश्रितस्य घनतो [१]घातो यथा निष्ठुरात्।
त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं युक्त्या महत्या तया
नो भूयोपि ययात्मनो भवकृते तत्सन्निधिर्जायते॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार लोह के आश्रित अग्नि को अत्यन्त कठिन घन से घात (चोट) सहने पड़ते हैं उसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से यह संसार होता है और संसार से जीवों को अनेक प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं। इसलिए जो भव्यजीव मुमुक्षु हैं अर्थात् मोक्ष के अभिलाषी हैं उनको किसी बड़ी भारी युक्ति के साथ इस शरीर का त्याग कर देना चाहिए कि जिससे पुनः इस आत्मा को संसार में भ्रमण कराने के लिए इस शरीर का सम्बन्ध न होवे।

भावार्थ—जिस समय लोह पिंड अग्नि में रख दिया जाता है और जब वह अग्निस्वरूप परिणत हो जाता है उस समय जिस प्रकार उस लोह के पिंड के साथ-साथ उस अग्नि पर भी अत्यन्त कठोर घन के द्वारा अनेक चोटें पड़ती हैं। उसी प्रकार जब तक इस शरीर का सम्बन्ध रहता है तब तक जीवों को नाना प्रकार के दुखों का सामना करना पड़ता है क्योंकि इस शरीर के सम्बन्ध से जीव नाना प्रकार के पापों का उपार्जन करता है। उन पापों से उसको चतुर्गतिरूप संसार में घूमना पड़ता है और संसार में घूमने से उसको अनेक प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि जो मनुष्य मुमुक्षु हैं अर्थात् संसार के दुखों से छूटकर मोक्ष को जाना चाहते हैं उनको चाहिए वे किसी बड़ी भारी युक्ति से इस शरीर का त्याग करें कि फिर से अनेक भवों में भ्रमण कराने वाले इस शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध न होवे।

रक्षापोषविधौ जनोस्य वपुषः सर्वः सदैवोद्यतः
कालादिष्टजरा करोत्यनुदिनं तज्जर्जरं चानयोः।
स्पर्द्धामाश्रितयोर्द्वयोर्विजयनी सैका जरा जायते
साक्षात्कालपुरस्सरा यदि तदा कास्था स्थिरत्वे नृणाम् ॥८॥

---

१. ख. पुस्तक में 'घाताद्यतो निष्ठुरात्' यह भी पाठ है।

अर्थ—यह मनुष्य तो इस शरीर की रक्षा करने में तथा पोषण करने में सदा लगा रहता है परन्तु काल की आज्ञाकारिणी दासी यह वृद्धावस्था सदा उस शरीर को जर्जरित अर्थात् छिन्न-भिन्न करती रहती है और आपस में ईर्ष्या, द्वेष करने वाले ऐसे इन जन्म-मरणों के मध्य में काल है आगे जिसके ऐसी सबको जीतने वाली यह वृद्धावस्था मौजूद है तो यह शरीर सदा काल रहेगा ऐसा मनुष्यों को क्या दृढ़ विश्वास है?।

भावार्थ—यदि इस शरीर को रात-दिन उजाड़ने वाली यह काल की दासी वृद्धावस्था न होती तब तो मनुष्यों का नाना प्रकार से इस शरीर की रक्षा करना, दूध, दही, घी आदि स्निग्ध पदार्थों से और इत्र, फुलेल, सुगंध लगाकर इस शरीर का पोषण करना व्यर्थ न होता। मनुष्य तो सदा इस शरीर का रक्षण करता रहता है और सदा ही इसका पोषण करता रहता है तो भी यह दुष्टा जरा उसको उजाड़ती ही रहती है। इसलिए सदा किया हुआ भी रक्षण तथा पोषण इस शरीर का व्यर्थ ही हो जाता है और यदि परस्पर में ईर्ष्या रखने वाले जन्म-मरण के मध्य में सबको जीतने वाली और जिसके आगे काल मौजूद है ऐसी वृद्धावस्था न होती तब तो मनुष्यों को, यह शरीर सदा काल रहेगा कभी भी नाश नहीं होगा ऐसा विश्वास करना उचित होता लेकिन काल की दासी सभी को जीतने वाली वृद्धावस्था तो जन्म-मरणों के बीच में बैठी हुई है। इसलिए क्या निश्चय है कि यह शरीर सदा काल रहेगा। इसलिए जो मनुष्य वास्तविक तत्त्व के स्वरूप को जानने वाले हैं उनको चाहिए कि वे इस शरीर को स्थिर समझकर व्यर्थ इसकी रक्षा तथा पोषण न करें और यह स्थिर है यह भी न मानें।

इति श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिका में
शरीराष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥२४॥

२५.
स्नानाष्टक

(शार्दूलविक्रीडित)

सन्माल्यादि यदीयसन्निधिवशादस्पृश्यतामाश्रयेद्
विण्मूत्रादिभृतं रसादिघटितं बीभत्सु यत्पूति च।
आत्मानं मलिनं करोत्यपि शुचिं सर्वाशुचीनामिदं
संकेतैकगृहं नृणां वपुरपां स्नानात् कथं शुद्ध्यति ॥१॥

अर्थ—जिस शरीर के सम्बन्ध मात्र से ही उत्तम सुगंधित पुष्पों की बनी हुई माला भी स्पर्श करने योग्य नहीं रहती है। जो शरीर विष्टा, मूत्र आदिक से चौतरफा भरा हुआ है, अनेक प्रकार के रस आदिकों से बना हुआ है, अत्यन्त भय का करने वाला है तथा दुर्गंध से व्याप्त है और जो शरीर अत्यन्त पवित्र भी आत्मा को मलिन कर देता है, समस्त संसार में जितने भी अपवित्र पदार्थ हैं उनका संकेत घर है, ऐसा यह मनुष्यों का शरीर जल के स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है?

भावार्थ—अनेक मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह शरीर स्नान करने से पवित्र होता है लेकिन यह सर्वथा उनकी भूल ही है क्योंकि जो मनोहर पुष्पों की माला सुगंधित तथा उत्तम होती है वह माला भी इस शरीर के सम्बन्ध से ही ऐसी हो जाती है कि और की तो क्या बात ? उसका स्पर्श भी नहीं किया जाता है और स्वयं यह शरीर विष्टा, मूत्रादि निकृष्ट पदार्थों का भंडार है तथा अनेक प्रकार के रसों से भरा हुआ है और अत्यन्त भयंकर तथा दुर्गंधमय है। यद्यपि आत्मा पवित्र है लेकिन यह शरीर उस आत्मा को भी अपवित्र बना लेता है और जितने भी संसार में अपवित्र पदार्थ हैं उन सबका स्थान यह शरीर ही है। इसलिए ऐसा निकृष्ट शरीर कैसे जल से शुद्ध हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता।

आत्मातीव शुचिःस्वभावत इति स्नानं वृथास्मिन् परे
कायश्चाशुचिरेव तेन शुचितामभ्येति नो जातुचित्।
स्नानस्योभयथेत्यभूद्विफलता ये कुर्वते तत्पुनः
तेषां भूजल कीटकोटिहननात्पापाय रागाय च॥२॥

अर्थ—आत्मा तो स्वभाव से अत्यन्त पवित्र है। इसलिए इस आत्मा के पवित्र करने के लिए

स्नान करना व्यर्थ ही है और शरीर सर्वथा अपवित्र ही है। यह कदापि पवित्र हो नहीं सकता इसलिए इस शरीर के पवित्र करने के लिए भी वह स्नान बिना प्रयोजन का ही है अतः दोनों प्रकार से स्नान विफल ही है ऐसा सिद्ध हुआ। इसलिए ऐसा निश्चय होने पर भी जो पुरुष स्नान को करते हैं उन मनुष्यों द्वारा किया हुआ वह स्नान करोड़ों पृथ्वी काय के तथा जल काय के जीवों के नाश होने से पाप तथा राग के लिए ही होता है।

भावार्थ—यह बात विचार करने योग्य है कि मनुष्य जो स्नान करते हैं वे किस चीज की शुद्धि के लिए स्नान करते हैं। कहोगे यदि आत्मा की शुद्धि के लिए स्नान करते हैं तो उनका स्नान करना सर्वथा व्यर्थ ही है क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही अत्यन्त शुद्ध है और जो स्वभाव से शुद्ध होता है उस को शुद्ध करने वाले दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। यदि कहोगे कि शरीर की शुद्धि के लिए स्नान करते हैं तो भी स्नान करना सर्वथा निरर्थक ही है क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा अशुद्ध होता है वह कदापि शुद्ध हो ही नहीं सकता जिस प्रकार कोयला कभी भी सफेद नहीं हो सकता। शरीर सर्वथा अशुद्ध है इसलिए उसकी शुद्धता स्नान से हो नहीं सकती। इसलिए स्नान शरीर तथा आत्मा दोनों के लिए सर्वथा विफल ही है किन्तु जो मनुष्य ऐसा समझकर भी स्नान करते हैं वे लोग पाप का ही संचय करते हैं क्योंकि स्नान के करने से पृथ्वीकाय के तथा जलकाय के जीवों का विध्वंस होता है और जीवों के विध्वंस से पाप होता ही है यह बात सर्वसम्मत है तथा स्नान के करने से राग भी बढ़ता है। इसलिए मनुष्यों को यह कभी भी नहीं समझना चाहिए कि स्नान शरीर तथा आत्मा की शुद्धि के लिए होता है किन्तु यत्किंचित् बाह्य शुद्धि के लिए ही होता है।

चित्ते प्राग्भवकोटिसंचितरजः संबंधिताविर्भवन्-
मिथ्यात्वादिमलव्यपायजनकः स्नानं विवेकः सताम्।
अन्यद्वारिकृतं तु जन्तुनिकरव्यापादनात्पापकृत्
नो धर्मो न पवित्रता खलु ततः काये स्वभावाशुचौ ॥३॥

अर्थ—पूर्व भवों में उपार्जन किए हुए जो करोड़ों पाप उनके सम्बन्ध से प्रकट हुए जो मिथ्यात्वादिक मल उनके नाश को करने वाला सज्जनों के चित्त में जो विवेक है वही स्नान है किन्तु इससे भिन्न जो जल से किया हुआ स्नान है वह अनेक जीवों के विध्वंस करने वाला होने से पाप का ही करने वाला है क्योंकि स्वभाव से ही अपवित्र इस शरीर में न तो स्नान से ही पवित्रता हो सकती है और न धर्म ही हो सकता है।

भावार्थ—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है और निर्मलता उसी समय हो सकती है जिस समय समस्त मलों का नाश हो जावे। जल से किया हुआ जो स्नान है उससे निर्मलता नहीं होती है किन्तु मलों की (पापों की) ही उत्पत्ति होती है क्योंकि जल स्नान के होने पर अनेक जीवों का विध्वंस होता है और उससे पाप की उत्पत्ति होती है किन्तु सज्जनों के चित्त में जो हिताहित का विवेक है वही स्नान है। वही

स्नान सर्व भवों में उपार्जन किए हुए जो करोड़ों पाप उन पापों से उत्पन्न हुआ जो मिथ्यात्व आदिक मल उस मल का सर्वथा नाश करने वाला है। इसलिए जो मनुष्य स्नान से शुद्धि मानते हैं उनके चित्त में जो हिताहित का विवेक है वह विवेक ही परमशुद्धि का कारण स्नान है ऐसा भलीभाँति समझना चाहिए।

सम्यग्बोधविशुद्धवारिणि लसत्सद्दर्शनोर्मिव्रजे
नित्यानंदविशेषशैत्यसुभगे निश्शेषपापद्रूहि।
सत्तीर्थे परमात्मनामनि सदा स्नानं कुरुध्वं बुधाः
शुद्ध्यर्थं किमु धावत त्रिपथगामालाप्रयासाकुलः॥४॥

अर्थ—भो भव्य जीवो! जिसमें सम्यग्ज्ञानरूपी अत्यन्त निर्मल जल मौजूद है तथा जिसमें देदीप्यमान अनेक तरंगें विद्यमान हैं और सदा आनंद को देने वाली उत्तम शीतलता से मनोहर है। जो समस्त पापों का नाश करने वाला है ऐसे इस परमात्मा नामक उत्तम तीर्थ में ही सदा स्नान करो। अनेक प्रकार के प्रयत्नों से व्याकुल होकर क्यों शुद्धता के लिए प्रयाग आदिक तीर्थों में, गंगा आदिक नदियों पर भटकते फिरते हो ?

भावार्थ—बहुत से भोले प्राणी शुद्धि के अर्थ स्नान के लिए प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों पर भटकते फिरते हैं किन्तु परम करुणा के धारी आचार्य उन पर करुणाकर उपदेश देते हैं कि यदि तुम शुद्धि के लिए तीर्थ में स्नान करने की इच्छा रखते हो तो तुम इस परमात्मारूपी उत्तम तीर्थ में ही स्नान करो क्योंकि जिस प्रकार प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों का जल रहता है उसी प्रकार इस परमात्मारूपी तीर्थ में भी सम्यग्ज्ञानरूपी उत्तम पवित्र जल मौजूद है, जिस प्रकार प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों का जल मनोहर लहरों से सहित होता है उसी प्रकार इस परमात्मा रूपी तीर्थ में भी सम्यग्दर्शन आदि उत्तम तरंगों का समूह मौजूद है तथा जिस प्रकार प्रयाग आदि तीर्थ गंगा आदि नदियों के जलसे शीतल रहते हैं उसी प्रकार यह परमात्मा रूपी तीर्थ भी सदा जो आनंद विशेष वही हुई शीतलता उससे मनोहर है तथा यह आत्मारूपी तीर्थ समस्त पापों का नाश करने वाला है अर्थात् जो पुरुष उसमें गोता लगाने वाले हैं, उनकी आत्मा के साथ किसी प्रकार के कर्म मल का सम्बन्ध नहीं रहता है। इसलिए यही समस्त तीर्थों में उत्तम तीर्थ है किन्तु जो वास्तविक तीर्थ नहीं केवल तीर्थ के समान मालूम पड़ते हैं ऐसे प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों पर तुम क्यों व्यर्थ स्नान करते हो।

नो दृष्टः शुचितत्त्वनिश्चयनदो न ज्ञानरत्नाकरः
पापैः क्वापि न दृश्यते च समतानामातिशुद्धा नदी।
तेनैतानि विहाय पापहरणे सत्यानि तीर्थानि ते
तीर्थाभाससुरापगादिषु जडा मज्जंति तुष्यंति च ॥५॥

अर्थ—मूर्ख लोगों ने अपने पापों तथा दुर्भाग्यों की कृपा से न तो पवित्र निश्चयरूपी तालाब को देखा है और न ज्ञानरूपी समुद्र पर भी उनकी नजर पड़ी है तथा कहीं पर उन्होंने समतारूपी शुद्ध नदी को भी नहीं देखा है। इसीलिए वे मूर्ख पुरुष पापों के सर्वथा नाश करने वाले इन पवित्र तीर्थों को छोड़कर जो वास्तविक तीर्थ नहीं हैं तीर्थाभास अर्थात् तीर्थों के समान मालूम पड़ते हैं ऐसे गंगा आदि तीर्थों में स्नान करते हैं और स्नान करके अपने को अत्यन्त संतुष्ट मानते हैं।

भावार्थ—यदि निश्चयनय से देखा जावे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी नदी में भलीभाँति स्नान करने से समस्त पापों का नाश होता है किन्तु इनसे भिन्न नदियों में स्नान करने से थोड़े भी पापों का नाश नहीं होता। किन्तु जो पुरुष पापी हैं मूर्ख हैं इसलिए अपने पापों की तीव्रता से अथवा दुर्भाग्य से जिन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी तालाब को नहीं देखा है तथा सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्र भी जिनकी नजर में नहीं पड़ा है और अत्यन्त शुद्ध समता रूपी नदी की ओर जो झाँककर भी नहीं देख सकते हैं वे ही ऐसे समस्त पापों के नाश करने वाले पवित्र तीर्थों को छोड़कर सदा पाप के संचय करने वाले तथा जो तीर्थ नहीं है (तारने वाले नहीं हैं) किन्तु उल्टे संसार में डुबोने वाले होने के कारण तीर्थ के समान मालूम पड़ते हैं ऐसे गंगा, त्रिवेणी आदि तीर्थों को ही उत्तम तीर्थ मानकर उनमें स्नान करते हैं तथा उनमें स्नान कर अपने को संतुष्ट मानते हैं तथा कृतकृत्य मानते हैं। यह बड़ी भारी भूल है, इसलिए जो सर्वथा पापों का नाश करना चाहते हैं सुखी होना चाहते हैं उनको चाहिए कि वे समस्त पापों के नाश करने वाले तथा परम पवित्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी नदियों में ही स्नान करें और इन्हीं को परम तीर्थ समझें किन्तु इनसे भिन्न गंगा आदि नदियों की ओर झाँककर भी नहीं देखें और उनको तीर्थ न समझकर सर्वथा तीर्थाभास ही समझें।

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यस्ति तत्
निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुद्ध्यति।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः
शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम्॥६॥

अर्थ—यह मनुष्यों का शरीर अत्यन्त अपवित्र है तथा सदा आधि, व्याधि, जरा, मरण आदिक उपाधियों से व्याप्त है और सदा ताप का करने वाला है तथा सज्जन पुरुष इसका नाम श्रवण भी नहीं कर सकते ऐसा यह मनुष्यों का शरीर है। इसलिए इस शरीर के शुद्ध करने में न तो कोई उत्तम तीर्थ इस संसार में है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धि का करने वाला जल है तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नहीं है जो इस शरीर को वास्तविक रीति से शुद्ध कर सके।

भावार्थ—बहुत से भोले मनुष्य इस अत्यन्त अपवित्र शरीर की वास्तविक दशा को न जानकर दूसरों के कहने, सुनने से प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों में स्नान कर इसको पवित्र समझ लेते हैं तथा कोई-कोई कुआँ आदि के जल को ही गंगा आदि का जल मानकर तथा उस जलसे स्नान

कर इसको पवित्र समझ लेते हैं तथा कोई तीर्थ जल से भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीर को पवित्र मान लेते हैं किन्तु आचार्यवर कहते हैं कि यह उन मनुष्यों की बड़ी भारी भूल है। यह शरीर इतना अपवित्र है कि इसके बराबर संसार में कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेक प्रकार की आधि, ज्वर आदिक, व्याधि, वृद्धावस्था, मरण आदि दुखों का घर है अर्थात् इसी के सम्बन्ध से मनुष्यों को आधि, व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवों को अनेक प्रकार के संतापों का भी करने वाला है इसलिए ऐसे निकृष्ट इस शरीर के पवित्र करने के लिए इस संसार में न तो कोई तीर्थ है तथा कोई जल भी नहीं है तथा इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो इस शरीर को पवित्र कर सके। इसलिए सज्जनों को चाहिए कि वे प्रयाग आदि तीर्थों को तथा गंगा आदि नदियों के जलों को और रज आदि दूसरी वस्तुओं को भी इस सर्वथा अपवित्र शरीर की शुद्धि में कारण न समझें किन्तु इनको उलटे अपवित्र करने वाले ही समझें।

सर्वैस्तीर्थजलैरपि प्रतिदिनं स्नातं न शुद्धं भवेत्
कर्पूरादिविलेपनैरपि सदा लिप्तं च दुर्गंधभृत्।
यत्नेनापि च रक्षितं क्षयपथप्रस्थायि दुःखप्रदं
यत्तस्माद्वपुषः किमन्यदशुभं कष्टं च किं प्राणिनाम्॥७॥

अर्थ—संसार में जितने प्रयाग आदि तीर्थ हैं तथा जितनी उन तीर्थों में गंगा आदिक विशाल-विशाल नदियां हैं। यदि उन सब नदियों के जल से धोया भी जावे तो भी यह शरीर शुद्ध नहीं हो सकता। तथा अत्यन्त सुगन्धित कपूर आदि पदार्थों से भी यदि इसके ऊपर लेप किया जावे तो भी यह सुगन्धयुक्त नहीं होता। किन्तु उलटा दुर्गंधयुक्त ही हो जाता है और इसकी अनेक प्रकार से रक्षा की जाये तो भी यह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तथा यह शरीर नाना प्रकार के दुखों को देने वाला है। इसलिए जीवों को इस शरीर से अधिक न तो कोई अशुभ है तथा कष्ट का देने वाला भी कोई नहीं है।

भावार्थ—बहुत से मनुष्य यह समझते हैं कि जल से स्नान करने पर यह शरीर शुद्ध हो जायेगा किन्तु आचार्य इस बात का उपदेश देते हैं कि अरे भाई थोड़े से जल की तो क्या बात है यदि समस्त तीर्थों के जलसे भी इस शरीर को धोया जावे तो भी यह रंचमात्र भी शुद्ध नहीं होता तथा बहुत से यह जानते हैं कि अतर, फुलेल, कपूर आदिक से लिप्त करें तो यह सुगंधि युक्त हो जायेगा किन्तु आचार्य इस बात को पुकार-पुकार कर कहते हैं कि इस दुर्गंधित शरीर में चाहे जितना अतर लगाया जाय। चाहे जितना फुलेल लगाया जाये और कपूर भी खूब लगाया जाये, तो भी यह शरीर अंशमात्र भी सुगंधित नहीं हो सकता किन्तु उल्टा और दुर्गंधमय ही होता चला जाता है तथा बहुत से मनुष्य यह समझते हैं कि यह हमारा शरीर सदा काल कायम रहे इसलिए वे इसके लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं। इसकी रक्षा के उपायों को सोचते हैं तो भी जिस प्रकार बिजली क्षण मात्र में चमक कर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार यह शरीर भी क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है तथा शरीर से ही मनुष्यों को इस संसार में नाना

प्रकार के दुखों का सामना करना पड़ता है। इसलिए संसार में इस शरीर से अधिक न तो कोई प्राणियों के लिए अशुभ पदार्थ है और न कोई उनको इस शरीर से अधिक कष्ट का ही देने वाला है। इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे न तो इस शरीर को जल आदि से शुद्ध मानें और इत्र, फुलेल, कपूर आदि से सुगंधित भी न समझें तथा इसको क्षण भर में विनाशीक समझकर इसकी रक्षा का भी उपाय न करें। नहीं तो उनको पीछे जरूर ही पछताना पड़ेगा।

भव्या भूरिभवार्चितोदितमहादृङ्मोहसर्पोल्लसन्
मिथ्याबोधविषप्रसंगविकला मंदीभवद्दृष्टयः।
श्रीमत्पंकजनंदिवक्त्रशशिभृद्बिंबप्रसूतं परं
पीत्वा कर्णपुटैर्भवंतु सुखिनः स्नानाष्टकाख्यामृतम् ॥८॥

अर्थ—अनेक भवों में जिसका उपार्जन किया गया है ऐसा जो प्रबल दर्शनमोहरूपी महा सर्प उसके काटने से तमाम शरीर में फैला हुआ जो मिथ्यात्वरूपी विष उसके सम्बन्ध से जो अत्यन्त दुःखित हैं तथा जिनका सम्यग्दर्शन मंद हो गया है ऐसे जो मनुष्य हैं वे श्रीमान् पद्मनंदि आचार्य के मुख रूपी चन्द्रमा से निकला हुआ जो यह स्नानाष्टकरूपी अमृत है उसको अपने कानों से पीकर सुखी होवें।

भावार्थ—जिस समय किसी मनुष्य को काला नाग काट लेता है उस समय उसको बड़ा दुख होता है तथा समस्त शरीर में विष के फैल जाने से उस मनुष्य की दृष्टि बंद हो जाती है। यदि वही मनुष्य कहीं से अमृत का पान करने से उसका विष सर्वथा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इन जीवों को भी अत्यन्त भयंकर तथा बलवान् दर्शन मोहरूपी सर्प ने काट लिया है तथा दर्शनमोहरूपी सर्प के काटने से इनकी आत्मा में मिथ्यात्वरूपी विष का फैलाव हो गया है। इसलिए ये अत्यन्त दुखी हैं तथा इनकी सम्यग्दर्शनरूपी दृष्टि भी बंद हो रही है। इसलिए आचार्यवर इनको उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवो! यदि उस विष का नाशकर तुम सुखी होना चाहते हो तो यह काम करो कि श्रीमान् मुनि पद्मनंदि के (हमारे) मुखरूपी चन्द्रमा से निकले हुए इस स्नानाष्टकरूपी अमृत का पान करो जिससे तुम सुखी हो जावो तथा तुम्हारे ऊपर मोहरूपी सर्प के काटने से उत्पन्न हुआ जो मिथ्यात्वरूपी विष है वह सर्वथा नष्ट हो जावे।

इस प्रकार श्रीपद्मनंदि द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिका नामक ग्रंथ में स्नानाष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥२५॥

२६.
ब्रह्मचर्याष्टक

(द्रुतविलम्बित)

भवविवर्धनमेव यतो भवेदधिकदु:खकरं चिरमङ्गिनाम्।
इति निजांगनयापि न तन्मतं मतिमतां सुरतं किमतोन्यथा॥१॥

अर्थ—जिस मैथुन के करने से संसार की ही वृद्धि होती है तथा जो मैथुन समस्त जीवों को अत्यन्त दुख का देने वाला है इसलिए सज्जन पुरुषों ने उसको अपनी स्त्री के साथ करना भी ठीक नहीं माना है वे सज्जन दूसरी स्त्रियों से अथवा अन्य प्रकार से उसको कैसे अच्छा मान सकते हैं ?

भावार्थ—मैथुन के करने से अनेक प्रकार के कीड़ों का विघात होता है तथा विघात से हिंसा होती है और हिंसा से कर्मों का बंध होता है तथा कर्मों के बंध से इस पंच परावर्तनरूप संसार में घूमना पड़ता है। इसलिए मैथुन के करने से केवल संसार की वृद्धि ही है तथा मैथुन के करने से मनुष्यों को नाना प्रकार के दुखों का सामना करना पड़ता है। इसलिए मैथुन समस्त जीवों को अधिक दुख का देने वाला है ऐसा भलीभाँति समझकर जिन सज्जन पुरुषों ने उस मैथुन को अपनी स्त्री के साथ भी करना अनुचित समझा है वे सज्जन पुरुष दूसरी स्त्रियों से तथा अन्य प्रकार से मैथुन करना कैसे योग्य समझ सकते हैं।

पशव एव रते रतमानसा इति बुधै: पशुकर्म तदुच्यते।
अभिधया ननु सार्थकयानया पशुगति: पुरतोस्य फलं भवेत्॥२॥

अर्थ—जो मनुष्य मैथुन करने के अत्यन्त अभिलाषी हैं वे साक्षात् पशु ही हैं क्योंकि जो वास्तविक रीति से पदार्थों के गुण-दोषों को विचारने वाले हैं ऐसे बुद्धिमानों ने इस मैथुन को पशु कर्म कहा है सो इस मैथुन को पशु कर्म कहना सर्वथा ठीक ही है क्योंकि मैथुन करने वाले मनुष्यों को मैथुन कर्म से आगे पशुगति ही होती है।

भावार्थ—मैथुन को विद्वान् लोगों ने पशु कर्म इसलिए कहा है कि जिस प्रकार पशुओं का कार्य, हित तथा अहित से रहित होता है उसी प्रकार इस मैथुन में भी मनुष्य बिना इसके गुण, दोष विचारे ही प्रवृत्त हो जाता है। इसलिए इस प्रकार के मनुष्य जो कि सदा मैथुन की ही इच्छा करने वाले हैं और उसमें उत्तरोत्तर अभिलाषा को बढ़ाते ही जाते हैं वे साक्षात् पशु ही हैं तथा विद्वान् लोगों ने जो इस मैथुन

को पशुकर्म संज्ञा दी है सो बिल्कुल ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य बड़ी लालसापूर्वक इस मैथुन कर्म के करने वाले हैं उनको आगे जाकर इस मैथुन कर्म का फल पशुगति की प्राप्ति ही है।

यदि भवेदबलासु रतिः शुभा किल निजासु सतामिह सर्वथा।
किमिति पर्वसु सा परिवर्जिता किमिति वा तपसे सततं बुधैः॥३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सज्जन पुरुषों को यदि अपनी स्त्रियों के साथ मैथुन कर्म करना शुभ होता तथा उत्तम फल का देने वाला होता तो वे अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में अपनी स्त्री का त्याग क्यों कर देते तथा तप के समय भी उन अपनी स्त्रियों को विद्वान् लोग क्यों छोड़ देते।

भावार्थ—जैन शास्त्रों में अष्टमी, चतुर्दशी पर्वों का बड़ा भारी माहात्म्य माना गया है तथा जिन-जिन भव्यजीवों ने इन पर्वों में यथायोग्य व्रतों का पालन किया है। उनको अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम फलों की प्राप्ति भी हुई है। इसलिए उत्तम फल के अभिलाषी सज्जन पुरुष इन पर्वों में यथायोग्य भलीभाँति व्रतों का आचरण करते हैं। जिस समय ये सज्जन पुरुष अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में उपवास आदि व्रतों को धारण करते हैं उस समय वे पर स्त्रियों का त्याग तो करते ही हैं किन्तु अपनी स्त्रियों का भी सर्वथा त्यागकर देते हैं। इसी युक्ति को लेकर आचार्य उपदेश देते हैं कि हे अत्यन्त निकृष्ट मैथुन कर्म के अभिलाषी पुरुष को अपनी स्त्रियों में की हुई प्रीति अथवा उनके साथ किया हुआ मैथुन शुभफल का देने वाला होता तो सज्जन पुरुष पर्वों में उपवास, व्रतों को धारण करते समय स्त्रियों का क्यों सर्वथा त्याग कर देते? इसलिए मालूम होता है कि अपनी स्त्रियों के साथ भी किया हुआ मैथुन किसी प्रकार के शुभ फल का देने वाला नहीं है तथा जिस समय सज्जन पुरुष संसार में कामभोग आदि से विरक्त होकर तप को जाते हैं उस समय सर्वथा स्त्रियों का त्याग करके ही जाते हैं। बताओ यदि स्त्रियों के साथ मैथुन करने से जरा भी शुभ फल की प्राप्ति होती तो सज्जन पुरुष तप के समय अपनी स्त्रियों को साथ क्यों नहीं ले जाते? इसलिए साफ मालूम होता है कि मैथुन करने से उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती।

रतिपतेरुदयान्नरयोषितोरशुचिनोर्वपुषोः परिघट्टनात्।
अशुचि सुष्ठुतरं तदितो भवेत्सुखलवे विदुषः कथमादरः॥४॥

अर्थ—जिस समय काम की उत्पत्ति होती है उस समय काम की उत्पत्ति से अत्यन्त अपवित्र दोनों शरीरों का आपस में परिघट्टन अर्थात् रगड़ना होता है तथा उस परिघट्टन से अत्यन्त अपवित्र फल की प्राप्ति होती है। इसलिए थोड़े से सुख की प्राप्ति के लिए विद्वान् लोग कैसे उस मैथुन में आदर कर सकते हैं ? कभी भी नहीं कर सकते।

भावार्थ—यह नियम है कि कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है। यदि कारण अच्छा होवे तो कार्य भी उससे अच्छा ही उत्पन्न होता है और यदि कारण खराब होवे तो कार्य भी उससे खराब

ही उत्पन्न हुआ देखने में आता है। मैथुन उस समय होता है जिस समय कामी दोनों स्त्री, पुरुषों को काम की अतितीव्रता होती है तथा तीव्रता के होने पर जब उन दोनों के अत्यन्त अपवित्र शरीरों का आपस में मिलाप होता है। इसलिए जब दोनों अपवित्र शरीरों का मिलाप ही मैथुन की उत्पत्ति में कारण पड़ा, तो समझना चाहिए कि मैथुन का एक अत्यन्त खराब फल है। इसलिए इस प्रकार के मैथुन से उत्पन्न हुए थोड़े सुख में विद्वान् लोग कैसे आदर कर सकते हैं? अर्थात् कभी भी नहीं कर सकते।

अशुचिनि प्रसभं रतकर्मणि प्रतिशरीर[१]रतिर्यदपि स्थिता।
चिदरिमोहविजृंभणदूषणादियमहो भवतीति निषेधिता॥५॥

अर्थ—काम के वशीभूत होकर बलात्कार से अत्यन्त अपवित्र मैथुन कर्म के होने पर कामी स्त्री, पुरुषों के शरीर में उत्पन्न हुई यह काम सम्बन्धी प्रीति चैतन्य का बैरी जो मोह उसके फैलाव के दूषण से होती है। इसलिए यह काम की प्रीति सर्वथा निषिद्ध मानी गई है।

भावार्थ—जब तक इस आत्मा में मोहनीय कर्म की प्रबलता रहती है तब तक वास्तविक चैतन्यस्वरूप आत्मा प्रकट नहीं होता क्योंकि आत्मा का जो वास्तविक चैतन्यस्वरूप है, उसका यह मोहनीय कर्म प्रबल बैरी संसार में है और यह जो रति उत्पन्न होती है सो इस मोहनीय कर्म की प्रबलता से ही होती है क्योंकि काम के वशीभूत होकर जब दोनों स्त्री, पुरुष परस्पर में स्नेहरूपी रस्सी में बंध जाते हैं तथा स्नेहरूपी रस्सी में बंधकर जब वे मैथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं उस समय उन दोनों के शरीर में यह काम संबंधी रति स्थित होती है। इसलिए इस रति की उत्पत्ति आत्मा के वास्तविक चैतन्य के बैरी मोह के फैलाव से ही होती है। इसलिए सर्वथा वास्तविक वस्तु के स्वरूप से हटाने वाली इस रति का निषेध विद्वान् लोगों ने किया है।

निरवशेषयमद्रुमखण्डने शितकुठारहतिर्ननु मैथुनम्।
सततमात्महितं शुभमिच्छता परिहतिविधिनास्य विधीयते॥६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह मैथुन कर्म समस्त संयमरूपी वृक्ष के खंडन करने में तीक्ष्ण कुठार की धारा के समान है। इसलिए जो मनुष्य निर्मल अपनी आत्मा के हित के करने वाले हैं वे इसका सर्वथा त्याग कर देते हैं।

भावार्थ—पाँच प्रकार के स्थावर जीवों की रक्षा करना है इसी का नाम संयम है। वह संयम मैथुन कर्म में प्रवृत्ति होने पर कदापि नहीं पलता है क्योंकि मैथुन कर्म के करने से अनेक प्रकार के जीवों का विघात होता है और मैथुन करने से किसी प्रकार के आत्मा के हित की प्राप्ति नहीं होती है। इसीलिए जो पुरुष यह चाहते हैं कि हमारी आत्मा का किसी प्रकार से हित होवे वे इस महान् निकृष्ट पाप के करने वाले मैथुन कर्म का सर्वथा त्याग करना चाहिए। अतः आत्म हितैषियों को कदापि इस

---

१. शरीरि।

मैथुन कर्म की ओर ऋजु (सरल) नहीं होना चाहिए किन्तु इसका दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

मधु यथा पिवतो विकृतिस्तथा वृजिनकर्मभृतः सुरते मतिः।
न पुनरेतदभीष्टमिहाङ्गिनां न च परत्र यदायतिदुःखदम्॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीने वाले पुरुष को विकार होते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष पापी हैं, उसकी सदा रति करने में इच्छा रहती है किन्तु यह मद्य जीवों को किसी प्रकार के हित का करने वाला नहीं है तथा दूसरे भव में भी यह अनेक प्रकार के दुखों को देने वाला है।

भावार्थ—जिस प्रकार जो पुरुष सदा मदिरा का पीने वाला है यदि उसको किसी रीति से किसी समय मदिरा न मिले तो उसको अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार जो मनुष्य पापी है अर्थात् मैथुन आदि खराब काम करने में जरा भी भय नहीं करता है। उस मनुष्य को सदा अभिलाषा मैथुन कर्म के करने की ही रहती है किन्तु यह मैथुन कर्म किसी प्रकार के हित का करने वाला नहीं केवल जीवों को नाना प्रकार के अहित का ही करने वाला है तथा आगामीकाल में भी यह जीवों को नाना प्रकार के भयंकर दुखों का देने वाला है। इसलिए परभव में भी किसी प्रकार के सुख की आशा नहीं है। इसलिए जो पुरुष मोक्षाभिलाषी हैं आत्मा के सुख को चाहते हैं उनको चाहिए कि वे कदापि मैथुन कर्म में अपनी प्रवृत्ति को न करें।

रतिनिषेधविधौ यततां भवेच्चपलतां प्रविहाय मनः सदा।
विषयसौख्यमिदं विषसन्निभं कुशलमस्ति न भुक्तवतस्तव॥८॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि जो मनुष्य अपना हित चाहते हैं उनको इस रीति से अपने मन को अच्छी तरह शिक्षा देनी चाहिए कि हे मन तू चपलता को छोड़कर रह तथा रति के निषेध करने में प्रयत्न कर क्योंकि यह विषय सौख्य, विष के समान है और इस विषय सुख को भोगने वाले तेरी किसी प्रकार से कुशल नहीं है।

भावार्थ—जो मनुष्य विष का भक्षण करने वाला होता है उसकी जिस प्रकार संसार में खैर नहीं रहती। उसको अनेक प्रकार के दुखों का सामना करना पड़ता है उसी प्रकार हे मन यह विषय सुख भी जहर के समान है। इसलिए जो तू इसमें सुख मान कर रात-दिन इसके भोग करने में तत्पर रहता है इसमें तेरी खैर नहीं। तुझे नाना प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। इसलिए ऐसा भलीभाँति समझकर हे मन तू अपनी चंचलता को छोड़ दे तथा रतिकर्म के हटाने के लिए सदा जैसे बने वैसे कोशिश कर।

युवतिसंगतिवर्जनमष्टकं प्रति मुमुक्षुजनं भणितं मया।
सुरतरागसमुद्रगता जनाः कुरुत मा क्रुधमत्र मुनौ मयि॥९॥

॥ इति श्रीपद्मनंद्याचार्यविरचितपद्मनंदिपंचविंशतिका समाप्ता॥

अर्थ—जो मनुष्य मुमुक्षु हैं मोक्ष की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उन्हीं मनुष्यों के लिए यह मैंने युवति स्त्रियों के संग को निषेध करने वाला अष्टक का अर्थात् ब्रह्मचर्याष्टक का वर्णन किया है किन्तु जो मनुष्य रागरूपी समुद्र में डूबे हुए हैं वे मुझ (पद्मनंदी) मुनि के ऊपर क्रोध न करें।

इस प्रकार मुनि श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित पद्मनंदिपंचविंशतिका में ब्रह्मचर्याष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥२६॥

इस प्रकार यह श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका का हिन्दीभाषानुवाद समाप्त हुआ ॥